संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ६८

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित द्रव्यसंग्रह की टीका

बृहद् द्रव्यसंग्रह पर आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का उपदेश

दिव्योपदेश

प्रस्तुति

आर्यिका पूर्णमति ससंघ

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

दिव्योपदेश

मूल ग्रन्थ : द्रव्यसंग्रह

मूल ग्रन्थकर्ता : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

टीका ग्रन्थ : बृहद् द्रव्यसंग्रह

उपदेशकर्ता : आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

प्रस्तुति : आर्यिका पूर्णमति ससंघ

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.santshiromani.com

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं० ४५, सेक्टर एफ, इंडस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई–बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार–निहार कर चल पड़े घर–द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा–हमेशा के लिए भव–भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी–आध्यात्मिक–महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी–एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण–शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव स्वामी, आचार्य विद्यानंदि स्वामी, आचार्य पूज्यपाद स्वामी जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित द्रव्यसंग्रह पर ब्रह्मदेव सूरि की विस्तृत संस्कृत टीका पर आचार्य गुरुदेव की वाचना प्रस्तुत है। जिसे परम वंदनीय आर्यिका श्री पूर्णमति माताजी ससंघ ने व्यवस्थित करके पाठकों को उपलब्ध कराने में अहम् भूमिका निभाई है। पूर्व में यह ग्रन्थ धर्मोदय साहित्य प्रकाशन, सागर से तीन बार प्रकाशित हुआ है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशन संस्था का आभार व्यक्त करते हैं। आर्यिकाश्री के चरणों में वंदामि निवेदित करते हुए जैन विद्यापीठ कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

प्राक्कथन

णाणं णरस्स सारं सारं णाणस्स सुद्ध सम्मत्तं।
सम्मत्त सार चरणं सारं चरणस्स णिव्वाणं॥

तीर्थंकर भगवंतों ने अपने पूर्ण ज्ञान के माध्यम से अनादि निधन जिनशासन को समय-समय पर आगे बढ़ाया है, इसी शृंखला में आज से २६०० वर्ष पूर्व अंतिम तीर्थेश श्री वर्धमान स्वामी की दिव्य देशना को गौतमादि गणधरों ने द्वादशांग में गूँथा तदुपरान्त श्री धरसेनाचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, पूज्यपादादि अनेक आचार्य भगवंतों ने कई ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया, उन्हीं ग्रन्थों में छह द्रव्यों का लाक्षणिक शैली में विवेचन करने वाला 'दव्व संगहो' आचार्यवर्य नेमिचन्द्र स्वामी का अनुपम ग्रन्थ है, जो प्राकृत भाषा में निबद्ध है, निश्चय-व्यवहारात्मक उभय दृष्टि से सुंदर सुबोध शैली में विवेचन होने से इसे 'अध्यात्म ग्रन्थ' कहा गया है। 'ब्रह्मदेवसूरि' द्वारा रचित बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका की उत्थानिका में ग्रन्थ रचना का इतिहास स्पष्ट किया गया है कि-मालवदेश की धारानगरी के राजा भोजदेव के काल में (११ वीं शताब्दी) श्रीपाल मण्डलेश्वर के आश्रम में (वर्तमान में केशवराय पाटन नगर) श्री मुनिसुव्रत जिनालय में राजकोष के अधिकारी सोम श्रेष्ठी के ज्ञानार्थ आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने २६ गाथा प्रमाण 'लघु द्रव्यसंग्रह' की रचना की, पुनः विशेष बोधनार्थ ५८ गाथा में द्रव्यसंग्रह की रचना की।

महामनस्वी, परम तपस्वी, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, शुद्धोपयोगी, परम करुणामयी, अध्यात्म सरोवर के अजस्त्र स्त्रोत को बहाने वाले, आचार्य परमेष्ठी श्री विद्यासागरजी महामुनि भगवंत "जो रहते जग में हैं रमते निज में हैं" ऐसे महायतिवर ने शिष्य गणों के कल्याणार्थ बृहद्-द्रव्यसंग्रह का वाचन किया और गुरुदेव ने इस अध्यात्म ग्रन्थ का १९७८ अभाना में वसंततिलका छन्द में व द्वितीय १९९१ मुक्तागिरि में ज्ञानोदय छन्द में पद्यानुवाद भी किया। वे भाग्यशाली हैं जिन्होंने श्रीगुरु के मुख कमल से निःसृत वचनामृत का प्रत्यक्ष श्रवण किया, ज्ञान पिपासा को शमन कर जिज्ञासाओं को भी शांत किया व शंकाओं का समाधान भी पाया किन्तु जो प्रत्यक्ष संयोग न पा सके, वे भी श्रीगुरु के दिव्य वचनों का लाभ ले सकें और छह द्रव्यों में प्रमुख निज शुद्धात्म द्रव्य की पहचान कर अनुभव कर सकें, इन्हीं भावनाओं से गुरुवाणी को संकलन करने का प्रयास किया है।

अहोभाग्य है हमारा जो इस पंचमकाल में भी हमें वर्तमान के 'वर्धमान' सम पूज्य श्री गुरुदेव विद्यासागरजी महाराज के माध्यम से अर्हत् वाणी का सौभाग्य मिला। गुरुदेव के इस दिव्योपदेश में चारों ही अनुयोग झलकते हैं।

मैंने जब प्रथम बार बृहद्द्रव्यसंग्रह की CLASS का संकलित विषय का वाचन किया तब अनेकों स्थल ऐसे आये जहाँ चेतना में अपूर्व पुलकन भरा आत्मीय स्पर्श हुआ, तभी मैंने सोचा .... ऐसा आत्मीय स्पर्श अन्य ज्ञान पिपासु भव्यों को भी हो। अंतर्मना गुरुमुख से निसृत दिव्योपदेश रूपी अध्यात्म सिन्धु की कुछ बिन्दु की झलकियाँ पढ़ियेगा– ''क्षयोपशम की महिमा मत गाओ, स्वभाव की महिमा गाओ'' पृ० ७२।''कर्तृत्व का भाव कर्तव्य से विमुख कर देता है'' पृ० ३८।''साधनों को जुटाते जाओ किन्तु साधनों में उलझने की कोई आवश्यकता नहीं है'' पृ० ७५।''उपयोग को सम्भालना ही सबसे बड़ी साधना है,'' पृ० १२०।''रस का भोजन लेना हेय नहीं है किन्तु भोजन में रस लेना हेय है'' पृ० १७३।''अध्यात्म कला जब तक साधक को नहीं आयेगी तब तक अतीन्द्रिय सुख नहीं होगा'' पृ० २२७।'' कर्म बलवान नहीं कर्ता बलवान है पृ० २२७।''''आत्म तत्त्व ही एक मात्र शरण है'' आदि। इन अध्यात्म सूत्रों से आचार्यश्री जी ने भव्यात्माओं की सुषुप्त चेतना को जगाने के लिए द्रव्यानुयोग रख दिया है।''जिनवाणी तो पढ़ते हैं लेकिन जीवानी नहीं करते'' पृ० १२६। यह चरणानुयोग का सूत्र भव्यों को चारित्रोन्नति का दर्शन कराता है तो कहीं राम–लक्ष्मण, जम्बूस्वामी और प्रभु पार्श्वनाथादि के जीवन का जीवन्त दर्शन कराकर प्रथमानुयोग को रख दिया है। करणानुयोग का भरपूर वर्णन करके परिणामों की परिणति को सुधारने का पथ प्रशस्त किया है।

इस दिव्योपदेश के द्वारा अत्यन्त कृपालु आचार्यश्रीजी ने हम जीवों पर अनन्त उपकार किया है, अपने शुद्धोपयोग द्वारा स्वानुभूति रस का रसास्वादन करने वाले गुरुदेव ने कुछ बूँदें हमें देकर कृतार्थ किया है, हम कृतज्ञ हैं, **''हे गुरु मेरे उर बसो''।**

इस संकलन में संघस्थ आर्यिका शुभ्रमतिजी, साधुमतिजी, विशदमतिजी, विपुलमतिजी, मधुरमतिजी, कैवल्यमतिजी व सतर्कमतिजी का पूर्ण सहयोग रहा, अतः साधुवाद के योग्य हैं। ब्र. भरतजी ने भी इस ग्रन्थ को अल्प समय में हमारे हाथों तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है और आचार्य गुरुदेव की तो अनन्त करुणा अनवरत बरस ही रही है, क्योंकि उन्होंने ऐसे पवित्र भावों से समझाया कि हम सब उनकी वाणी को समझ सके।

मुझे भी अत्यधिक प्रसन्नता है कि एक दीर्घकालीन साधना के साधक गुरुदेव की प्रवाहित हुई वचन गंगा में से कुछ अंजुलियाँ भरकर आप तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। विश्वास है पाठकगण इस पावन एवं तपःपूत जल से अपनी आत्मा को निर्मल करने का प्रयास करेंगे।

आशा है 'दिव्योपदेश' कृति के प्रकाशन से अध्येताओं का सम्यक् पथ प्रशस्त होगा।

गुरुदेव के पावन मुक्तिगामी श्री चरणों में इस आत्मा के असंख्यातप्रदेश प्रमाण नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु....।

आर्यिका पूर्णमति

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

१.	मंगलाचरण	३
२.	जीव द्रव्य का अधिकार	२६
३.	जीव का लक्षण	५१
४.	उपयोग के भेद	६२
५.	ज्ञानोपयोग के भेद	६८
६.	जीव का लक्षण	७६
७.	जीव का मूर्तिक-अमूर्तिक रूप	७८
८.	व्यवहारनयापेक्षा जीव के कर्त्तापना	८५
९.	नयापेक्षा जीव के भोक्तापना	९१
१०.	व्यवहार निश्चयनय की अपेक्षा जीव का लक्षण	९५
११.	संसारी जीव के भेद	१०७
१२.	चौदह जीवसमास	१०९
१३.	मार्गणा और गुणस्थान की अपेक्षा जीव के भेद	१११
१४.	सिद्ध भगवान् का स्वरूप	१३५
१५.	अजीव द्रव्य के भेद	१४५
१६.	पुद्गल द्रव्य की पर्यायें	१४७
१७.	धर्म द्रव्य का लक्षण	१४९
१८.	अधर्म द्रव्य का लक्षण	१५०
१९.	आकाश द्रव्य का लक्षण व भेद	१५१
२०.	लोकाकाश व अलोकाकाश का स्वरूप	१५२
२१.	व्यवहार-निश्चयकाल का स्वरूप	१५४
२२.	निश्चयकाल का क्षेत्र व संख्या प्रतिपादन	१५६
२३.	पञ्चास्तिकाय का व्याख्यान	१५८
२४.	पञ्चास्तिकाय का स्वरूप	१५९
२५.	द्रव्यों की प्रदेश संख्या	१६१
२६.	पुद्गल द्रव्य उपचार से अस्तिकाय	१६२
२७.	प्रदेश का लक्षण	१६४

द्वितीय अध्याय

२८.	सात पदार्थों के कहने की प्रतिज्ञा	१७५
२९.	भावास्रव और द्रव्यास्रव का लक्षण	१७८

३०.	भावास्रव का स्वरूप	१८०
३१.	द्रव्यास्रव का स्वरूप	१८२
३२.	भावबन्ध व द्रव्यबन्ध का स्वरूप	१८३
३३.	द्रव्य बन्ध के भेद व कारण	१८४
३४.	भाव संवर और द्रव्य संवर का लक्षण	१८९
३५.	भाव संवर के भेद	१९६
३६.	निर्जरा का लक्षण और भेद	२२४
३७.	मोक्ष तत्त्व का स्वरूप	२२६
३८.	पुण्य व पाप कथन	२२७

तृतीय अध्याय

३९.	व्यवहार निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप	२३१
४०.	आत्मा ही तो निश्चय मोक्षमार्ग का कारण	२३४
४१.	सम्यग्दर्शन का स्वरूप	२३५
४२.	सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	२४५
४३.	दर्शनोपयोग का लक्षण	२४९
४४.	संसारी मुक्त जीवों के उपयोग में अंतर	२५१
४५.	व्यवहारचारित्र का स्वरूप व भेद	२५३
४६.	निश्चयचारित्र का स्वरूप	२५५
४७.	ध्यान करने की प्रेरणा	२५७
४८.	ध्यान करने का उपाय	२५८
४९.	पदस्थ ध्यान का वर्णन	२६५
५०.	अरिहंत का स्वरूप व ध्यान की प्रेरणा	२६९
५१.	सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप व ध्यान की प्रेरणा	२७२
५२.	आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप	२७५
५३.	उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप	२७७
५४.	साधु परमेष्ठी का स्वरूप	२७९
५५.	ध्यान-ध्याता-ध्येय का लक्षण	२८२
५६.	ध्यान का लक्षण	२८४
५७.	ध्यान सामग्री का वर्णन	२८६
५८.	अभिमान का परिहार	२९२
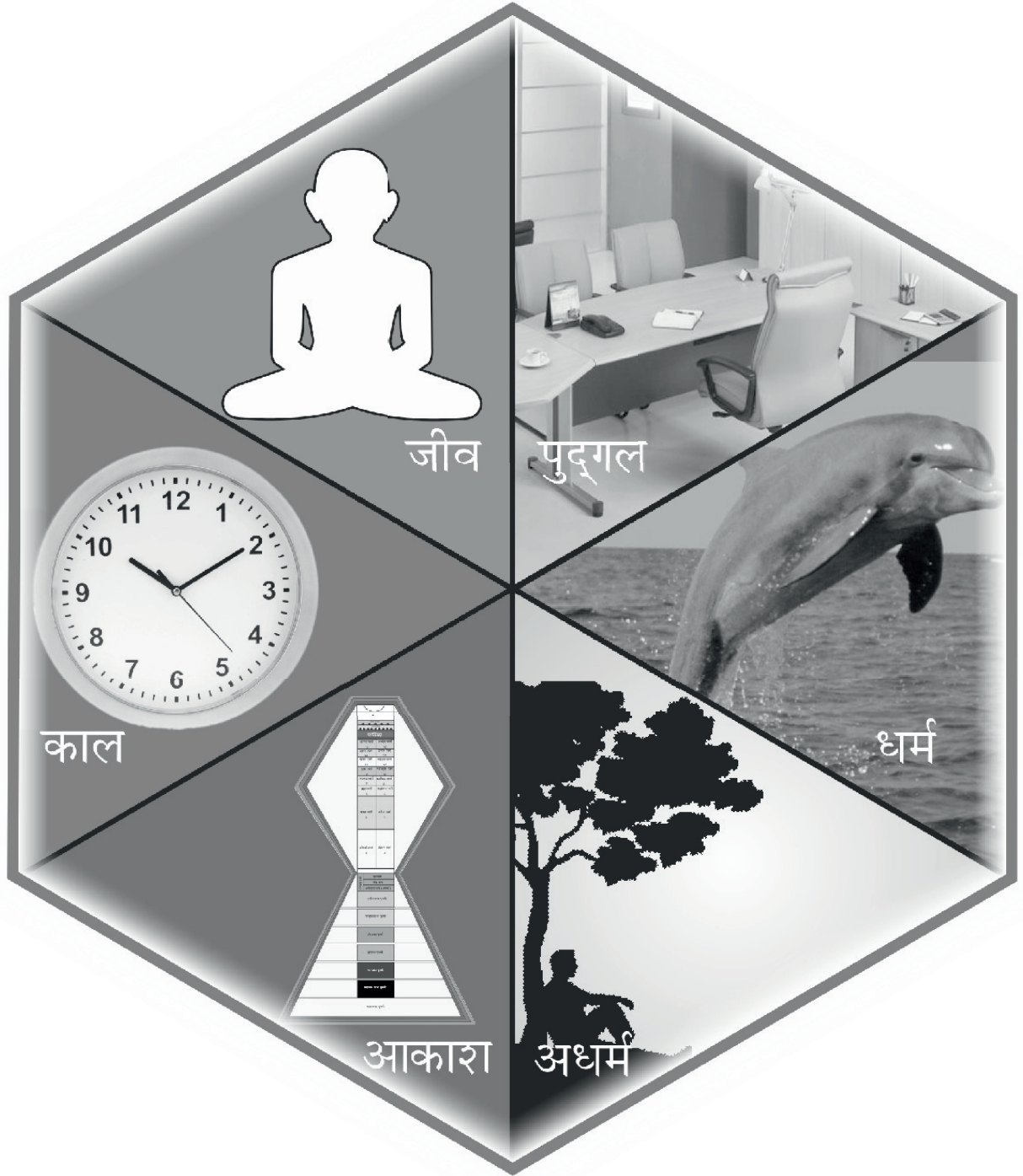
षट् द्रव्य
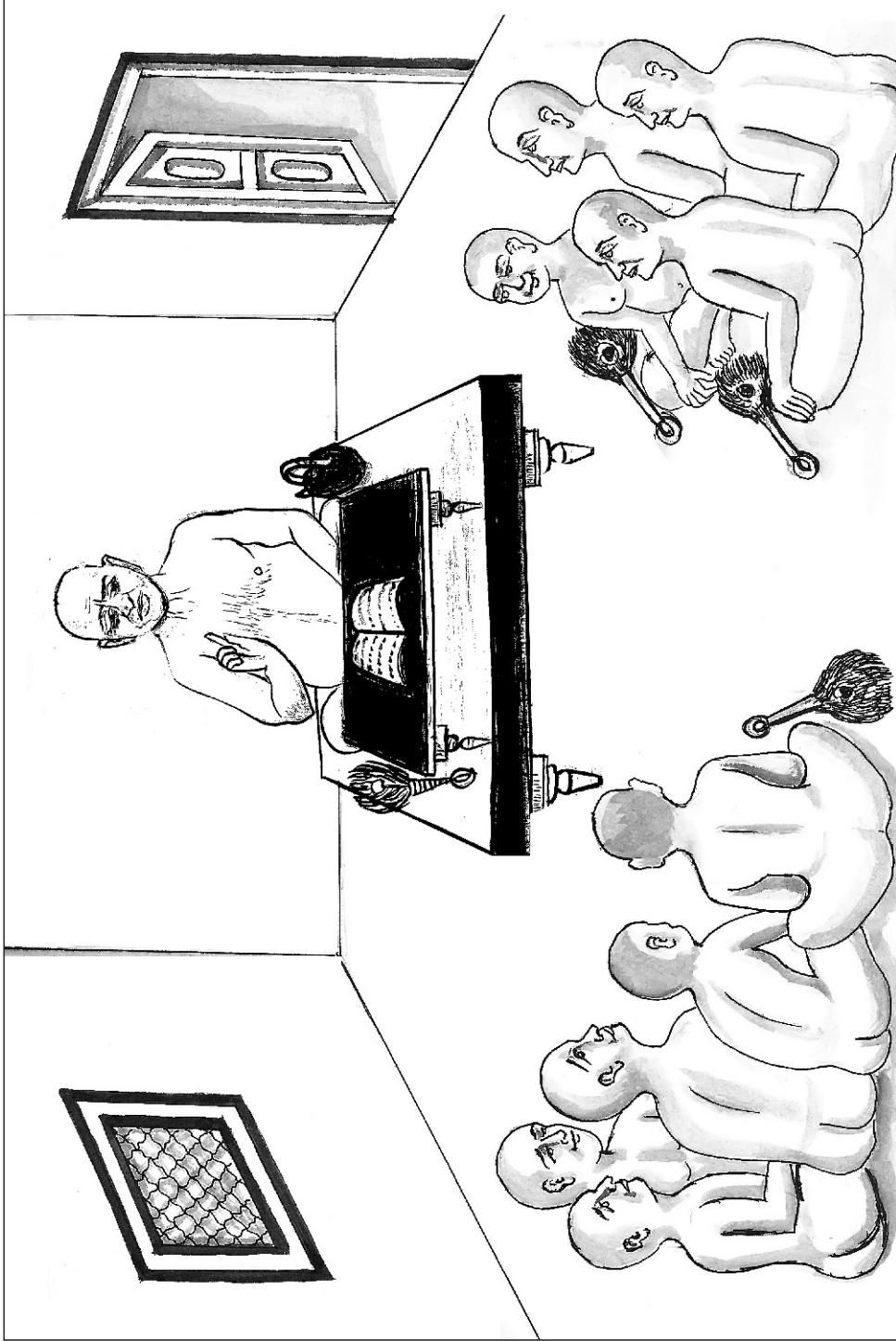
आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज बृहद् द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ कक्षा लेते हुए

भूमिका

जैन समाज में द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ प्रसिद्ध है। मालवा देश में धारा नामक नगर के स्वामी कलिकाल सम्बन्धी राजा भोजदेव, जो श्रीपाल महामण्डलेश्वर थे, उनके 'आश्रम' नामक नगर में श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के चैत्यालय में शुद्ध आत्म तत्त्व की अनुभूति से उत्पन्न सुखरूपी अमृत रस के आस्वादन से विपरीत जो नरकादि सम्बन्धी दुख है, उनके भय से डरा हुआ परमात्मा की भावना से उत्पन्न सुखरूप अमृतरस का पान करने की इच्छा रखने वाला, भेदाभेद रत्नत्रय की भावना रखने वाला भव्यजन शिरोमणि तथा भाण्डागार आदि अनेक कामों का स्वामी ऐसा जो श्री सोम नामक राज श्रेष्ठी था उसके निमित्त से श्री नेमिचन्द्रमुनि ने पहले २६ गाथा सूत्रों से द्रव्यसंग्रह रचा था, तत्पश्चात् विशेष तत्त्वों को जानने के लिए ५८ गाथा प्रमाण भी निर्मित किया।

प्यास लगे बिना यदि पानी रख देते हैं तो उससे पानी का महत्त्व समझ में नहीं आता है वह बनकर माँग रहा है या वास्तव में प्यास लगी है, यह माँ के बिना बेटे की प्यास को कोई और नहीं समझ पाता है। माँग की अपेक्षा प्यास अधिक होना चाहिए। **शास्त्र के उपदेश में उसी को रस, आनन्द आता है, जिसे धर्म में प्रीति हो और संसार से भीति हो।** संसार से भीति हुए बिना धर्म से संतुष्टी नहीं मिलती और ROUTINE होने से समय व्यर्थ जाता है मिलता कुछ नहीं है। इसलिए सर्वप्रथम सुख-प्राप्ति की प्यास होना चाहिए, धर्म पिपासु भी होना चाहिए और संसार से भीरू भी होना चाहिए। उपयोग की परिणति सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र में से एक समय में एक ही होगी और यह उपयोग जब तीनों में बँटा रहता है, तब उसे भेद रत्नत्रय कहा जाता है। भेद और अभेद दोनों रत्नत्रय की प्यास होना चाहिए। भाण्डागार अर्थात् कोषागार जो धन राशि का संग्रह हुआ है, उसके आय-व्यय का लेखा-जोखा रखने वाला ऐसा वह सोम नामक राज श्रेष्ठी है, उसको निमित्त बना करके यह ग्रन्थ लिखा। देखिये, सोचिये सोम श्रेष्ठी के लिए नेमिचन्द्राचार्य ने यह ग्रन्थ लिखा। उस समय के सेठ भी भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना करते थे, उन्हें रत्नत्रय प्रिय था, उससे प्रेम करते थे लेकिन आज भेद रत्नत्रय की प्यास वाले साधक भी दुर्लभ हो गये हैं, आज साधु और श्रावक दोनों ही असंतुष्ट से लगते हैं। जैसे-बाजार में कोई चीज खरीदना चाहते हैं लेकिन स्वयं के पास राशि हो तो उपलब्ध हो सकती है, उसी प्रकार पुण्य-पाप भी उसी को प्राप्त होता है, जो उस योग्य कार्य करता है। श्रमण अभेद रत्नत्रय को प्राप्त नहीं कर पा रहा है तो उसको इष्ट समझता है और भावना भाता हुआ भेद रत्नत्रय का पालन करता है। **कुन्दकुन्द स्वामी** ने कहा है-**यदि शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं होता है तो हताश मत होओ अपितु जिन्होंने प्राप्त किया है, उनके आस-पास ही रहो।** आठ वर्ष के दीक्षित मुनि भी शुद्धोपयोगी श्रमण हो सकते हैं, उनके पास अस्सी साल के वृद्ध श्रमण भी

आ सकते हैं, मात्र शुद्धोपयोग की गन्ध होना चाहिए। यह छोटा यह बड़ा उम्र से कोई मतलब नहीं है। जिसके पास शुद्धोपयोग है, अभेद रत्नत्रय है और छोटा है तो भी उसका महत्त्व है। मिलावट MIXING में सही आनंद नहीं है। जैसे-पके आम में जो स्वाद है, उसकी अपेक्षा जो गदरा आम है, खट्टा है, पूर्ण पका नहीं है, उसमें वैसा स्वाद वैसी गन्ध नहीं है। **पका आम अभेद रत्नत्रय, गदरा आम भेद रत्नत्रय और थोड़ा पका थोड़ा कच्चा वाला आम संयमासंयम का प्रतीक है।** गदरा आम दो-तीन दिन खा लें तो दाँत खट्टे हो जाते हैं, फिर उसी को खाते-खाते आदत पड़ जाती है तो कुछ पता नहीं चलता है, यह अलग बात है। आज तो उस भेद रत्नत्रय की भी कमी है। भेदाभेद रत्नत्रय की प्राप्ति होने के उपरान्त उसे किसी को समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। आज रत्नत्रय बहुत दुर्लभ है और उसकी बातें भी दुर्लभ हो गई हैं। वाचना करते समय ध्यान से पढ़ना चाहिए; क्योंकि सही-सही पढ़ने से ही अर्थ और उसका मर्म समझ में आ सकता है और प्रयोजनभूत तत्त्व के प्रति श्रद्धा, विश्वास और ज्ञान हो सकता है। यहाँ पर गाथा सूत्र दिए हैं। सूत्र अर्थात् जिसके ऊपर टीका, उपटीका, व्याख्यायें, वार्तिक आदि लिखे जाते हैं, जिसमें अनन्त अर्थ गर्भित होते हैं। ''**अणंत अत्थ गुब्भिट्ठादो**'' ऐसा **वीरसेनस्वामी** ने कहा है। आज की पुस्तकों के ५० पृष्ठों को भी पढ़ो तो कोई सार नहीं मिलता है और इन एक-दो लाइन के सूत्रों को पढ़ो तो उन पर कई पृष्ठों में बहुत लम्बी-लम्बी व्याख्यायें कर सकते हैं। सूत्र छोटा होता है लेकिन उसका पेट बहुत बड़ा होता है।

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।
निर्दोषहेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥ (ध०पु० १)

'**च**' का प्रयोग सूत्रों में होता है वह बहुत से अर्थों को लिए हुए रहता है। जो अविरत सम्यग्दृष्टि है, उसे रत्नत्रय की भावना होगी और जिसने रत्नत्रय ग्रहण किया है, उसे उसमें भी उन्नति की इच्छा (प्यास) होती है, होनी ही चाहिए। सही अर्थ वही समझ सकता है, जिसकी दृष्टि में विशालता हो, मंत्र की सिद्धि भी उसे ही होती है, जो एकाग्र होकर स्थिरतापूर्वक व्यापक दृष्टि से मंत्र जाप करता है।

इस प्रकार प्रथम अधिकार में यह उत्थानिका पूर्ण हुई। इस बृहद् द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ के प्रथम अधिकार में २७ गाथा पर्यंत छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय का वर्णन किया है। इसके पश्चात् द्वितीय अधिकार में २८ से ३८ वीं गाथा तक ११ गाथाओं में सात तत्त्व, नौ पदार्थ का वर्णन किया है। इसके अनंतर तृतीय अधिकार में ३९ से ५८ गाथा पर्यंत २० गाथा द्वारा मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम इष्ट देवता को नमस्कार करने वाले प्रथम गाथासूत्र का प्रतिपादन करते हैं-

मंगलाचरण

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

अर्थ–जिनवरों में प्रधानभूत, देवेन्द्रादिकों के समूह से वंदित एवं जिन्होंने जीव और अजीव द्रव्य का कथन किया है, ऐसे उन तीर्थंकर परमदेव को मैं (नेमिचन्द्राचार्य) सदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

जीव सचेतन द्रव्य रहे हैं तथा अचेतन शेष रहें।
जिनवर में भी जिनपुंगव वे इस विध जिन वृषभेष कहें॥
शत-शत सुरपति शत-शत वंदन जिन चरणों में सिर धरते।
उन्हें नमूँ मैं भाव-भक्ति से मस्तक से झुक-झुक करके॥१॥

व्याख्या–'वंदे' इस शब्द को व्याख्यायित किया जा रहा है। पदखण्डना रूप व्याख्यान चल रहा है। जिसमें एक-एक शब्द का वर्णन अर्थ सहित किया जाता है, उसका नाम पदखण्डना रूप टीका है। शुद्धात्मा की आराधना करने वाले रत्नत्रय के धारी ही आराधक होते हैं और रत्नत्रय उसी को प्राप्त होता है, जो महाव्रतों को आजीवन के लिए अंगीकार करते हैं, नहीं है तो नहीं होता। यदि कोई सोचे कि एक दिन के लिए एक घंटे के लिए हमें महाव्रत दे दो ताकि हमें रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाए और हमारी शुद्धात्मा की भूमिका बन जाए, ऐसे नहीं हो सकता। इस प्रकार शुद्धात्मा की आराधना के लिए या शुद्धात्मा के स्तवन के लिए यह पूर्व भूमिका अत्यन्त अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप यह भेद आराधना है, लेकिन निश्चय में आ जाता है तो एकाग्रता आ जाती है क्योंकि शुद्धात्मा की ही एकमात्र आराधना होती है। शुद्ध स्तवन-शुद्धात्मा की आराधना लक्षण रूप होता है जो एकदेश शुद्ध निश्चयनय है, उसमें आधार लिया जाता है और सर्वदेश शुद्ध निश्चयनय में इस प्रकार आधार नहीं लिया जाता है। "**जेण णिद्दिट्ठं**" जिन के द्वारा यह कहा गया है कि द्रव्य है। '**दव्वं**' द्रव्य कहा गया है। द्रव्य कौन-कौन हैं ? जीव रूप और अजीव रूप। जिनके द्वारा जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व का कथन किया वो कौन हैं ? तो बताते हैं–"**देविंदविंदवंदं**" जो देव और सौ इन्द्रों के द्वारा वंदनीय हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा यह कहा गया है और वो भगवान् कैसे हैं ? "**जिणवर वसहेण**" जिन का अर्थ है–जीतने वाला। जो अपनी आत्मा को जीतता है, कर्मों को जीतता है, इन्द्रियों को जीतता है, उन जीतने वालों में जो 'वर' अर्थात् श्रेष्ठ हैं। उनमें भी जो 'वृषभ' अर्थात् मुखिया हैं, उनको यहाँ पर नमस्कार करता हूँ। जिनके द्वारा यह जीव और अजीव तत्त्व का कथन सर्वप्रथम किया गया है। छह द्रव्य जो ज्ञेय रूप तो हैं किन्तु मोक्षमार्ग

में मुख्य रूप से ग्रहण करने और छोड़ने के रूप में जो कथन मिलता है उनमें जीव और पुद्गल ही मुख्य होते हैं।

विवाह मण्डप बना है। किनका विवाह होना है, सबका होना है क्या? नहीं। दो के बीच में विवाह होना है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल दोनों का सम्बन्ध होता है तो संसार बस जाता है और तलाक हो जाता है तो मुक्ति हो जाती है। इसीलिए इन दोनों का कथन वृषभनाथ भगवान् ने किया है।**''जीव अरुपुद्गल नाचें यामें कर्म उपाधि है''** जीव और पुद्गलों का खेल है। नाचता तो जीव है और नचाता पुद्गल है, जीव नाचना नहीं चाहता, मैं कैसे नाचूँ, लज्जा आती है लेकिन कर्म कहता है नाचना पड़ेगा। और आत्मा नाचती रहती है, इस प्रकार दो द्रव्यों का ही कथन इन्होंने इस द्रव्यसंग्रह में किया है, शेष चारों द्रव्य शुद्ध ही हैं इसलिए उदासीन हैं और दो द्रव्य प्रेरक हैं आपस में एक-दूसरे के ऊपर DEPEND हैं उनका अशुद्ध परिणमन भी होता है। शुद्ध परिणमन करने वालों को छोड़ करके अशुद्ध परिणमन करने वालों को यहाँ पर मुख्यता प्रदान कर दी। जैसे-विवाह जिसका हो रहा है उसके मन में अनेक प्रकार के विकल्प हैं, बाराती जो एकत्रित हुए हैं, उसके मन में कुछ नहीं है उनको तो केवल नाश्ता, भोजन-पानी से मतलब है। इस प्रकार जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों को छोड़कर शेष चार द्रव्यों का आप लोगों से कोई मतलब नहीं है न मन से, न वचन से, न काय से। इनके द्वारा क्या सहयोग मिलता है, क्या नहीं, यह अलग वस्तु है। यह उदासीन निमित्त रूप से हैं लेकिन वो किसी से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे शुद्ध द्रव्य हैं। वो कभी भी किसी से प्रभावित नहीं होते। जैसे-आकाश में आग जलाओ तो **आकाश में आग जलती तो है लेकिन आकाश को आग नहीं लगती।** आसमान को छूने जैसी आग जलाई थी, ऐसा कहने में आ जाता है लेकिन लपटें आकाश को छूती नहीं, आकाश में रहती अवश्य हैं, क्योंकि**''लोकाकाशेऽवगाहः''** लोकाकाश में सब रहते हैं। लोकाकाश में आग रहते हुए भी आकाश को नहीं जला सकती इसलिए आकाशद्रव्य शुद्ध है और**''धर्माधर्मयोः कृत्स्ने''** धर्म और अधर्मद्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। एक-एक प्रदेश पर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य है ऐसा नहीं, किन्तु लोकाकाश जितने प्रदेश प्रमाण है उतने में धर्म, अधर्मद्रव्य है। जब आकाशद्रव्य में रहने वाली आग से लोकाकाश नहीं जला तो उसमें रहने वाले जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य इन दोनों द्रव्यों का भी कभी नाश नहीं होता। शुद्धाशुद्ध सब द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में होने पर भी आकाशद्रव्य शुद्ध ही रहता है इसको किसी ने कभी भी छुआ नहीं। इसी प्रकार धर्मद्रव्य-अधर्मद्रव्य परस्पर में भी प्रभावित नहीं होते और दूसरों को भी प्रभावित नहीं करते। अब रहा कालद्रव्य तो कालद्रव्य और भी शुद्ध है पाँच द्रव्य तो कथञ्चित् बहुप्रदेशी हैं, लेकिन काल तो एक-एक प्रदेश पर एक-एक रहता है।**''रयणाणं रासीमिव''** वाली गाथा आगे आने वाली है। रत्न राशि की भाँति असंख्यात कालद्रव्य पृथक्-पृथक् लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रहते हैं। वे कभी भी आपस में भी नहीं मिलते और दूसरों को भी नहीं मिलाते।

जैसे–मानलो आप लोग दूध तपाते हैं तो आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार दूध में पचासों मोती डालकर तपा दिया, दूध तप गया लेकिन मोती दूध में न घुले, न मिले। इसी प्रकार जीव और पुद्गलद्रव्य इन दोनों का आपस में सम्बन्ध होने पर अग्नि और दूध जैसा सम्बन्ध हो जाता है, अग्नि के द्वारा दूध तप जाता है, वहीं पर मोती हैं उनका कुछ नहीं होता है ज्यों का त्यों, वैसा का वैसा ही रंग बना रहता है। इसी प्रकार कालाणु भी किसी से प्रभावित नहीं होता। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य ये शुद्ध द्रव्य हैं, केवल जानने के योग्य हैं। कौन–कौन कहाँ–कहाँ से शादी में आये हैं लेकिन कुँवर साहब को कोई मतलब नहीं। कुँवर साहब का मतलब क्या होता है दामाद, लालाजी। ''**जामाता दशमो ग्रहः**'' दामाद जो है १० वाँ ग्रह है, कन्या को भी ले जाता है और कन्या के माता–पिता ने जो अर्जित किया उसको भी ले जाता है। घर खाली हो जाता है, कन्या से भी और धन से भी। फिर भी संतुष्ट नहीं होता। यहाँ भी यही बात है दो द्रव्य के अलावा और जितने भी द्रव्य हैं, उनसे कोई मतलब नहीं। जैसे–बारातियों से ऊपर–ऊपर बात करते हैं फिर भी अगर बारात में बाराती नहीं आते तब तक बारात की शोभा नहीं होती। हाँ, गंधर्व विवाह है तो दो के बीच में ही होता है और कोई बीच में नहीं आता। जीव–पुद्गल को चलने में कौन सहायक है तो धर्मद्रव्य जो बाराती जैसा है वह सहायक है और ठहरने में कौन सहायक है तो अधर्मद्रव्य सहायक है। परिवर्तन में फेरे डालने में कौन सहायक है तो कालद्रव्य सहायक है और मण्डप इत्यादि के अवगाहन में कौन सहायक है तो आकाशद्रव्य सहायक है। ये चारों द्रव्य हो गये लेकिन इन चारों से कोई मतलब नहीं, सारे के सारे लोगों की दृष्टि केवल वर और वधू की ओर रहती है, क्योंकि वे दोनों एकदम सजे हुए रहते हैं बाकी के लोग सामान्य जैसे रहते हैं ऐसे ही **नेमिचन्द्र आचार्य** जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य को मुख्य करके बाकी को गौण करके ही चलते हैं। जैसे–बारात का निमंत्रण आते ही सभी बाराती भी अलग से निमंत्रण मिले बिना ही आ जाते हैं। यद्यपि कुमकुम पत्रिका में किसी भी बाराती का नाम नहीं लिखा जाता है कि हमारे यहाँ ये–ये बाराती आ रहे हैं, चाहे कन्या के घर में बारात आ जाए अथवा वर के घर बारात आ जाए सुविधा अनुसार पहले से तय कर दिया जाता है कि बारात कहाँ जा रही है? उसी प्रकार धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आदि बिना बुलाये आ ही जाते हैं। इसीलिए संक्षेप से यहाँ पर जीव द्रव्य अजीव द्रव्य ये दो ही कहे हैं। यदि पुद्गल कहोगे तो केवल पुद्गलद्रव्य आयेगा और अजीव द्रव्य कहोगे तो ये पाँचों द्रव्य आ जायेंगे। हाँ, वो दिखने में नहीं आते हैं। कहने का अर्थ यह है कि अजीव द्रव्य में भी मुख्य रूप से पुद्गल को ही मुख्यता दी गई है, क्योंकि जीव के साथ सम्बन्ध हुआ है तो वह उसी का हुआ है।

अब मानलो गृहस्थ है तो कैसे गृहस्थ है–''**गृहे तिष्ठति इति गृहस्थाः**'' घर में पहले भी लड़का या लड़की रहते थे किन्तु वह गृहस्थ नहीं माने जाते थे। ज्यों ही फेरे पड़ जाते हैं, त्यों ही गृहस्थ कहलाने लगते हैं, इनके अलग ही रूप हो जाते हैं, अलग ही नाम से पुकारे जाते हैं उनमें एक व्यवहार

आ जाता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का सम्बन्ध हो जाता है तो अजीव में पुद्गल को ही मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है और इसी से "**कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षोमोक्षः**" होने वाला है, धर्मादि द्रव्य से नहीं। आकाश में ही रहना है और धर्मद्रव्य से ही सात राजू प्रयाण करना है और अनन्तकाल तक आकाशद्रव्य में ही रहना है। कालद्रव्य के द्वारा परिवर्तन होता रहता है सिद्धालय में जायेंगे तो ये चारों द्रव्य वहाँ पर भी रहेंगे इनका सम्बन्ध भी पूर्ववत् ही रहता है कोई अन्तर नहीं। लेकिन वहाँ पर जीव और पुद्गलद्रव्य का परस्पर में सम्बन्ध नहीं है। साथ-साथ भले रहें कोई बात नहीं। वहाँ पर पुरुष भी है और प्रकृति भी है लेकिन एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध नहीं है। पहले मोह के साथ जो सम्बन्ध था, वह सम्बन्ध नहीं है। यह सब कर्म क्षय करने के लिए पुरुषार्थ बताया है, उसमें भी मोहक्षय करने के लिए विशेष पुरुषार्थ बताया है। शेष कर्म ऐसे ही चले जाते हैं। वर-वधू दोनों ही मानलो विचलित हो गये कि हम विवाह नहीं करना चाहते हैं तो जिनको बुलाया है वो भी लौट जाते हैं; क्योंकि कुँवर साहब नहीं मान रहे हैं तो हम भी भोजन नहीं करेंगे।

अब देखो नेमिनाथ भगवान् का और मल्लिनाथ भगवान् का विवाह बीच में ही खण्डित हो गया। तीर्थंकरों की बात कही जा रही है सामान्य व्यक्तियों की नहीं। महापुरुष ऐसी बातों को जानने के लिए अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का प्रयोग नहीं करते, शादी तो होना ही नहीं थी पहले से ही वे जान लेते तो ये सम्बन्ध होता ही नहीं। कैसे नहीं होता? राजुल को भी तो दीक्षित होना है। अन्यथा वह दूसरे वर को देखेगी इसलिए ऐसा नहीं करते तो एक दीक्षार्थी चूक जाता इनको तो तोरणद्वार देख करके जाना ही था, इन सब उदाहरणों से हम ये कहना चाह रहे हैं कि जीव द्रव्य और पुद्गलद्रव्य मुख्य हैं और बाकी के सब द्रव्य मुख्य नहीं हैं, वो ज्ञेय रूप में स्वीकार किये हैं और इनमें जीव द्रव्य उपादेय और पुद्गलद्रव्य हेय है। बाकी सब द्रव्य ज्ञेय हैं, जो ज्ञेय हैं वे शुद्ध हैं, उन धर्मद्रव्य आदि चार द्रव्य के माध्यम से हमारे मन में किसी भी प्रकार से राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं, मूर्त द्रव्य को लेकर ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। स्थिति ऐसी है कि अर्हत् परमेष्ठी के साथ भी मारीचि जैसा किसी न किसी को राग-द्वेष संभव है, अपने मन का हुआ तो राग हो गया, मन का नहीं हुआ तो द्वेष हो गया। सिद्धपरमेष्ठी शुद्ध हैं, उनके प्रति किसी को राग-द्वेष नहीं होता है।

जिसको साध्य सिद्ध हो गया उसको साधना की कोई आवश्यकता नहीं रही लेकिन अर्हत् परमेष्ठी को अभी साध्य सिद्ध नहीं हुआ इसलिए साधना की आवश्यकता है, अर्हत् परमेष्ठी अभी अशुद्ध हैं। वाणी को सुन करके सभी को अच्छा लगे ऐसा कोई नियम नहीं है। जिनवाणी कही तो जाती है लेकिन वह जन-जन की वाणी नहीं बन सकती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसको सुन करके आस्थावान बने यह कोई नियम नहीं है। यह सब पक्षपात है, ऐसा कहने वाले भी होते हैं, वाणी सुनकर संदेह विच्छेद हो ही ऐसा कोई नियम नहीं है। मारीचि को पूर्व से ही शंका थी लेकिन सुनकर अब और शंका हो गई, इसलिए सुनो! सुनने से कई प्रकार के विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं। संदेह, शंका,

राग-द्वेष आदि का उत्पादन अशुद्ध द्रव्य के निमित्त से ही हुआ करता है, शुद्ध द्रव्य से नहीं। अशुद्ध द्रव्य जब तक रहेगा तब तक साधना की भी आवश्यकता रहेगी अर्हत् परमेष्ठी की भी साधना शेष है, अतः अर्हत् परमेष्ठी भी साधक हैं साध्य नहीं, स्नातकोत्तर मुनि महाराज हैं। जो सिद्ध बने हैं, उनकी उपासना करो वो देखने में नहीं आते, कर्म भी देखने में नहीं आते, जो चीज चक्षुदर्शन से देखने में नहीं आती वो चीज अचक्षुदर्शन से भी देखने में नहीं आती ऐसी बात नहीं। इसलिए जानने और देखने की अपेक्षा से हम सिद्ध भगवान् को जान सकते हैं और उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सिद्ध परमेष्ठी का विषय जानना देखना होता है। अर्हत् परमेष्ठी के द्वारा सिद्ध साक्षात् देखने में आ जाते हैं। केवलज्ञान हमारे ज्ञान का विषय नहीं पर अर्हत् वाणी हमारे कानों से सुनने में आ जाती है। जो प्रकाशित करे उसी का नाम बिजली है क्या? ऐसा नहीं। प्रकाश के बिना भी जो कपड़ों के ऊपर प्रेस करते हैं तो उनमें चमक आ जाती है और PRESSED हो जाता है यह भी बिजली का ही कार्य है इसी प्रकार जब आप हवा खाना चाहते हैं तो पंखे को चालू कर लेते हैं, इसके उपरान्त सुनना चाहते हैं तो लाउडस्पीकर PLAY कर लेते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार के साधन इसी से उत्पन्न हो जाते हैं, उसी बिजली के द्वारा कूटने का कार्य, पीसने का कार्य भी होता है। इसी प्रकार अर्हत् परमेष्ठी और सिद्ध परमेष्ठी में इतना ही अन्तर है कि एक अशुद्ध द्रव्य है और एक शुद्ध द्रव्य है तो शुद्ध द्रव्य क्या है? इसको देखने के लिए अशुद्ध द्रव्य के माध्यम से ही तुलना की जा सकती है। जैसे-आप सोना खरीदते हैं आभरण के लिए, तो शुद्ध सोना खरीदा जाता है, लेकिन आभरण शुद्ध नहीं होता है, शुद्ध सोने को तो TREASURY में रख सकते हैं, बैंक में रख सकते हैं, वहाँ से पैसा भी ला सकते हैं। मानलो चेन बनाना चाहते हैं तो वह शुद्ध सोने की नहीं बन सकती बट्टा तो उसमें डालना ही पड़ेगा, तो पहले से ही बट्टा डाल के खरीद लो? नहीं, सौ टंच सोना ले आओ, बाद में उसमें बट्टा मिलाओ फिर उसको पहना दो। फिर वह जब कभी सुनार से पूछेगा कि इसमें कितना सोना है? इसमें २ तोला सोना है लेकिन इसके १० हजार रुपये नहीं देंगे बट्टा होने से ८ हजार ही देंगे, क्योंकि अब वह चेन बट्टे वाली है, इसी प्रकार अर्हत् परमेष्ठी भी अभी सौ टंच शुद्ध सोना नहीं है, बट्टा है १६ वानी का १०० टंच सोना होता है, वह शत-प्रतिशत सोना होता है। जैसे-सिद्ध परमेष्ठी १०० टंच शुद्ध सोने के समान हैं, १६ वानी को पूर्ण कर जाते हैं, किन्तु अर्हत् परमेष्ठी के घातिकर्मरूप बट्टा निकल गया, अघातिकर्म रूप बट्टा अभी विद्यमान है, इस प्रकार यहाँ पर जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य का कथन जिनेन्द्र भगवान् ने किया "**देविंदविंद वंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा**" सिरसा अर्थात् मस्तक झुकाते हुए, सर्वदा अर्थात् सर्वकाल, हमेशा-हमेशा सभी काल में देवों के इन्द्र द्वारा वंदनीय हैं। 'वंदे' यह क्रियापद है, नमस्कार करता हूँ, वंदना करता हूँ, क्रिया-कारक सम्बन्ध के साथ इस पदखण्डना रूप व्याख्यान में एक-एक शब्द को स्पष्ट व्याख्यान करेंगे। जैसे-समयसार के ऊपर आत्मख्याति टीका लिखी, वह दण्डान्वय टीका मानी जाती है और दूसरी पदखण्डना रूप टीका मानी जाती है इसमें एक-

एक शब्द का अर्थ हमें समझ में आ जाता है।

जब COLLEGE में चले जाते हैं तो LECTURAR केवल संकेत देते जाते हैं SPEECH देते चले जाते हैं, उस आधार को ले करके फिर बाद में वह COLLEGE के विद्यार्थी उसको समझते हैं लेकिन अच्छे पुरुषार्थी प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी भी कभी-कभी FIRST YEAR में फेल हो जाते हैं क्योंकि उन्हें पदखण्डना रूप व्याख्या अभी तक सुनने को मिली थी और अब दण्डान्वय रूप व्याख्या मिल रही है, इसलिए समझ में नहीं आ रही है।

वंदना दो प्रकार की है—एक भाववंदना और दूसरी द्रव्यवंदना। द्रव्यवंदना के साथ मन-वचन-काय की चेष्टा रहती है और भाववंदना में स्व शुद्धात्म आराधना लक्षण रूप जो भाव होता है उसी की वंदना होती है उसी को भाववंदना, भावस्तवन, भावस्तुति आदि कहा जाता है। परमसामायिक, परमगुप्ति, उपेक्षा संयम एवं शुद्धोपयोग के समय पर वीतराग दशा में इस भाव वंदना का सम्बन्ध जुड़ता है तो 'वंदे' नमस्कार की व्याख्या द्रव्यवंदना व भाववंदना के रूप में टीकाकार ने की है। शुद्धात्म आराधना लक्षण रूप जो भाव वंदना है, जो एकदेश शुद्ध निश्चयनय के साथ सम्बन्ध रखता है क्योंकि १४ वें गुणस्थान के अंतिम समय तक एकदेश शुद्ध निश्चयनय का प्रसंग है, इसके उपरान्त जब ध्यान समाप्त हो जाता है, वहाँ एकदेश शुद्ध निश्चयनय भी समाप्त हो जाता है, जब तक शुद्ध नहीं होता तब तक कारण समयसार चलता है और कारण समयसार जितना भी होता है वह पूरा का पूरा एकदेश शुद्ध निश्चयनय का प्रसंग माना जाता है और कार्य समयसार के साथ निश्चय भी गौण हो जाता है। एक परम शुद्ध पारिणामिक और एक अशुद्ध पारिणामिक ऐसे दो प्रकार के पारिणामिक भाव होते हैं, इस प्रकार यह स्तुति की बात कही। **जब कभी भी वंदना करें, स्तुति करें, पाठ करें उस समय मन-वचन-काय की चेष्टा शुद्ध रखें। एक-एक शब्द का उच्चारण हो प्रत्येक शब्द के अर्थ की ओर दृष्टि जाये**, प्रवृत्ति भले ही हो लेकिन वह मनोयोग के साथ ही हो, मुखाग्र करने के उपरान्त भी कई बार एकाग्रता को प्राप्त नहीं कर पाते, कभी-कभी ग्रन्थ ले करके पढ़ते हैं तो एकाग्रता और अच्छी आती है, हम कौन-सी पंक्ति से पढ़ रहे हैं, यह ध्यान रहता है लेकिन मुखाग्र होने के उपरान्त कहाँ से कहाँ चला जाता है पता ही नहीं चलता, यही तो एकाग्रता की कमी है। एकाग्रता रखते-रखते शुद्धात्मा की आराधना करने रूप भाव स्तवन प्रारम्भ हो जाता है, सामायिक आदि के काल में शुद्धात्मा की आराधना वाली भाव वंदना प्राप्त हो जाती है, इस प्रकार शुद्धात्मा की भावना श्रावक भी सामायिक के काल में कर सकते हैं और मुनि महाराज तो जहाँ बैठे हैं वहीं शुद्धात्मा की भावना कर सकते हैं, शुद्धोपयोग की घड़ी भी उन्हें उस समय प्राप्त हो जाती है जब मन-वचन-काय से द्रव्य स्तवन भी बंद हो जाता है तब यह अनुभव करना बहुत कठिन हो जाता है कि कब वह द्रव्य स्तवन रुका और कब शुद्धोपयोग प्रारम्भ हुआ, ऐसा वह सूक्ष्म संधि का समय है।

आजकल शारीरिक शुद्धि तो इतनी हो गई कि चतुर्थ काल से भी आगे बढ़ गई किन्तु भाव शुद्धि

कितनी है पता नहीं। **आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज** कहा करते थे कि—**पञ्चमकाल में चतुर्थकालीन जैसी तो द्रव्यशुद्धि है और भावशुद्धि की अपेक्षा छट्ठे काल को भी मात कर रही है**, ऐसी स्थिति है, इसलिए भावों को देखो और आगे बढ़ो। एकदेश संयम वालों के पास रत्नत्रय नहीं होता, ये आगम में लिखा हुआ है और रही उपचार से महाव्रती आर्यिका की बात तो उनको भी रत्नत्रय नहीं हो सकता। औपचारिक महाव्रत है तो औपचारिक रत्नत्रय हो जाए ? नहीं, ऐसा नहीं है क्योंकि पूर्ण रूप से पाँच पापों का त्याग चाहिए और वस्त्र का त्याग भी अनिवार्य है वस्त्र भी परिग्रह के रूप में आते हैं इन सभी बातों से उनका पूर्णरूप से अहिंसा महाव्रत का पालन नहीं हो पाता है। प्रतिदिन एक वस्त्र को पहनना और एक वस्त्र का त्याग उसको धोना, सुखाना इसलिए उपचार से महाव्रत लेने के उपरान्त भी उनके पास रत्नत्रय नहीं होता, पञ्चम गुणस्थान है और पञ्चम गुणस्थान में आगम में रत्नत्रय की परिकल्पना नहीं की गई है, वहाँ पर महाव्रत पूर्ण नहीं है किन्तु निकट में आ जाता है व्यवहार रत्नत्रय भी निश्चय रत्नत्रय का हेतु है तो वह व्यवहार रत्नत्रय भी नहीं है उनके पास किन्तु संयमासंयम लब्धि है, संयमलब्धि स्थान उन्हें प्राप्त नहीं है। संयमासंयम में यही एक विशेषता होती है न ही संयम है और न ही असंयम की दशा है रत्नत्रय की आराधना शुद्धात्मा के बिना नहीं है और रत्नत्रय महाव्रत बिना संभव नहीं इसलिए औपचारिक महाव्रत हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं है किसी के पास एक पाई है किसी के पास ९९ पाई है, पर हैं तो सब पाई के मालिक, रुपये के नहीं। जैसे सुमेरु पर्वत के ऊपर चले गये इसलिए स्वर्ग में चले गये ऐसा मत मानो, एक बाल का तो अंतर है, मात्र एक बाल का अंतर होते हुए भी खिसक के वहाँ पर स्वर्ग में चले जाए तो यह औदारिक शरीर के साथ संभव नहीं, वैक्रियिक शरीर के साथ ही संभव है। शुद्धात्म आराधना लक्षण रूप भाव स्तवन कहा वह एकदेश शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा कहा जो कि सप्तम गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान के अंतिम समय तक होता है वह ध्यान अपेक्षा से व्यवस्था की गई है, इसके उपरान्त उस ध्यान का फल मिलता है। एकदेश शुद्ध निश्चयनय की अवधि १२ वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक हो गई किन्तु वीरसेनस्वामी आदि कहते हैं कि –जब तक १४ वें गुणस्थान का अंतिम छोर नहीं आता तब तक एकदेश शुद्ध निश्चयनय होता है अर्थात् अशुद्धता में रहकर शुद्धता का अनुभव नहीं किया जा सकता यह इसका तात्पर्य है। अशुद्धत्व में शुद्धत्व की प्राप्ति की भावना और ध्यान हो सकता है। निश्चय की अपेक्षा से गुप्ति में रहकर ही भगवान् की स्तुति, वंदना होती है और व्यवहार में कहेंगे तो वह असद्भूत व्यवहार ही माना जायेगा। सद्भूत व्यवहार का अशुद्ध निश्चयनय के साथ एक प्रकार से तादात्म्य जुड़ा हुआ रहता है और असद्भूत व्यवहार में भेद के साथ-साथ दूसरे द्रव्य का भी आलम्बन लिया जाता है। असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादिक का कर्त्ता होता है और अन्य पदार्थों का भोक्ता एवं स्वामी होता है। मतलब वह एकत्व में न रह करके अनेकत्व में आ जाता है, इसमें इतना वह गाफिल रहता है कि स्तुति करके ही वह शान्त रहता है। स्तुति कहते ही हम लोगों

की दृष्टि दशभक्ति आदि–आदि की ओर चली जाती है। जैसे–गणित कहते ही स्लेट, पेंसिल, अंगुलियों आदि पर दृष्टि न करो, जीभ भी न हिले, इधर–उधर भी न देखो अब बताओ मन–मन में गणित करके, दूसरे व्यक्ति समझ न लें आपकी SCHEME को, गणित करते समय ऐसी स्थिति में होता है जैसे ध्यान में अविचल होता है। आलम्बन न लेने से ध्यान स्थिर होता है। तो वो कहता है दूसरे का तो आलम्बन नहीं लेंगे लेकिन अपनी अंगुलियों का ही आलम्बन ले लें ? नहीं, ये भी ठीक नहीं है और आँखों का चलाना भी सही नहीं है। इनका उत्तर बिना गिने आना चाहिए, इसी का नाम मानसिक जाप है, हम वंदना उसी को मानते हैं।

ग्रन्थ रचनाकार–निबद्ध और अनिबद्ध दो प्रकार का मंगलाचरण करते हैं। जैसे–सीधा ही ग्रन्थ लिखना शुरू कर दें वो अनिबद्ध माना जाता है, वो मंगलाचरण नहीं है तो मंगलाचरण और क्या वस्तु है? जिनवाणी को हम लिख रहे हैं इसलिए मंगलाचरण की क्या आवश्यकता? क्योंकि एक–एक शब्द ही जिनवाणी का मंगलमय है। वे स्वयं मंगलमय हैं, यहाँ व्यवहार से मंगलाचरण कहा जा रहा है। गोम्मटसार आदि के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती देव अलग हैं और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव अलग हैं। यहाँ पर टीकाकार कह रहे हैं–''**वंदे सिरसा सव्वदा**'' काल की अपेक्षा–मैं हमेशा–हमेशा नमस्कार करता हूँ। '**सव्वदा**' हमेशा ही वंदना करते रहोगे तो फिर '**द्रव्यसंग्रह**' ग्रन्थ कब लिखोगे ? ऐसी स्थिति में लिखने का कार्य ही नहीं हो सकता। वंदना का सही स्वरूप समझ में आ जाता है तो '**वंदे**' इस प्रकार कहने की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, अपने आप में स्वस्थ भाव में हो गये उस समय निश्चय प्रत्याख्यान है, निश्चय प्रतिक्रमण है, ये सारे के सारे उसमें घटित हो जाते हैं अतः सर्वकाल सिर झुका करके मैं वंदना करता हूँ। ऐसा नहीं कि मस्तक को ऊँचा करके खड़े–खड़े अकड़ करके नमस्कार करना। मानलो त्रिकाल चौबीसी हैं तो ७२ बार कैसे करेंगे? तो शक्य का ही अनुष्ठान होता है अशक्य का कभी नहीं। हमारे भाव शुद्ध होना चाहिए '**उत्तमांगेन**' उत्तम अंग से वीतराग सर्वज्ञ देव को, जो देवेन्द्रों के समूह के द्वारा वंदनीय हैं उनको मेरा नमस्कार हो।

शोर–सूतक के विषय में कहा जाता है कि–क्षत्रियों को, महापुरुषों को शोर सूतक नहीं लगती। भरत चक्रवर्ती को पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई और तभी वृषभनाथ भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई तो अष्ट मंगल द्रव्य लेकर समवसरण में पहुँच गये उनको तो महासूतक लगना चाहिए किन्तु नहीं लगती है। युग के आदि में स्वयं को धर्म पुरुषार्थ का फल चक्ररत्न, काम पुरुषार्थ का फल मिला पुत्ररत्न और प्रभु के मोक्ष पुरुषार्थ का फल केवलज्ञान प्राप्त हुआ। जब शोर लगता है तो पूजन नहीं की जाती है इनकी ९६ हजार स्त्रियाँ हैं और जितने पुत्र हैं इन सबको शोर लगना चाहिए इनका एक दिन भी बिना शोर के नहीं जायेगा। चक्रवर्ती वह राजाओं का राजा माना जाता है और भगवान् ने भी नहीं कहा कि तुम पूजन को नहीं आओ। शक्य का अनुष्ठान होता है और अशक्य का अनुष्ठान नहीं होता है। शरीर को जितना शुद्ध कर सकते हो, कर लो। वैसे तो शरीर शुद्ध हो ही नहीं सकता, भावों

को शुद्ध बनाओ। जैसा कहा वैसा मान लो। ज्यादा जानना है तो जब केवलज्ञान होगा तब ज्ञात हो जायेगा। प्रासुक करने की पद्धति क्या होती है? तो शक्यानुष्ठान और अशक्यानुष्ठान होता है ज्यादा नहीं कहा जा सकता। ज्यादा कहेंगे तो बाल में से खाल मत निकालो, ऐसा इसलिए कहा जाता है कि ज्यादा अर्थ मत निकालो, अति मत करो। चारित्र के विषय में बाल में से खाल नहीं निकालना चाहिए, ये चरितार्थ हुआ। आज ये ही हो रहा है इसलिए शुद्धि पत्र के लिए भी शुद्धि पत्र की जरूरत पड़ रही है। **भाव जितने शुद्ध होंगे उतनी ही एकाग्रता होगी** उतना ही उसका महत्त्व है किन्तु ध्यान आदि नहीं करते हैं तो फिर वचन, मंत्र, जिनबिम्ब का आलम्बन लेओ और आलम्बन लेने का मतलब यह है कि आपकी प्रतिभा का स्तर अभी बहुत नीचे है, इस प्रकार जितने आप आलम्बन लेंगे उतने आप असद्भूत व्यवहार के आश्रित रहेंगे ऐसा माना जायेगा। वचन का भी आलम्बन लेना असद्भूत व्यवहारनय की विवक्षा में लिया जाता है। गुप्ति में लेना देना कुछ नहीं होता।

परम शुद्धनय की विवक्षा में न वंद्य है न ही वंद्यक भाव है किन्तु एकदेश शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से वंद्य-वंद्यक भाव है और उसमें वचनों का प्रयोग नहीं होता है इसलिए एकदेश शुद्ध निश्चयनय में भी निर्विकल्प दशा आ जाती है, उससे नीचे नहीं और निर्विकल्प दशा के लिए कम से कम सप्तम गुणस्थान होना आवश्यक है। मन-वचन-काय की चेष्टा के साथ स्वाध्याय करते-करते ही किसी को भी निर्विकल्प समाधि नहीं होती है।

जिनमहिमा दर्शन का क्या अर्थ होता है? जिन महिमा का कोई पार नहीं है, जिनको हम स्वामी बोलते हैं वो भी आज किंकर बन करके सेवक के रूप में जिन के चरणों में खड़े हैं, जो मणिमय मुकुट पहनता है वो भी भगवान् के चरणों की रज को लगा रहा है, अपने स्वामी को इस दशा में देख करके उसके परिवार के लोग कहते हैं कि ये जिनेन्द्रदेव इतने बड़े हैं! इसको बोलते हैं जिनमहिमा दर्शन। एक और देवर्द्धिदर्शन भी होता है जिसमें बड़े-बड़े देवों के पास ऋद्धियाँ और वैभव होता है, उन्हें देखकर अन्य देवों को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण हो जाता है। लेकिन जिनबिम्बदर्शन करने से किसी भी देवों को सम्यग्दर्शन नहीं होता क्योंकि जिनबिम्ब का वहाँ पर बाहुल्य है।

घर में चैत्यालय हो तो कोई नहीं जायेगा घर के तो हैं ही भगवान्। यदि तीन-चार किलोमीटर दूर रहेगा तो बार-बार मंदिर याद आयेगा और जिनका मंदिर के पास ही घर है उनको महत्त्व समझ में नहीं आता है। वेदना से न तो मनुष्यों को सम्यग्दर्शन होता है और न तिर्यञ्चों को सम्यग्दर्शन होता है। सही टीस या वेदना तो नारकियों में है इसलिए वेदना नारकियों को सम्यग्दर्शन में कारण बनती है। धर्मश्रवण भी बताया है। जिनबिम्बदर्शन से तो मनुष्य, तिर्यञ्चों को सम्यग्दर्शन बताया है लेकिन क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं, चाहे अकृत्रिम चैत्यालय में पाँच सौ धनुष ऊँची प्रतिमा के सामने बैठ जाओ। ऊपर स्वर्ग में भले नौकर-चाकर के रूप में देव हैं, जो सौधर्म इन्द्र के UNDER में रहते हैं, उनके लिए भी देवर्द्धिदर्शन है, ये भी एक महिमा है। **बड़े-बड़े शहरों में सेठ साहूकार रहते हैं परन्तु**

सौधर्म इन्द्र नमन कर रहा है, साथ में बड़े-बड़े राजा, महाराजा,
चक्रवर्ती बड़े-बड़े पदाधिकारी भी भगवान् को नमस्कार कर रहे हैं।
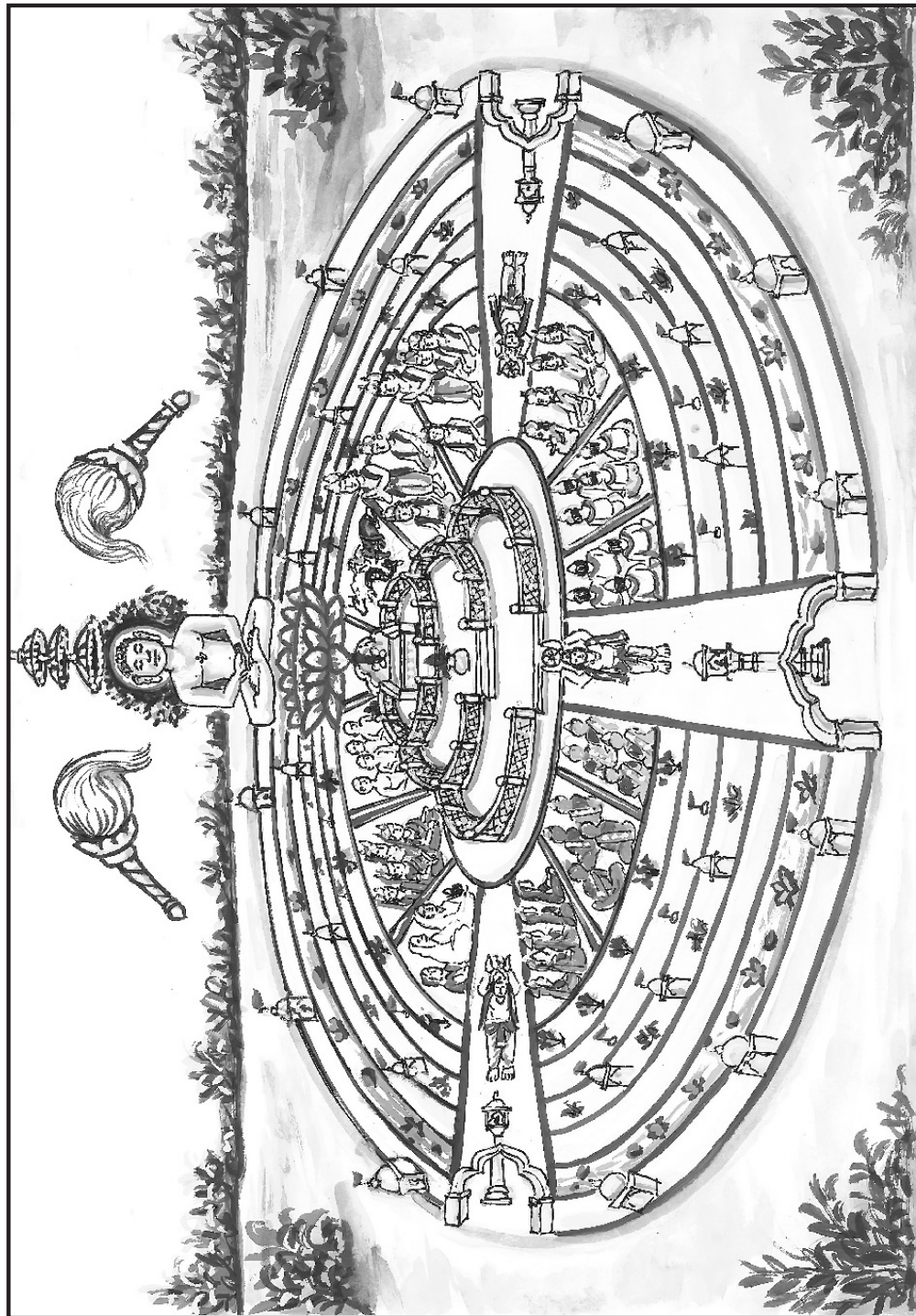
ये हैं जिनदर्शन की महिमा

अध्यक्ष नहीं बन पाते लेकिन कोई गरीब भी रहता है तो भी वह अपने गुणों के कारण अध्यक्ष बन जाता है। सारी जनता उसको मानती है। **सौधर्म इन्द्र की भी यही स्थिति है** सारे के सारे १६ वें स्वर्ग तक के देव उसके साथ हो जाते हैं, मुखिया वो ही रहता है। बारहवें स्वर्ग तक तो देवर्द्धिदर्शन है क्योंकि जहाँ तक संक्लेश है अथवा जहाँ तक शुक्ल लेश्या नहीं है वहाँ तक ऊपर वाले होते हुए भी नीचे के पद को देख करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेते हैं। **मिथ्यादृष्टि सौधर्म इन्द्र नहीं बन सकता, लोकपाल नहीं बन सकता, प्रतीन्द्र भी नहीं बन सकता।** हाँ, अहमिन्द्र तो हो सकता है, नौ ग्रैवेयक का अहमिन्द्र हो सकता है। इन्द्र से अहमिन्द्र बड़ा है ना? कथञ्चित् नहीं क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि भी हो सकता है किन्तु इन्द्र तो सम्यग्दृष्टि ही होगा।

वैसे १२ वें स्वर्ग वालों में भी शुक्ल लेश्या रहती है लेकिन सभी को शुक्ल लेश्या रहती ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। पद्मलेश्या का अंतिम छोर १२ वाँ स्वर्ग माना है फिर उसके उपरान्त ऊपर के स्वर्गों में शुक्ल लेश्या ही होती है। संक्लेश परिणाम की सीमा १२ वें स्वर्ग तक ही मानी है, उससे ऊपर नहीं। मुमुक्षु पद देवेन्द्र पद क्या है? जो हमेशा-हमेशा मोक्षपद की अभिलाषा रखते हैं, वे देवेन्द्र माने जाते हैं उनके द्वारा भी जो वंद्य हैं वे '**देविंदविंद वंदं**' हैं।

भवणालय चालीसा विंतर देवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर चउवीसा चन्दो सूरो णरो तिरियो॥

ये १०० इन्द्रों की परिकल्पना इस ग्रन्थ में की गई है। भवनवासी के ४०, व्यन्तरों के ३२, कल्पवासी के २४, चन्द्र, सूर्य, चक्रवर्ती, सिंह ये १०० इन्द्र हैं किन्तु सहस्रनाम एवं प्रतिक्रमण पाठ में और **शान्ति भक्ति** की अञ्चलिका में देवेन्द्र शब्द की व्याख्या में इन्द्र, प्रतीन्द्र की कल्पना न करते हुए ३२ देवेन्द्र माने हैं। भवनवासियों के १०, व्यन्तरों के ८, कल्पवासियों के १२, चन्द्र और सूर्य ये ३२ देवेन्द्र माने जाते हैं। इनमें इन्द्र प्रतीन्द्रों की कल्पना नहीं है। १०० इन्द्रों की संख्या में तो प्रतीन्द्रों को भी जोड़ा है। यहाँ पर चन्द्र और सूर्य को देवेन्द्र स्वीकार किया है, किन्तु समवसरण में १०० इन्द्रों की अपेक्षा नर और तिर्यञ्च इन दोनों को मिला करके १०० इन्द्र कहा किन्तु देवेन्द्रों में तो इन दोनों को छोड़ना ही पड़ेगा। मनुष्य-तिर्यञ्च में प्रतीन्द्र कोई होता नहीं। चक्रवर्ती का कोई प्रतिचक्रवर्ती होता नहीं। नारायण-प्रतिनारायण यह व्यवस्था अलग है। अष्टापद इन्द्र और सिंह प्रतीन्द्र है ऐसा मानें क्या? ऐसा नहीं है ३२ देवेन्द्र कहने से देवों में ही गर्भित करेंगे। ''**सूर्याचन्द्रमसौ**'' ये विभक्ति तोड़ी गई थी, इससे यह फलितार्थ निकलता है कि चन्द्र और सूर्य इन्द्र-प्रतीन्द्र हैं। जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदेश मिला कि जीव और अजीव दो द्रव्य हैं। अतः जीव और अजीव द्रव्य के विषय में कथन करते हुए प्रथम जीव द्रव्य का वर्णन करते हैं–

एक बार आधुनिक वैज्ञानिक के सामने उनकी बात लेने के लिए एक बात रखी-ये बताओ वर्षा होती है तो इतने बड़े-बड़े मेंढक अनायास कहाँ से आ जाते हैं ? इसके बारे में विज्ञान क्या कहता

है ? तो वो कहते हैं–महाराज! ये अभी के जन्मे नहीं हैं, पहले के ही हैं जब कभी कोई चक्रवात जैसा चल जाता है या समुद्र में जब तूफान उठ जाता है तो वे आकाश में चले जाते हैं और जैसे ही वर्षा होती है तो वे नीचे आ जाते हैं ये उनका विज्ञान है, किन्तु जीव विज्ञान और उसकी उत्पत्ति के बारे में जैनदर्शन अपनी अलग मान्यता रखता है क्योंकि सम्मूर्च्छन जीव के लिए किसी स्त्री और पुरुष के संयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। पुनर्जन्म की मान्यता विज्ञान के सामने नहीं के बराबर है। पुनर्जन्म और मरण इसकी सिद्धि के लिए हमें सर्वप्रथम कर्म सिद्धान्त को स्वीकारना होगा उसके बिना हम जीव विज्ञान तक पहुँच नहीं सकते।

कुछ लोग कहते हैं जीवादि द्रव्य जब तक देखने में नहीं आते तब तक हम उसको उस रूप में स्वीकार भी नहीं कर सकते। आनुमानिक ज्ञान अनुमान से उत्पन्न हो जाता है और ये वस्तुतः संतोष जनक भी नहीं होता है। प्रमाण के बाद अनुमान का नम्बर आता है और प्रमाण आज प्रत्यक्ष रूप में वर्तमान में नहीं है, इसलिए धूम्र के साथ अग्नि की व्याप्ति जिन्होंने जहाँ देखी थी जानी थी, उसी के अनुसार जान लेता है लेकिन जीव विज्ञान है कि नहीं ? इसके बारे में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है, सिद्धान्त नहीं और मन के अलावा कोई साधन नहीं। यह बात अलग है कि हम कुछ पढ़ करके, सुन करके, अनुमान लगा करके आदि-आदि इसके बारे में कुछ निर्णय ले लेते हैं तो ये निर्णय जितने हैं, ये विश्वास के बल पर ही आधारित होते हैं। आँख से देख करके विश्वास करना और अनुमान पर विश्वास करना इन दोनों में बहुत अंतर है। मोक्षमार्ग में इसलिए सर्वप्रथम कसौटी पर कस करके निर्णय लेने को मना किया है। सर्वप्रथम विश्वास लाओ लेकिन हम किसके ऊपर विश्वास लायें? सारे के सारे साथी सहपाठी समवयस्क हैं, केवली श्रुतकेवली तो हैं नहीं। मोक्षमार्ग विश्वास के बिना चलता नहीं लेकिन जिसके ऊपर हम विश्वास करते हैं वह होगा कि नहीं ये बात बार-बार आ जाती है। जैसे–कोई सौदा किया जाता है तो सोचते हैं क्या मालूम होगा कि नहीं? व्यक्ति तो विश्वसनीय है, लेकिन जमाना अलग आ गया है, ऐसा सोचकर भी सौदे में विश्वास तो करना ही पड़ता है पर भीतर से पूर्ण रूप से संतुष्टि नहीं हो पाती है।

सब लोगों के अपने-अपने शास्त्र हैं, और सब अपने-अपने शास्त्रों को प्रामाणिक मानते हैं। इन सब बातों को ले करके जीव का सही-सही ज्ञान नहीं हो पाता है, क्योंकि अजीव ही तो उत्पन्न होता हुआ और मरता हुआ देखा जाता है किन्तु जीव उत्पन्न हुआ और मरता हुआ देखने में नहीं आता है।

आधुनिक विज्ञान के पास आनुमानिक ज्ञान भी एक प्रकार से प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उसकी उनके पास THEORY कुछ भी नहीं है, इसलिए जीव विज्ञान को जानने से पहले कर्म सिद्धान्त को जानना आवश्यक होता है। कर्म सिद्धान्त देखने में नहीं आता मानने में आता है। जैसे–ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को नहीं होने देता यह सब कर्म का काम है। कर्म सिद्धान्त के अलावा कुछ

है ही नहीं। सूर्य का प्रकाश दिखने में आ रहा है, सूर्य की गति दिखने में नहीं आती। जीव का जन्म व मरण कर्म सिद्धान्त के बिना विज्ञान सिद्ध ही नहीं कर सकता।

सहज का अर्थ होता है–जिसमें अन्य तत्त्व का कोई आधार नहीं होता है निसर्ग है, NATURAL (प्राकृतिक) है, जिसमें अन्य कोई पुरुषार्थ का हाथ नहीं होता है, सहज है, शुद्ध है, अशुद्धता से रहित है, ऐसा चैतन्यमय लक्षण वाला जीव द्रव्य होता है। WIRE (वॉयर), बल्ब, पंखादि का नाम CURRENT (बिजली) नहीं है पर वॉयर के बिना CURRENT (बिजली) का प्रवाह संभव नहीं है। उसी प्रकार शरीर सो आत्मा नहीं किन्तु शरीर के बिना भी संसार अवस्था में आत्मा नहीं है। इस अजीव सिद्धान्त को भी स्वीकारने के लिए जीव सिद्धान्त को जानना आवश्यक होता है, इसलिए काय के साथ 'इकण्' प्रत्यय लगाकर कायिक शब्द का प्रयोग जैनाचार्यों ने लगाया है। जैसे–जल और जलकायिक में अंतर है, जल एक जड़ वस्तु है और उसमें जीव आ करके उत्पन्न होता है तो उसको अपना कायिक बना लेता है, हम उस जल को जड़ नहीं कहेंगे। जल की उत्पत्ति मुख्य तौर पर एक प्रकार से पुद्गल की परिणति रूप है। वर्तमान विज्ञान H_2O से जल का उत्पादन मानता है, ये सारी–सारी पुद्गल की परिणतियाँ हैं, अभी इसमें जीव नहीं शुद्ध जल है, किन्तु उस जल में योनि स्थान होने से अंतर्मुहूर्त के उपरान्त कोई जलकायिक नामकर्म को लेकर आता है तो उस जल को जलकायिक बना देता है और यदि मानलो उसमें से वह जीव निकल जाता है तो वह जलकाय है और जल को काया बनाने के लिए जा रहा है, उसको जल जीव बोलते हैं। अग्नि में अंतर्मुहूर्त तक जीव नहीं रहते हैं। अग्नि का उत्पादन घर्षण से होता है, अत: वह अंतर्मुहूर्त तक शुद्ध है, किन्तु अंतर्मुहूर्त उपरान्त उसमें उष्णता आने पर गर्मी के कारण त्रस जीवों का भी घात हो जाता है। जलकायिक जीवों को कभी भी छाना नहीं जा सकता किन्तु जलाश्रित जो त्रस जीव हैं उन्हें वस्त्र से छानने को कहा गया है। आप दूध को छानते हैं या उसके आश्रित कोई वस्तु है उसको अलग करने के लिए छानते हैं ? इसी प्रकार जल के आश्रित त्रस जीवों को निकालने के लिए जल छानते हैं। पागल होने के उपरान्त भी **मैं हूँ** का संवेदन नहीं छूटता इसलिए दूसरों को समझाने के लिए सारा–सारा परिश्रम करना गलत है। **वैरागी का काम वक्ता बने बिना भी चल जाता है।** अनुभव करने के लिए जीव का लक्षण चेतना यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। मिट्टी आदि एकेन्द्रिय जीव स्थावर होने पर भी उसमें संवेदना है। जीव द्रव्य से विपरीत अजीव द्रव्य माना जाता है, जो देखने में तो आता है किन्तु संवेदन शून्य होता है। जीव द्रव्य सुख और दुख का अनुभव करता है, पर देखने में नहीं आता। जैसे–जल ठंडा है उसे थोड़ा–सा गरम किया गया कथञ्चित् आनुमानिक दृष्टि से छू करके कह सकते हैं, लेकिन देख करके परीक्षण नहीं हो सकता। उसी प्रकार जल जब जलकायिक बनता है तो देखने में नहीं आता लेकिन जीव स्वयं में संवेदन अवश्य करता है। दर्शनोपयोग के साथ भी संवेदन होता है। ज्ञानोपयोग के बाद दर्शनोपयोग और दर्शनोपयोग के बाद ज्ञानोपयोग होना ये अनिवार्य है। जैसे–पेंडुलियम है वह कभी ६ से ५ पर

आ जाता है कभी ६ से ७ की ओर चला जाता है। उसी प्रकार दर्शनोपयोग फिर ज्ञानोपयोग। एक साकार संवेदन होता है और एक निराकार संवेदन होता है। भेद विज्ञानी इन विशेषणों को समझता है किन्तु कितने भी ज्ञानी क्यों न हों केवली भी एक-दूसरे का संवेदन नहीं कर सकते। स्व का संवेदन जब होता है उस समय आनन्द ही आनन्द आता है, उस समय का आनन्द अन्यत्र देखने को मिलता ही नहीं, फिर भी उस कार्य को करने वालों की संख्या नहीं के बराबर है। अजीव द्रव्य की सिद्धि के लिए दूसरों की सहायता लेनी पड़ती है, लेकिन जीव द्रव्य की सिद्धि के लिए किसी की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार अजीव द्रव्य का संवेदन नहीं होता उसी प्रकार दूसरे जीव द्रव्य का भी संवेदन नहीं होगा चाहे कितने ही पास-पास बैठ जाओ। जिस प्रकार समानांतर दो रेखायें कभी भी नहीं मिलती भले ही पास-पास एक बाल का अंतर रखकर ही खींच लो। उसी प्रकार दो द्रव्य चाहे सजाति हो या विजाति कभी भी नहीं मिलते। एक पुद्‌गलद्रव्य दूसरे जीव द्रव्य में नहीं मिलता तो जीव द्रव्य भी पुद्‌गलद्रव्य में कभी नहीं मिलता। एक जीव द्रव्य दूसरे जीव द्रव्य रूप नहीं होता। एक पुद्‌गलद्रव्य दूसरे पुद्‌गलद्रव्य रूप भी नहीं होता। आज तक किसी भी दर्शनकार ने कर्म को मोही नहीं कहा, माया कर्म को मायावी ऐसा किसी ने घोषित नहीं किया क्योंकि आप करो माया और कर्म को मायावी कहो ये गलत है, उसके उदय में हम मायावी बने हैं, ये कह सकते हैं लेकिन मायावी बनने का श्रेय जीव को ही जाता है।

व्यवहारनय और निश्चयनय क्या है? व्यवहारनय जैसे-किसी आत्मा ने किसी के साथ दुर्व्यवहार के भाव किए जिससे कर्म का बंध हो गया लेकिन इससे नोकर्म की पिटाई हो गयी। जेल में डाल दिया जाता है तो उस समय किसको दुख हो रहा है? जीव को। पिटाई किसकी हो रही है? अजीव की, कर्म भी अजीव है। दूसरी बात यह है कि-दूसरे की पिटाई कर दी तो आपको दुख नहीं होता। यदि दूसरे के साथ मैत्री हो, रिश्ता हो तो सात समंदर के पार भी किसी ने उसकी पिटाई कर दी और खून आ गया तो आँखों से चौंसठ धारा बहना प्रारम्भ हो जाती है, धक्का लगता है तो पीड़ा हो जाती है, मैं मर सकता हूँ लेकिन ऐसी बात नहीं सुन सकता, ऐसा मोह होता है।

राम से कहा-लक्ष्मण का मरण हो चुका है, यह बात सुनते ही रामचन्द्रजी कहते हैं-तू मर जाए, तेरा बाप मर जाए, तेरा भाई मर जाए, लेकिन मेरे लक्ष्मण को कोई नहीं मार सकता। ये क्या है? ये मोह है। मोह को मोही नहीं कहा गया अपितु जैनदर्शन में जीव को ही मोही कहा गया है "**मोहो यस्य विद्यते सः मोही**" मोहित करने की क्षमता इसमें है, यही भाव कर्म है और कर्म के पास राग पैदा करने की शक्ति या रसायन है, उस शक्ति का नाम "**तस्सत्ती भाव कम्मं तु**" इसलिए "**मोहो जीव**" जीव का लक्षण है, यह कहने में कोई बाधा नहीं होती। वास्तव में जीव का लक्षण जो शुद्ध चैतन्य है वह दूसरे के द्वारा प्रवृत्त नहीं है और दूसरा द्रव्य प्रवेश भी नहीं कर सकता। जैसे-तेल तो तेल है, जल तो जल है। जल का स्वभाव तेल में नहीं, तेल का स्वभाव जल में नहीं क्योंकि दोनों

लक्ष्मण का मरण होने पर रामचन्द्रजी का विलाप

के गुण धर्म भिन्न-भिन्न हैं, यह स्वाभाविक बात है, किसी की वजह से नहीं है। आपकी कृपा से ही हम रह रहे हैं ये व्यवहार है। वास्तव में जीव किसी के आधार से नहीं रह रहा है। जीव पुद्‌गल आदि सब द्रव्यों में प्रमेयत्व नाम का सहज गुण है। यह व्यवहार स्व और पर के विभाजन से दो प्रकार का है सामान्य गुण जितने भी हैं वो भी एक दूसरे के ऊपर DEPEND नहीं हैं। केवली भगवान् ने सबको जाना है, मगर जब ये केवली भगवान् नहीं थे, तब उस समय यह सब नहीं था ऐसा है क्या? हमने जब जाना देखा उस समय से हुआ है क्या? पुराने नक्शे में पहले अमेरिका नहीं था क्या? था तो पहले भी किन्तु विज्ञापन नहीं था। अभी भी अमेरिका वहीं पर है, जहाँ पहले था। केवली भगवान् ने जाना इसलिए है ऐसा नहीं। **कोई भी द्रव्य किसी भी द्रव्य की वजह से नहीं है, नहीं तो स्वतंत्रता समाप्त हो जायेगी।** चाहे वह जड़ हो या चेतन हो इसलिए "**सहज शुद्ध चैतन्यादि लक्षणं जीव द्रव्यं**" आदि शब्द से सारा-सारा विषय आपके सामने आ गया। द्रव्य शुद्ध है और जो पर्यायगत शुद्धि और अशुद्धि है, उसके बारे में हम कहना चाहते हैं– पर्याय, द्रव्य के किसी कोने में है या आधे में है या पूरे में है? तो एक कोने में नहीं, किन्तु सर्वांगीण है। ऐसी स्थिति में द्रव्य का जो क्षेत्र है, उस पूरे क्षेत्र में उसकी पर्याय की परिणति हुई ऐसा हम कह सकते हैं।

पाँच लीटर पानी ले लिया और भगोने में उसको भर दिया नीचे से आग लगा दी तो पानी गरम हो गया। अब हम पूछना चाहते हैं-पानी गरम हो गया क्या? पीछे से आवाज आयी, हाँ हो गया, वह कहता है देख लो। अंगुली डुबो दी, हाँ-हाँ, गरम हो गया। अब हम पूछना चाहते हैं–आपने २ सेन्टीमीटर अंगुली डुबो दी, नीचे तो आपने नहीं डुबोई आजू-बाजू में भी पानी है उसको भी नहीं देखा तो पूरा पानी गरम हुआ यह आपने कैसे जाना? किस आधार पर जाना? नीचे भले ही अग्नि लगी हो लेकिन उससे समान रूप से सर्वत्र उष्णता का अनुपात मिलता है। **ये पर्याय जो है सर्वांगीण होती हैं, द्रव्य के एक-एक प्रदेश पर पर्याय का अस्तित्व होना अनिवार्य है। पर्याय को तो हम अशुद्ध माने और द्रव्य को त्रैकालिक शुद्ध माने ऐसा नहीं है।** जो स्वभाव है वो त्रैकालिक होता है स्वभाववान हुआ द्रव्य जो और उसकी पर्यायें जो उससे पैदा होती हैं वो हो गई अशुद्ध अर्थात् उत्पादक शुद्ध और उत्पाद अशुद्ध हो, ये कैसी बात है? गरम स्वभाव पानी का है और ठंडा रहना भी उसका स्वभाव है, यदि स्वभाव नहीं होता तो गरम नहीं होता वैसे ही जीव का जो लक्षण है वह था, है और रहेगा। द्रव्य हमेशा त्रैकालिक शुद्ध है, ऐसा नहीं कहा जा रहा है, जैसी पर्याय है, वैसा वह शुद्धाशुद्ध होता है। "**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः**" गुणों को आधार देता है इसलिए वह त्रैकालिक शुद्ध है, ऐसा तो आगम में कहा ही नहीं गया। परिणमन करने वाला तो शुद्ध है और परिणमन जो हो रहा है वह अशुद्ध है, मतलब आप तो शुद्ध हैं किन्तु पर्याय आपकी अशुद्ध है स्वभाव यदि शुद्ध है तो उसका परिणमन भी शुद्ध होना चाहिए। जैसे–कोई भी छात्र अध्ययन करके परीक्षा देने गया और अच्छे से उसने परीक्षा दे दी, परिणाम सामने आया। परिणाम किसका? जिसने परीक्षा

दी उसी का परिणाम आ गया, परिणाम का कभी भी परिणाम नहीं आता। इससे स्पष्ट है कि पर्याय का स्वामी पर्याय नहीं द्रव्य ही होता है। स्वामी शुद्ध हुआ और उसकी पर्याय, परिणाम अशुद्ध हो ऐसा हो ही नहीं सकता, लेकिन जो अशुद्ध होगा वही शुद्ध होने की इच्छा रखेगा। हमें त्रैकालिक जीव को पकड़ना है।

किसी ने चोरी कर ली, उसको चोरी के भाव हो गये तो भावों की पिटाई करो हमारी क्यों कर रहे हो? हम तो शुद्ध हैं। द्रव्य तो शुद्ध है तो द्रव्य की पिटाई नहीं कर सकते न्यायालय में यही होता है। भाव चले गये, भाव तो भाव हैं हम तो शुद्ध हैं हमारी पिटाई नहीं कर सकते क्योंकि कर्मोदय से भाव हुए थे कर्म उदय हो गया, भाव भी चले गये। कर्म का उदय था वह उदय भी चला गया। अब हमें भी गुस्सा नहीं, आपको भी नहीं होना चाहिए। चाहे शुद्ध मानो तो भी द्रव्य की ही पिटाई होगी बल्कि शुद्ध होगा तो वह रोयेगा नहीं और बुरा कहेगा नहीं क्योंकि जो शुद्ध होता है, उसको तो कोई फर्क पड़ने वाला ही नहीं है, उसकी कितनी भी पिटाई होती रहे उसको कोई फर्क पड़ने वाला ही नहीं है। स्वभाव शुद्ध मतलब पर का उसमें प्रवेश नहीं। जैसे–एक सफेद स्फटिक मणि है, दो इंच लम्बी–चौड़ी आधा किलो वजन की अब उसके सामने गुलाब फूल रखते ही वहाँ गुलाबी रंग फैल गया, सफेदी चली गई किन्तु आकार और वजन ज्यों का त्यों बना रहा। अब गुलाबी रंग जो आया है तो स्फटिक में गुलाब तो घुसा नहीं और गुलाब ने जबर्दस्ती भी नहीं की यदि जबर्दस्ती कर देता तो वहाँ पर जो कंकर–पत्थर हैं, उनको भी गुलाबी बना देता किन्तु नहीं बनाया। अब उसमें यदि गुलाबीपना आ गया है तो उसका वजन भी बढ़ना चाहिए लेकिन यहाँ गुलाबीपना होकर भी वृद्धि–हानि नहीं हुई, इस अपेक्षा से स्वभाव उसका छूटा नहीं लेकिन स्वभाव में विभावपना आया उसकी अशुद्धि के कारण। उसकी यह तत्समय की योग्यता है। समय मतलब काल नहीं होता, तत्समय अर्थात् उस–उस वस्तु की योग्यता। पत्थर में वह योग्यता नहीं थी इसलिए वह गुलाबी नहीं हुआ। अज्ञानी बनने की योग्यता आपमें थी, पत्थर में नहीं। वह ज्ञानी था ही कब, जो अज्ञानी बने? इसलिए स्वभाव कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता। आकार में असंख्यात प्रदेश थे, उनमें असंख्यात प्रदेश ही रहे गुलाब के कारण कोई भी हानि–वृद्धि नहीं हुई इसलिए स्वभाव त्रैकालिक है। यदि शुद्ध, अशुद्ध नहीं हुआ तो उपदेश की भी क्या आवश्यकता है? जो शुद्ध है वही अशुद्ध हुआ है यह त्रैकालिक सत्य है। यह अशुद्धि पुद्गल की नहीं जीव की है। हमारे पास यह सामर्थ्य है कि परिणामों को शुद्ध बना सकते हैं। अनादिकाल से पर्याय ही अशुद्ध नहीं, पर्याय तो क्षणिक है द्रव्य स्वयं दोषी है। जो त्रैकालिक होता है, वही मोही बनता है। जो तात्कालिक होता है वह 'इन्' प्रत्यय का मालिक नहीं हो सकता। गुण कभी गुणी, पर्याय कभी पर्यायी, परिणाम कभी परिणामी नहीं हो सकता। गुण यदि गुणी बन जाए तो द्रव्य यह शब्दकोश से ही समाप्त हो जाए। अनंत गुण का मालिक एक गुणी होता है, गुण यदि गुणी बन जाए तो वह गुणों के आश्रयदाता होंगे तो रखने के लिए गुण के पास प्रदेश तो हैं नहीं क्योंकि

एक गुलाब का फूल उसके सामने पारदर्शी स्फटिक मणि है, वह भी गुलाब के रंग की दिखाई दे रही है।

''**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा:**'' निर्गुणा अर्थात् जिनके पास गुण नहीं है उसका नाम निर्गुण है जो द्रव्य के आश्रित है। **द्रव्य वही है जो गुणवान होता है। गुण वही है, जो द्रव्य का आश्रय ले करके चलता है, आश्रय लेना गुण का एक लक्षण है।** निमित्त और नैमित्तिक सम्बन्ध को यदि लेते हैं तो निमित्त को मुख्य मानना पड़ेगा क्योंकि आत्मा में जो अशुद्धि आयी है, वह स्वयं नहीं आयी है। निमित्त यहाँ बलवान हो गया क्योंकि उसने आपको मोही बना दिया, सिद्धों को नहीं। सिद्ध परमेष्ठी के आत्मप्रदेशों के ऊपर निगोदिया जीव विद्यमान हैं। मोह निगोदिया जीवों को मोही बना रहा है, लेकिन सिद्ध परमेष्ठी को नहीं बना रहा। जिस प्रकार जो जेलर है वह जेल में रहता है। जेलर यदि बाहर हो जाए तो कैदी गड़बड़ करता है, इसलिए जो जेलर है कैदी के पास रहता है पर कैदी नहीं कहलाता। हम गुण को मोही नहीं कहेंगे। जिसके पास एक पैसा है क्या उसे धनी कहेंगे? नहीं बाहुल्यादि बिना धनी नहीं है और बाहुल्य गुणों के पास हो ही नहीं सकता। दर्शन गुण भी वहीं पर है, ज्ञान गुण भी वहीं पर है किन्तु दर्शन ने ज्ञान को अपनाया नहीं, ज्ञान ने दर्शन को अपनाया नहीं, द्रव्य ने दोनों को अपनाया और दोनों के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया लेकिन ये भी कहा–ध्यान रखना हमारे आश्रय से रहते हो। ज्ञान कभी मोही हो ही नहीं सकता, यदि वह परिणमन करे तो ज्ञान रूप ही परिणमन करेगा। मोही रूप में कभी भी परिणमन नहीं होता। हाँ, ये बात अलग है कि जैनदर्शन में गुण और द्रव्य ये एक आकार वाले हैं। एकाकार का मतलब जितना द्रव्य का आकार है, उतना ही गुण का आकार सिद्ध होता है। जैसे–नीलकमल है तो कमल बड़ा है और नीलापन छोटा हो, ऐसा नहीं या नीलापन बड़ा हो और कमल छोटा हो ऐसा भी नहीं तभी तो उसको नीलकमल कहा जाता है लेकिन कमल सो नीला नहीं, नीला सो कमल नहीं। यह द्रव्य और गुण का अपने आप में स्वभाव है। नीला ये विशेषण है और विशेष्य है कमल। विशेष्य जो है वह द्रव्य होता है और विशेषण उसका गुण होता है। गुणवत्ता के माध्यम से ही द्रव्य का मूल्यांकन, नाम और ख्याति होती है यह सिद्ध है। ''**विशेष्य वाच्यस्य विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत्**'' यह '**विनियम्यते**' शब्द बहुत अच्छा है जिसके लिए विशेषण नियुक्त किया जा रहा है, उसका नाम विशेष्य है और वह विशेषण के माध्यम से ही विशेष्य की पहचान होती है। श्रद्धा, चारित्र, सुखादि जीव के गुण हैं, लेकिन चेतन स्वरूप न होने से इसके माध्यम से किसी की पहचान नहीं हो पाती। विशेष गुणों के बिना द्रव्य की पहचान नहीं होती। जैसे–धर्म और अधर्मादि द्रव्य का गति और स्थिति हेतुत्व है। वैसे ही जीव के पास उपयोग लक्षण है, चैतन्य लक्षण है। जैसे–आप अपनी बात बच्चों से मनवाने के लिए अन्य बच्चों से अपने बच्चे को सयाना कह करके काम करवा लेते हैं, इसी प्रकार आचार्य कहते हैं–आस्था है, सुख है, भोक्तृत्व है आदि-आदि अन्य लक्षणों की अपेक्षा विलक्षणता जीव में पाई जाती है। सयाना बच्चा समझ लेता है और हओ कह देता है। कहीं पर लक्षण को स्वरूप भी कह दें तो चल जायेगा लेकिन लक्षण को अलग रूप से पहचान का चिह्न बताया है। अनेक श्रेष्ठ बुद्धि वाले विद्यार्थियों में

किसी एक को छाँटना है तो यह विलक्षण बुद्धि वाला है। ऐसा कहकर उसे छाँट लेते हैं। विलक्षण का अर्थ–लक्षण तो है लेकिन अन्य से हट करके हैं। जैसे–माला फेरते हैं तो बीच में मेरु आता है, वो आँख बंद करने के उपरान्त भी जागृत है तो दिखता है, नींद में नहीं। बीच में मेरु के समान जो ऊँचा होता है इसलिए मेरु है। उसी प्रकार अनेक गुण होते हुए भी द्रव्य में लक्षण जो है, वह मेरु का रूप धारण करता है इसलिए हम उस लक्षण के माध्यम से शुद्धत्व को प्राप्त कर लेते हैं पर जागृत अवस्था नहीं रखी तो सामान्य और विशेष सब एकमेक हो जायेंगे। **सबके बीच मिलकर रहें पर अपनी पहचान अलग बनाना चाहिए।** ''मैं कौन हूँ'' ये तो ज्ञान रखना चाहिए। **मैं जीव द्रव्य हूँ ऐसा ही नहीं, जीव द्रव्य होते हुए भी ''मैं आत्म द्रव्य हूँ।'' अपनी पहचान होने से ही मोक्षमार्ग बनता है।** जीव द्रव्य की पहचान से तो अभव्य को भी मुक्ति हो जायेगी लेकिन नहीं होगी क्योंकि अभव्य जानता है कि अनन्तानन्त जीव हैं, लेकिन मैं जीव हूँ ऐसा नहीं जानता। सब लोगों के पास अपनी–अपनी पहचान है, पर बताई नहीं जाती क्योंकि अपनी पहचान तो अपनी पहचान है। जीव की पहचान अलग है और अपनी पहचान अलग है। रात्रि में एकान्त में बैठकर ऐसा गुनगुनाया करो। **''अपनी पहचान तो अपनी पहचान है'' हम दूसरे से या तो अपने को कम मान लेते हैं तो दीनता आती है या अधिक मान लेते हैं तो अभिमान आता है दोनों मान्यता ठीक नहीं हैं।**

कभी–कभी महाराज जी पढ़ाते थे, मैं हिन्दी नहीं जानता था और बोलते चले जाते थे और मुझसे कहते थे बोलो–कैसे बोलें? आपके मुख से तो बोल नहीं सकते। अपनी पहचान तो अपनी होनी चाहिए।

''**जिणवरवसहेण**'' जिन्होंने मिथ्यात्व रागद्वेषादिक को जीत लिया है, इसलिए उन्हें एकदेश जिन कहा जाता है। यदि एकदेश पाप का त्याग करता है तो अणुव्रती कहलाता है और सर्वदेश पाप का त्याग करता है तो महाव्रती कहलाता है। इसी प्रकार यहाँ पर मिथ्यात्व, रागादि भावों को जीतने से एकदेश जिन कहे जाते हैं। चतुर्थादि गुणस्थान से लेकर ऊपर जैसे–जैसे कर्मों को जीतता जाता है वैसे–वैसे उन्हें एकदेश जिन कहा जाता है। जो केवलज्ञान से युक्त होते हैं, वो पूर्ण जिन माने जाते हैं। जिन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई किन्तु मिथ्यात्व, रागादि को जीत लिया है, ऐसे गणधर परमेष्ठी को श्रेष्ठ एकदेश जिन कहा जाता है।

जो कर्मों को जीतता है इस अपेक्षा से सासादन सम्यग्दृष्टि को चूँकि मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता और जो अनन्तानुबन्धी है, वह मिथ्यात्व सम्बन्धी कोई कार्य नहीं करती, अतः उसको भी जिन कहा गया है। आचार्यों ने कहा है–मोक्षमार्ग रत्नत्रय के साथ हुआ करता है। जैसे–रस्सी में तीन लड़ियाँ होती हैं। एक लड़ (सम्यग्दर्शन)को रस्सी नहीं कहा जाता है। मोक्षमार्ग में जो चारित्र आपेक्षित है, वह चारित्र अविरत दशा तक नहीं है। सम्यग्दर्शन के साथ भी यद्यपि कुछ योग्यता होती है परन्तु उसको उन्होंने चारित्र संज्ञा नहीं दी है, क्योंकि चारित्र संयमासंयम के रूप में पञ्चम गुणस्थान से

प्रारम्भ होता है। आगे बढ़ करके संयम संज्ञा मिलती है। अविरत सम्यग्दृष्टि न इन्द्रिय संयम रखता है और न प्राणी संयम रखता है। अपने प्राणों को तो बचा लेगा किन्तु दूसरों के प्राणों की उसको कोई चिंता नहीं है, अतः आचार्यों ने उसको चारित्र की संज्ञा नहीं दी। यहाँ मिथ्याज्ञान नहीं है, सम्यग्ज्ञान है किन्तु यह ज्ञान चेतना का अंश है ऐसा मानना आगम सम्मत नहीं है। गणधर देवों में भी जो वर हैं, उनको यहाँ पर जिनवर वृषभ स्वीकार किया है। तीर्थंकर परमदेव को यहाँ पर जिनवर वृषभ के रूप में स्वीकार किया है। गणधर परमेष्ठी को जिनवर के रूप में स्वीकार किया है। जो PROFESSOR बनता है वह भी SCHOOL में रहता है TEACHER भी SCHOOL में रहता है लेकिन वह पढ़ता नहीं, पढ़ाता है। वह विद्यार्थी के बीच में रहता है इसलिए उसे भी बड़े विद्यार्थी ऐसा नहीं कह सकते। उनके UNDER में जितने पढ़ते हैं वे छात्र कहलाते हैं, छात्र में और गुरुजी में बहुत अंतर है क्योंकि वो निष्पन्न हो चुके हैं। अध्यात्म शास्त्र में तो शुद्ध को ही नमस्कार किया है। अध्यात्म शास्त्र में व्यवहारनय का आश्रय लेकर गणधर परमेष्ठी को भी एकदेश जिन कहा है, जब वहाँ भी व्यवहारनय की अपेक्षा कहा है तो चतुर्थ गुणस्थान में शुद्ध निश्चयनय कहाँ से आयेगा? शुद्ध निश्चयनय का आश्रय ले करके भूतार्थ का कथन किया जाता है और वह सिद्ध परमेष्ठी के लिए लागू होता है किन्तु १२ वें गुणस्थान के अंतिम समय तक अथवा १४ वें गुणस्थान के अंतिम समय तक एकदेश शुद्ध निश्चयनय का आलम्बन लिया। किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से जिन्होंने हमारे लिए उपदेश दिया है उनके प्रति हम उपकार को स्मरण में रख करके अर्हत् परमेष्ठी को नमस्कार करते हैं। **कहा है -''श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः।''** परमेष्ठियों के प्रसाद से ही श्रेयो मार्ग याने मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है, प्राप्ति होती है इसलिए उनके गुणों की स्तुति करना शास्त्र के आदि में अनिवार्य है। आज हमें मोक्षमार्ग प्राप्त हुआ है, व्यवहार की दृष्टि से ही सही लेकिन वह कितना महत्त्वपूर्ण है कि अनन्तकाल से यह मोक्षमार्ग हमें ज्ञात तक नहीं था कि यह ऐसा भी होता है, यह बात अलग है कि होने के उपरान्त उसका महत्त्व कम हो जाता है। आज विमानों को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता, जितना पहले साइकिल को दिया जाता था। ये लोग कैसे चलाते हैं यह देखने के लिए उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमते रहते थे। जब मिलेट्री वाले मोटर साइकिल लेकर आते थे तो सब काम-काज छोड़ करके उसी को देखने में लग जाते थे। पहले मंदिरजी में ४ बजे घंटी बजती थी, तो मैं उसी घंटी की आवाज को सुनकर उठ जाता था। पहले वस्तु का मूल्यांकन बहुत था और वस्तुएँ कम थीं। कोई कॉलेज जाता था तो देखते थे क्या PERSONALITY है SCHOOL नहीं, कॉलेज जाता है और आज तो कॉलेज जाने वाले,डबल-डबल M.A.करने वाले भी गलियों में घूम रहे हैं, वस्तु का मूल्यांकन गिरता चला जा रहा है।

व्यवहारनय की अपेक्षा से जब हम देखते हैं कि धन्य हैं वह इतने गुणस्थान को पार करके अर्हत् परमेष्ठी हो गये, हम तो एक काम भी नहीं कर पाते, ये कैसे-कैसे काम कर गये। यह चंचल मन

एक समय के लिए भी नहीं टिक पाता वो अंतर्मुहूर्त कैसे टिकाते हैं ? देखो गजकुमार मुनि के ऊपर सिगड़ी जला दी किन्तु उन्हें शुक्लध्यान हो गया। छोटी-सी उम्र के थे, फिर भी टस से मस नहीं हुए। कोई चटका लगा दे तो एकदम झटका लग जाता है। अब बताओ अंतर्मुहूर्त कैसे निकाला, केवलज्ञान प्राप्त करके ही रहे। सम्यग्दृष्टि को ही इसका बहुमान आता है।

''**बारहविहेसुभिक्खुपडिमासु केवलज्ञान कारणं**'' केवलज्ञान का कारण भिक्षु प्रतिमा है, जो विधिपूर्वक साधना करते हैं और केवलज्ञान प्राप्त करके ही रहते हैं। जैसे-SURGEON OPERATION THEATER में PATIENT के अलावा किसी को नहीं बुलाते उसी प्रकार साधक एकान्त में रहकर साधना करते हैं। **अज्ञानी एक रस छोड़ देता है तो दुनिया को पता लग जाता है और वो एक दाना लेकर बैठ जाए तो स्वयं के मन को भी पता नहीं चलने देते। ''नास्तित्व परिहाराः शिष्टाचार प्रपालनम्। पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः''—**इस श्लोक में फल चतुष्टय को जानते हुए ग्रन्थकार शास्त्र के आदि में मन-वचन-काय से इष्ट देवता को नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार-

मंगलणिमित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमायरिओ॥

प्रथम ही आचार्यों ने मंगलाचरण शास्त्र के आदि में किया फिर शास्त्र लिखने का क्या निमित्त है? स्व के निमित्त किया जाता है अथवा पुण्य की प्राप्ति के लिए, सर्व विघ्न के नाश के लिए, शिष्यों को सम्बोधन के लिए, कर्म निर्जरा के लिए, अपने ज्ञान की दृढ़ता के लिए अपनी स्मरण शक्ति कितनी है यह देखने के लिए इत्यादि अनेक निमित्त हो सकते हैं।

इस ग्रन्थ का कितना परिमाण है? श्लोक संख्या-५८, इस ग्रन्थ का नाम क्या है ? द्रव्यसंग्रह। इसके कर्त्ता कौन हैं ? श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव। जैसे रूप कहा तो स्पर्श, रस, गंध नहीं कहने पर भी आ ही जाते हैं इसी प्रकार यहाँ भी मंगल कहने से छहों आ जाते हैं। कहीं-कहीं पर नमोऽस्तु तो नहीं किया और गुणानुवाद किया। ''**गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्व कथा स्तुतिः**'' उनके गुणों का स्मरण करना भी मंगलाचरण है। जिसका व्याख्यान किया जाता है उसका नाम व्याख्येय है। इस प्रकार विशेषण-विशेष्य, वाच्य-वाचक भी जिसको कह सकते हैं। वाचक अर्थात् शब्द और शब्दों द्वारा जिसका कथन किया जाता है, उसको वाच्य या अभिधेय बोलते हैं। ज्ञेय-ज्ञायक, ज्ञाप्य-ज्ञापक, उपकृत-उपकारक, निमित्त और नैमित्तिक भी सम्बन्ध होता है। यह जो व्याख्यान किया वही अभिधान वाचक या प्रतिपादक माना जाता है। अनंत गुणों का भण्डार परमात्मा का स्वरूप वही एकमात्र अभिधेय है, वाच्य है, प्रतिपाद्य है। अब मानलो कोई बहरा है संकेत समझता है। शब्द तो समझ में नहीं आयेंगे क्योंकि सुनता नहीं है इसलिए आँखों के माध्यम से इस संकेत को देखता है।

'हूँ' का अर्थ–आओ, जाओ, बैठ जाओ। इन सबका अर्थ यदि 'हूँ' है और भी मानलो कोई सूक्ष्म संकेत से उसको प्रशिक्षित किया गया है तो उसको भी वह पकड़ लेगा इसलिए यह अभिधान का बहुत स्थूल संकेत है, बताने के उपरान्त तो कोई भी कर देगा।

हमारा लड़का देखो छोटा है लेकिन है सबसे बड़ा, किसी को संकेत दिया जाता है तो वह बिना कहे ही काम करके ले आता है। एक बार लड़के की मानलो ऐसी प्रशंसा कर दी तो वह जीवन भर याद रखता है। मतलब यह है कि अभिधान के बिना (बिना कहे) आज कुछ होता ही नहीं। घंटी नहीं बजे तो सो के उठते नहीं पहले के समय में घड़ी इत्यादि कुछ भी नहीं हुआ करते थे और मुनिराज जंगलों में रहते थे मानलो स्थापना का दिन तो मालूम था लेकिन निष्ठापन का दिन कैसे पता चलता था क्योंकि आँखें बंद हैं, तारामण्डल देखा ही नहीं? तो उनके पास अंतर्ज्ञान रहता है जिससे सब ज्ञात हो जाता था ये अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अब तो अलार्म के स्थान पर घड़ी में संगीत आने लगा कई लोग उस संगीत में ही लीन हो जाते हैं, कब घंटी बज गई पता ही नहीं चलता। जैसे–भक्तामर के ४७ श्लोक कब निकल गये पता ही नहीं चलता। पहले मूल से काम चलता था फिर बाद में छाया में आ गये, फिर टीका–टिप्पणी आदि कर दी। लेकिन आज तो मूल गाथा का पता ही नहीं लगता कि कहाँ से प्रारम्भ हुई है, शोध का जमाना है ना।

प्रयोजन क्या है ? तो व्यवहार नयापेक्षा छह द्रव्यों का परिज्ञान प्राप्त करना है निश्चय नयापेक्षा अपनी जो निरंजन स्वरूप शुद्धात्मा की संवित्ति है, उससे उत्पन्न हुआ निर्विकार परमानंद एक लक्षण वाला सुधारस का रसास्वादन रूप स्वसंवेदन करने रूप जो निजात्मा के जानने रूप ज्ञान है, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। संवेदन क्या हो रहा है ये किसी को मालूम नहीं होता? आपका मुख चल रहा है इस अपेक्षा से आप कुछ खा रहे हैं, लेकिन आप जो खा रहे हैं, उसमें कौन–सा स्वाद आ रहा है, ऐसा देखने वाले को ज्ञात नहीं होता। मानलो सामने वाला गलत भी कह देता है कि–मैं मीठा खा रहा हूँ। लेकिन मुख का अलग ही आकार दिख रहा है तो उसको संदेह पैदा हो जाता है और कहता है–नहीं, आप मीठा नहीं खा रहे, चरपरा खा रहे हो। इसी तरह स्व–संवेदन निश्चय का विशेषण बन जाता है। हमारी चेष्टाओं के माध्यम से जो देखने में आ रहा है, वह दूसरों के ज्ञान का विषय बन सकता है। कला में और अनुभव में अंतर है। कला की अभिव्यक्ति द्वैत्व के साथ ही हुआ करती है और द्वैत्व ही उसका मुख्य रूप से प्रयोजन रहता है किन्तु अनुभूति में अभेद की मुख्यता रहती है। **अभेद की माँ मानी जाती है अनुभूति।** (मूकमाटी महाकाव्य) संवेदन जो होता है वो अकेले के लिए ही होता है इसलिए निश्चय में तो अकेले का ही कल्याण होता है। व्यवहार से कथञ्चित् स्व और पर दोनों का कल्याण होता है। कला, शब्द और गीत इत्यादि के माध्यम से आत्मानुभूति का दिग्दर्शन नहीं किया जा सकता। जैसे–तरंग हवा के झोंके के कारण पानी से पृथक्

दिखने को फिर भी उपलब्ध हो जाती है लेकिन जल का रंग कभी भी जल से पृथक् देखने को उपलब्ध नहीं होता, वह तन्मय ही रहता है। अथवा जल का जो स्वाद है–मैं खारा हूँ , मीठा हूँ या क्षीरसागर का हूँ, ऐसा वो कभी भी प्रदर्शित नहीं करता। उसका तो स्वाद, जब पिया जायेगा तब आयेगा। मानलो पाँच व्यक्ति एक साथ उस क्षीर जल का स्वाद ले रहे हैं तो उस समय किसी को बताते नहीं। एक–दूसरे को यदि बताते हैं तो उस समय वो स्वाद से वंचित हो जाते हैं। स्वाद जो लिया जाता है वह एकान्त से अपना ही होता है, दूसरे को भी यदि स्वाद दिलवाना चाहते हो और उसका यदि कर्मोदय हो तो वह स्वाद नहीं ले सकता जैसे–

पुण्य योग से ही मिले, भली वस्तु का योग।
दाख पके तब काग के, होय कंठ में रोग॥

सावन में पशु–पक्षी जो होते हैं, वो चारों तरफ नंदनवन की हरियाली देख करके सोचते हैं कि क्या–क्या खाऊँ, कब–कब खाऊँ, कैसे खाऊँ? तो खा ही नहीं पाता। सावन जब निकल जाता है तो स्वाद गड़बड़ हो जाता है। जो अच्छे अमीर लोग रहते हैं वे बहुत पैसा खर्च करते हैं और बहुत अच्छी चीजों का सेवन करते हैं। क्या सेवन करते हैं? भोजन नहीं, अच्छी क्वालिटी की दवाई का सेवन। वो अच्छा खा लें संभव नहीं। ४० हजार की एक डोज है–२ लाख में ५ इन्जेक्शन अमेरिका से लाकर लगना है इसका और कोई इलाज नहीं। ये अंत में लगाये जाते हैं। पहले नहीं लगाये जाते, लगने में संभव है वो बच जाए या लगाते–लगाते ही चला जाये, थोड़ी बहुत हलचल हो तो लगता है देखो ठीक हो रहा है, यह तो योग संयोग की बात है। इस प्रकार यह स्व–संवेदन का कथन निश्चयनय का आधार ले करके किया जाता है। केवलज्ञान श्रद्धान का विषय तो बन जाता है लेकिन वह संवेदन में इस रूप में नहीं आ सकता है। जिस रूप में निश्चयनय का विषय आता है। व्यक्ति को अनुभूति तो निश्चयनय का आधार रूप स्वसंवेदन से ही होती है। इस प्रकार यह मंगलाचरण की गाथा पूर्ण हुई।

अब मंगलाचरण के उपरान्त जीव द्रव्य का नव अधिकार द्वारा संक्षेप से कथन किया जाता है।

जीव द्रव्य का अधिकार

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

अर्थ–जो उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, निज शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

सुनो! जीव उपयोगमयी है तथा अमूर्तिक कहलाता।
स्व–तन बराबर प्रमाणवाला कर्त्ता – भोक्ता है भाता॥

ऊर्ध्वगमन का स्वभाव वाला सिद्ध तथा है अविकारी।
स्वभाव के वश विभाव के वश कसा कर्म से संसारी ॥२॥

तत्त्वार्थसूत्र में "**जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्**" सूत्र कहा है, तो जीव द्रव्य आखिर कैसा है? किसके माध्यम से जीव की पहचान की जा सकती है? विद्यार्थी है उसको कैसे पहचानें ? उसका नाम ले लो। उस नाम के मानलो चार-पाँच विद्यार्थी हैं तो क्या करें ? तो उसके पिता के नाम से, वंश के नाम से पहचानते हैं अन्यथा उसकी उपस्थिति कैसे भरेंगे ? ये बहुत मुश्किल हो जायेगा। गवेषणा में ऐसे कुछ मार्ग हुआ करते हैं, जिससे जीव द्रव्य की पहचान हम कर सकते हैं।

"**जीवो उवओगमओ**"-आत्मा उपयोग मय है। 'मयट्' प्रत्यय जो लगाया है वह अपने आप में कुछ मायने रखता है। जैसे-"**हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजत हेममयाः**" ये सूत्र आता है जिसमें कहा जा रहा है कि-पर्वत हेममय हैं, रजतमय हैं अर्थात् ये सारे के सारे स्वर्ण आदि के हैं, फिर भी कुछ विद्वानों का कहना है कि-उसके समान हैं स्वर्णमय, चाँदीमय नहीं हैं, ऐसा अर्थ निकाला जाता है लेकिन 'मयट्' प्रत्यय से तन्मय उस रूप है। यदि धूल या मिट्टीमय हों तो उसमें चित्र-विचित्र मणियाँ जड़ित होना कैसे सम्भव है? इसलिए स्वर्णमय हैं, उसमें ही विचित्र-विचित्र प्रकार की मणियाँ जड़ी हुई हैं। तत्त्वार्थ सूत्रकार ने 'मयट्' प्रत्यय का अर्थ तन्मय के लिए दिया है। मेरु पर्वत के बारे में आता है कि वह कञ्चनमय है, **स्वामी समन्तभद्र महाराजजी** ने **स्तुति विद्या** में एक जगह लिखा है-स्वर्णमय सुमेरु के ऊपर कौआ जा करके बैठ जाता है तो शोभा को प्राप्त हो जाता है। कौआ के कारण उस सुमेरु की शोभा नहीं किन्तु सुमेरु के कारण कौआ की शोभा हो गई। "**शिल्पि विकल्पित कल्पन संकल्पातीत कल्पनैः समुपेतैः**" ऐसा **नन्दीश्वर भक्ति** में आता है। वहाँ पर ऐसे कलर हैं, जिन्हें देखकर सब लोग विस्मित हो जाते हैं, इसको बोलते हैं विचित्रता। यदि 'मयट्' प्रत्यय तादात्म्य का प्रतीक नहीं मानते हैं तो एक ऐसा भी मत है जो गुणों का द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध मानता है, जिससे कि 'मयट्' प्रत्यय लगाने के उपरान्त भी वह 'मतुप्' प्रत्यय के समान जीव से पृथक् मानते हैं, किन्तु दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि जो विशेष गुण हैं उन विशेष गुणों से द्रव्य भिन्न नहीं होगा। द्रव्य का एक प्रकार से समवाय सम्बन्ध होता है ऐसा मानते हैं किन्तु यहाँ पर जो 'मयट्' प्रत्यय है वह आत्मा के साथ उपयोग की तन्मयता बताता है। यदि उपयोग को निकाल दें तो आत्मा कैसे रहेगा अथवा प्राण को जब निकाल दिया तो प्राणी कैसे बचेगा? प्राण अनादिकाल से भले ही हो किन्तु मुक्ति जब मिलेगी उस समय वह प्रकृतिकृत होने से छूट जायेंगे। आत्मा चैतन्य स्वरूप वाला है आत्मा के साथ चैतन्य का तादात्म्य सम्बन्ध था, है और रहेगा। प्रकृति के साथ सम्बन्ध था ही नहीं, हुआ है "**मिले अनादि यतनतैं बिछुड़ें ज्यों पय अरु पानी।**"

दूध से घी को बनाने की प्रक्रिया आपको ज्ञात है तो बना लेते हैं। इसी प्रकार पुरुष और प्रकृति

अलग–अलग हो गये, वैभाविक विशेष गुणों के अभाव होने से पुरुष और प्रकृति में भेद जानना ही सम्यग्ज्ञान है, भेदविज्ञान है, इस भेदविज्ञान से ही मोक्ष का लाभ होने वाला है।

जब वर्षा होती है तब अंकुर के साथ–साथ घास भी उग आती है। किसान अंकुर और बीज को अलग–अलग पहचान जाता है, आप लोग तो अंकुर को ही उखाड़ देंगे और घास की अच्छे से खेती करेंगे इसलिए सम्यग्ज्ञान को सुरक्षित रखो। "**तो किस भाँति पदारथ पाँति कहाँ लहते रहते अविचारी**" मति, श्रुत, अवधिज्ञान ये ज्ञान गुण की परिणतियाँ हैं। यद्यपि "**सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं**" फिर भी ये कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान ये आत्मा के स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि ये त्रैकालिक नहीं रहते हैं और केवलज्ञान को भी स्वरूप नहीं कहा क्योंकि कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ है, निमित्त–नैमित्तिक हो गया। निमित्त से जो उत्पन्न होता है, उसको स्वरूप नहीं कहा, किन्तु पारिणामिक भाव को उन्होंने स्वरूप कहा है, चूँकि वह त्रैकालिक रहता है।

युत सिद्ध और अयुत सिद्ध ये दो हैं–युत सिद्ध याने संयोग समवाय सम्बन्ध और अयुत सिद्ध अर्थात् संयोग रहित तादात्म्य सम्बन्ध। गुण का गुणी से कभी भी सम्बन्ध हुआ नहीं इसलिए उस सम्बन्ध का विघटन भी नहीं होता। युत सिद्ध जैसे–चूने से पुती हुई दीवार। वास्तव में वह मिट्टी की दीवार थी, जैसे–दो पृष्ठों को गोंद से चिपका दो तो वह एक LAMINATION जैसे हो जाते हैं। "**दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड पींजरा देह**" देखो ज्येष्ठ मास की गर्मी में तो शरीर सबके चमकते हैं, गोरे हो जाते हैं और क्वार में काले पड़ जाते हैं। सर्दी के दिनों में पर्तें जमने लग जाती हैं तो अर्थ ये हुआ कि युत सिद्ध में वह पृथक् होता हुआ देखने में आता है, कुछ ही समय में वह तप करके अलग होने लग जाता है, किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध में कितना भी तपाओ अलग नहीं होता है। जैसे–स्वर्ण से पीलापन कभी भी पृथक् नहीं हो सकता बल्कि यूँ कहना चाहिए तपाने से वह और निखर जाता है, कंचन काया जिसको बोलते हैं। दूसरे का प्रभाव तो मात्र ऊपर–ऊपर ही रहता है, भीतर नहीं रहता इसलिए सोने को जहाँ कहीं से भी तोड़–मोड़ के देख लो वहाँ से पीलापन ही नजर आयेगा। ज्ञान भी कभी आत्मा से चिपका हुआ नहीं रहता इसलिए उपयोगमय है, ऐसा कहा। जीव उपयोगमय है, उस उपयोग में उपयोग लगना चाहिए, ये लक्षण है। स्वर्ण की पहचान ३–४ लक्षण से हो जाती है। इसमें कितना सोना है? वजन के माध्यम से, कसौटी के माध्यम से, पीलेपन के माध्यम से, अग्नि के ताप के माध्यम से। उसी प्रकार जीव की पहचान ९ बातों से हो रही है। वर्तमान में उपयोग के द्वारा जीव की पहचान बताई जा रही है, वह ज्ञान–दर्शनादि उपयोग आत्मा का लक्षण माना है।

'**अमूर्तिक**' अमूर्तिक को देख करके न राग होता है न द्वेष होता है। कोई कहे हम तो जीव को देखकर ही राग करते हैं, द्वेष करते हैं, यह औपचारिक भी सिद्ध नहीं होता है; एक–दूसरे को देखा,

यूँ कहते हैं पर कोई दिखा तो है ही नहीं, देह दिखी, हँसता हुआ पुद्‌गल दिखा, हाथ पैर यूँ-यूँ करता हुआ, इसके अलावा और कुछ नहीं दिखा तो उसके माध्यम से आपने यह जीव है यह कैसे कह दिया? यह हमारा है, यह तुम्हारा है, यह मित्र है, तुम उसके पास मत जाओ, वह हमारा वैरी है, यही तो अज्ञान है न। जीव विज्ञान के ज्ञाता श्रमणों को किसी पर गुस्सा नहीं आता। यदि गुस्सा कर लेते हैं तो उसके लिए तत्काल कायोत्सर्ग करके मूर्तिवत् बैठ जाते हैं। हमें हमेशा-हमेशा स्वरूप की ओर दृष्टिपात करना चाहिए क्योंकि जीव की पहचान इसमें बताई जा रही है, मेरा अमूर्तिक स्वरूप है। जैसे-एक पाषाण में तो स्वर्ण मिश्रित है लेकिन सामान्य पाषाण को यदि कसौटी पर घिस दो तो वह कसौटी का पत्थर ही घिस जायेगा। इसलिए उस स्वर्ण पाषाण को कसौटी पर कसा जाता है, केवल पाषाण को नहीं। आचार्यों ने कहा-अमूर्तिक की ओर उपयोग का जाना ही धर्म्यध्यान की शुरुआत है, मान्यता रूप धर्म्यध्यान तो चलता रहता है किन्तु मुख्य रूप से आत्मा की ओर उपयोग लगाना ही धर्म्यध्यान कहा गया है, इसलिए श्रमण जल्दी-जल्दी अमूर्तिक आत्म तत्त्व की ओर उपयोग को ले जाने की कोशिश करते हैं।

'कर्त्ता'-आत्मा कर्त्ता नहीं ये मानना गलत है किसी अपेक्षा से कर्त्ता नहीं है लेकिन जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। भले ही वह आज करे और कल भोगे; तत्काल भोग नहीं सकता। जैसे-रसोई बनाते-बनाते खाया नहीं जा सकता, बनाने के उपरान्त खाया जाता है। भावों के अनुसार जो जैसा करता है, वह वैसा भोगता है। ये सामान्य सिद्धान्त यहाँ पर लागू होता है। यदि आप भोगना नहीं चाहते तो करना छोड़ दें। जो व्यक्ति यहाँ तपस्या कर रहा है साधना कर रहा है इसलिए कि हम कर्मों के कर्त्ता न बनें और जब वह मुक्त होता है तो मुक्ति में जो सुख मिलेगा उसके भोक्ता होंगे। यदि आप आत्मिक साधना करते हैं तो शुद्ध सुख जो अनन्त चतुष्टयात्मक है, उसके आप भोक्ता बन जाओगे। **जो व्यक्ति आत्मिक सुख को भोगना चाहता है तो उसके लिए कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है।** कर्मों से जो मुक्त होता है, वह अतीन्द्रिय सुख पाता है।

पार्श्वनाथ भगवान् के जीव पर कमठ ने उपसर्ग किया तो उसके अनेक भव बिगड़े वह सर्प हुआ और ये हाथी हुए। फिर सर्प ने उसको काट लिया तो वह सर्प नरक चला गया। वे (पार्श्वनाथ का जीव) कभी मध्यलोक से नीचे नहीं गये लेकिन कमठ मध्यलोक से ऊपर उठा ही नहीं। स्वर्ग में जाकर के कभी भी उपसर्ग नहीं कर सकते। वहाँ तो अणिमा-महिमा इत्यादि की अलग व्यवस्था होती है, इसलिए यहाँ तिर्यञ्च और मनुष्य अवस्था में उपसर्ग करता रहा लेकिन उससे पार्श्वनाथ भगवान् का कुछ बिगाड़ नहीं हुआ।

उपयोगमय जीव ही कर्त्ता है। निश्चयनय से जीव अपने निज भावों का कर्त्ता है और उपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय की अपेक्षा ग्रन्थ का कर्त्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावों का कर्त्ता है, असद्‌भूत व्यवहारनय से आठ कर्मों का कर्त्ता है।
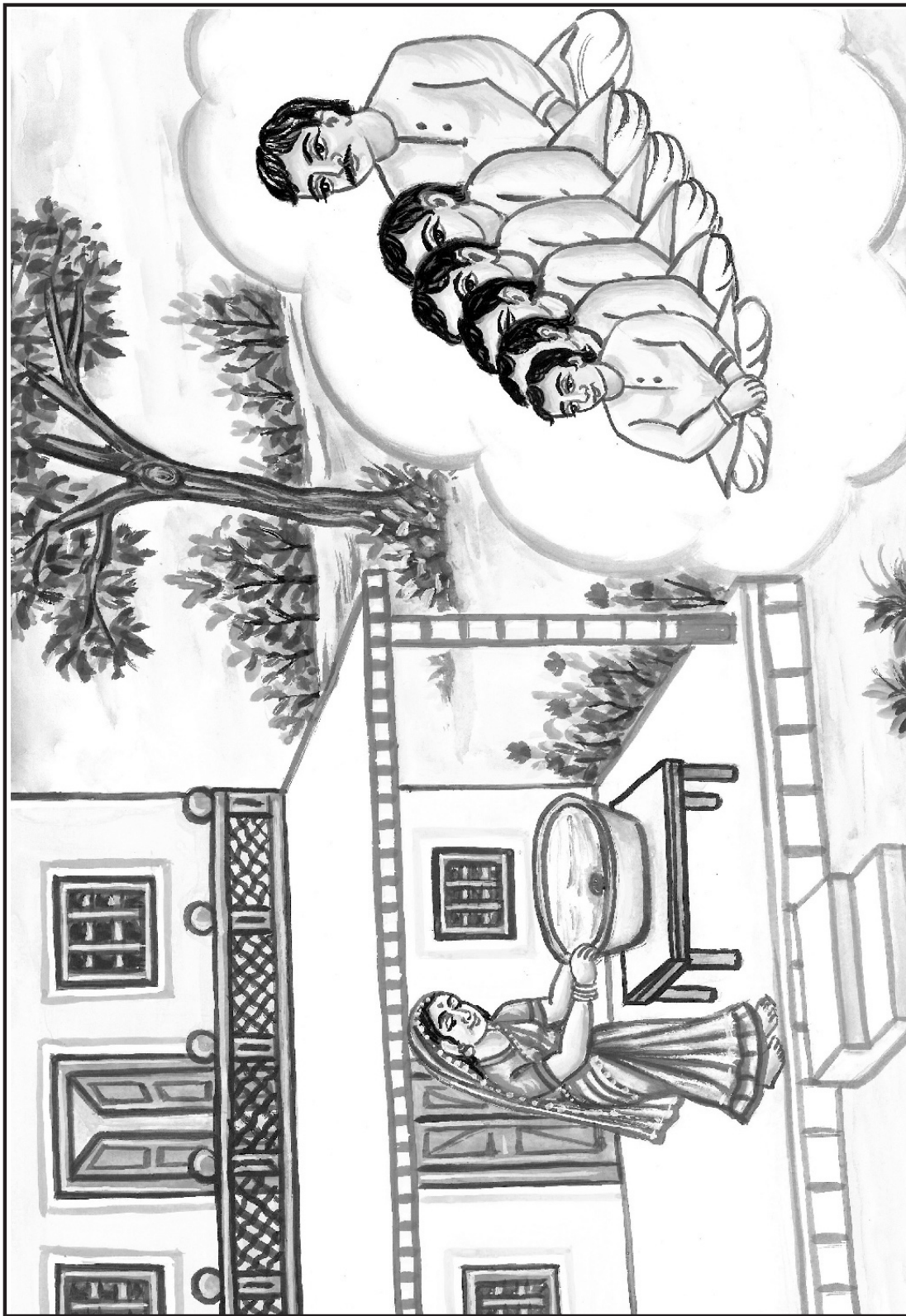
मूंगफली बराबर नीलमणि गिरने से दूध नीला हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर जितना फैल जाता है।

'**सदेह परिमाणो**'—भगोनी में ५लीटर दूध लबालब भरा हुआ है, अब उसमें एक नीलम मणि गिर गई, वह भले ही मूंगफली के दाने के बराबर है, किन्तु उसकी नीलाभा से पूरा का पूरा दूध नीला हो जाता है। बाहर तो नहीं फैलती है, उसी प्रकार देह जितना मिला है, उतने बराबर उपयोग वाला आत्मा उस देह में फैल जाता है, चाहे छोटा खस-खस के दाने के बराबर हो या विराट हो। यदि असंख्यात प्रदेशों को लोक प्रमाण फैलाना चाहें तो संसार दशा में एक ही जीव फैल सकता है, जिसको केवली समुद्घात कहते हैं तो उस समय उनका कार्मण काययोग होता है। जिस क्रम से वह चढ़े थे उसी क्रम से उतरकर स्प्रिंग के समान शरीरस्थ हो जाते हैं। कार्मण शरीर के बिना आत्मप्रदेश इस प्रकार नहीं फैल सकते। मुक्त होने से अंतर्मुहूर्त पहले १३ वें गुणस्थान में ही यह प्रक्रिया घटित होती है।

दूसरा उदाहरण—आप वस्त्र धोते हैं, क्यों धोते हैं ? मैल निकालने के लिए साबुन लगाते हैं। साबुन का काम है मल को धोना तो साबुन हुआ पुण्य, पाप हुआ मैल। जब तक मैल नहीं निकलेगा तब तक साबुन को फेकेंगे नहीं, यदि आप विवेकी हैं तो जो बच गई उसको रख लेते हैं, जब पुनः मैला हो जाता है तो उसके माध्यम से धो देते हैं। पुण्य भी इसी प्रकार का काम करता है मल को तो निकाल देता है और स्वयं वह बचा रहता है, इसको बाद में निकालना होता है ऐसा इसका हिसाब-किताब रहता है।

योग निग्रह के द्वारा भी प्रशस्त कर्मों का अनुभाग हनन नहीं होता। प्रशस्त कर्म तो स्थिति के अनुसार कम होता जाता है, उसको कम करने की आवश्यकता नहीं है। साबुन को घिसने के लिए पानी डालते हैं कि मैल को साफ करने के लिए पानी डालते हैं ? उस मैल को निकालने के लिए पानी डालते हैं और उसके ऊपर साबुन घिसते हैं। अनन्तकाल से सब भटके हैं, ध्यान रखो। कोई पौर्वाह्णिक में मुक्त हुए तो कोई अपराह्णिक में, कोई शाम को, कोई रात में, लेकिन है सबकी विशुद्धि एक। अल्प समय में किस साबुन से वस्त्र साफ होता है, उस साबुन का विज्ञापन करते हैं, उसमें मल या कपड़े को नहीं दिखाते। किन्तु उस साबुन को दिखाते हैं।

इसी प्रकार यह उदाहरण भी **भगवती आराधना** में है कि—किसी ने धोती धो ली, निचोड़ ली, अब वह तलघर में है, जहाँ स्थान बहुत कम है, सुखायें कैसे? तो एक पल्ला निकाल लिया, मानलो १६ मीटर का है तो एक पर्त बना दी तो ८ मीटर रह गई। पुनः समेट दिया तो ४ मीटर रह गई पुनः समेट दिया तो २ मीटर, पुनः समेट दिया तो १ मीटर रह गई। समुद्घात में और कुछ नहीं, घनाकार रूप में जो धोती है, उसको लोक में फैला दी, उसकी जो आर्द्रता थी, वह हवा के कारण सूख जाती है, पुनः उसकी तह बनाओ तो १ मीटर जैसा रह गया और फिर स्व देहस्थ हो गया इस प्रकार की प्रक्रिया है। इस समीकरण की पद्धति से अंतर्मुहूर्त में सारे के सारे कर्म क्षय हो जाते हैं। कभी-कभी किसी-किसी को ऐसा करना आवश्यक नहीं होता। जैसे—गर्मी के दिनों में निचोड़ी हुई धोती वैसे ही सूख जाती है। ऐसे ही कुछ जीवों के कर्म रहते हैं जो बिना समुद्घात के ही समाप्त हो जाते हैं। अयोगी

होने से पूर्व जितना बैलेंस आवश्यक होता है, उतना कर लेते हैं, उसके लिए अंतर्मुहूर्त चाहिए, ज्यादा आवश्यक है ही नहीं। आठ समय इसमें चले जाते हैं और वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति के माध्यम से काययोग को सूक्ष्म में बदल लेते हैं। जैसे–मानलो कोई मुनि महाराज आहार में उठने वाले हैं तो क्या करते हैं? पोंछा सुबह ही लगा देते हैं क्या? नहीं, उसी समय आहार के पहले लगाते हैं और सारी सामग्री व्यवस्थित कर देते हैं और पड़गाहन को खड़े हो जाते हैं और किसी से कहलवा देते हैं सिगड़ी, गैस वगैरह बंद कर दो, महाराज जी आने वाले हैं। अब हम ये पूछना चाहते हैं, पौने १० बजे ही क्यों बंद करते हैं ये लोग, ८ या ९ बजे क्यों नहीं करते? मतलब ये है अंतर्मुहूर्त पहले ही करते हैं ताकि वह गरम बना रहे। उसी प्रकार लोकपूरण समुद्घात की प्रक्रिया मोक्ष जाने के अन्तर्मुहूर्त पहले ही होती है।

'भोक्ता'—भोक्ता का अर्थ मैं स्वयं भोग रहा हूँ, और स्वयं का किया भोग रहा हूँ, इसमें दूसरे का दोष नहीं है। शत्–प्रतिशत ऐसा ही सोचना चाहिए। हर्ष–विषाद के बिना यदि भोगता है तो संवर पूर्वक निर्जरा होती है और संवर पूर्वक यदि निर्जरा नहीं करते हैं तो ये आस्रव कभी भी तुम्हारा पिण्ड नहीं छोड़ सकता। **जो आप करेंगे वह भोगना पड़ेगा इस सिद्धान्त को याद रखो, बीमार हुए हो तो दवाई पीनी पड़ेगी, चाहे कड़वी हो या मीठी हो।** अब लेते समय यूँ मुँह बनाता है, जब भोगना ही है तो बिल्कुल शान्ति से भोगो। अपना किया हुआ भोगना है, दूसरे का किया हुआ नहीं। जब अपना किया हुआ भी भोगा नहीं जा रहा तो परकृत की बात ही क्या? **स्ववश कर्मों को भोगना यह साधना मानी जाती है और परवश भोगना यह साधना की विराधना है।** आचार्य कहते हैं–स्ववश भोगते हुए भी शान्ति के साथ भोगना चाहिए, इसमें आनाकानी नहीं करना चाहिए।

''अपनी करनी आप करें सिर औरन के धरता'' ये बहुत आसान है, संसारी जीवों में ये प्रायः भोगते समय हमने किया ही नहीं ऐसा कहते हैं। दूसरे के ऊपर थोप देते हैं वह स्ववश भोगने में बट्टा लगाना है। निमित्त को देखता है, कर्म को नहीं देखता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, गोत्र आदि कर्मों का उदय चल रहा है पर आज तक किसी ने इनके बारे में शिकायत नहीं की, कि महाराज! आज हमारे कौन से कर्म का उदय है? जो अंतराय हो गया। महाराज कहते हैं–घातिया कर्म का उदय है। वैसे अंतराय तो कोई दिखता नहीं इसलिए उसको रहस्य कहा है। उदय आने के उपरान्त आ गया और आ करके चला गया। अंतराय आ जाता है तो अन्न–जल का त्याग, किन्तु ऐसा किसी ने भी आकर नहीं कहा कि–जब तक ज्ञानावरण कर्म का उदय है तब तक अन्न–जल का त्याग। जबकि जितने शेष कर्म हैं, वो लगातार आ रहे हैं, इसलिए तो हमने कहा–ये परवश होकर भोग रहे हैं, ये रहस्य की बात है। **''दातृ पात्रयोः मध्ये आगच्छते''** दाता और पात्र के बीच में आ जाता है।

प्रवचनसार की चूलिका में कहा है—शुद्धोपयोग की भूमिका में रहने वाले भले ही शुभोपयोग

जैन

में आयें पर वे मुनि महाराज अपने पास पिच्छी और कमण्डलु के अलावा और कुछ नहीं रखते, शास्त्र वगैरह भी पास में नहीं रखते उनका जीवन ही शास्त्रमय बन जाता है, ऐसी-ऐसी ऋद्धियाँ भी रहती हैं, जो मूलगुण लिए हैं, उन्हें अच्छे ढंग से वो पालते रहते हैं, उनको वो मूलाचार मुखाग्र रहता है, प्रमाद तो उनको छूता ही नहीं है। प्रयोगशाला में जैसे छात्र जाता है, वह प्रयोग में लगा रहता है, इधर-उधर तो देखता ही नहीं है उसी प्रकार वो मुनिराज हैं।

भोक्ता यह मेरा स्वरूप है, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से अपने शुद्ध परिणामों का मैं भोक्ता हूँ, अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से रागद्वेषादि परिणामों का भोक्ता हूँ और असद्‌भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से मैं कर्मों के फलों का भोक्ता हूँ। उपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से जो कोई भी बाहर की वस्तुयें हैं, उनका उपभोक्ता हूँ, जब भिन्न पदार्थ का भोग करते हैं, तब उपचरित और असद्‌भूत व्यवहार इन दोनों के साथ में मेल होता है अर्थात् उपचरित का भेद अशुद्ध निश्चयनय की विवक्षा में नहीं आयेगा। सिद्धान्त तो यही है पर लोगों की मान्यतायें कुछ और ही रहती हैं, मान लीजिये किसी का परिवार में मरण हो जाए तो रोने-धोने लग जाते हैं, अड़ोस-पड़ोस के लोग भी यह सुनकर सूत्र अपना लेते हैं। "**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**" लगभग १३ दिन तक महिलाओं में झड़ी लगी रहती है। फिर बाद में वह भी समाप्त हो जाती है, यह वस्तु स्थिति है। कुछ के भोगने में तो आनन्द का और कुछ के भोगने में रोने का ये काम ज्ञानी की दृष्टि में उपयुक्त नहीं लगता, इसलिए जो चला गया उसके बारे में हम क्यों रोयें? मानलो वह सीमंधर भगवान् के समवसरण में जा करके प्रवचन सुन रहा हो और ये यहाँ पर रोते रहते हैं ये क्या है? वह अपने कल्याण में लग गया और आप लोग उसके नाम से अकल्याण में लगे हो। चक्रवर्ती के यहाँ तो देखो, लाखों की संख्या में होते हैं और गमी वगैरह ये होती रहती हैं, लेकिन वे रोते हैं क्या? नहीं।

'**संसारत्थो**'–यद्यपि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जब हम सोचते हैं तो आत्मा संसारस्थ नहीं किन्तु आत्मस्थ हैं किन्तु अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से सोचते हैं तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप संसार में भ्रमण कर रहा है, इसीलिए 'संसारत्थो' कहा जाता है। संसार में स्थित है। '**संसारे तिष्ठंति इति संसारस्था:**' संसार में ठहरा है कब तक ठहरेगा? जब तक संसार के योग्य कार्य करता रहेगा, तब तक संसार में रहेगा। जब संसार के कार्य छोड़ देगा तब संसार का किनारा दिखने लगेगा।

'**सिद्धो**'–जीव का ये स्वरूप है सिद्ध होने का। जब रूप से दृष्टि हटाएगा तब यह स्वरूप प्रकट हो जायेगा। **विस्ससोड्ढगई** अर्थात् स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन गति है, इसका प्रयोग भले ही सिद्ध भगवान करते हैं, पर है जीव द्रव्य का ही विशेषण। ये सब जीव के स्वरूप या गुणधर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं।

'**विस्ससोड्ढगई**'**–विस्त्रसा–**यह शब्द अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण है 'विस्त्रसा' अर्थात् अकृत्रिमता। ऊपर किसी ने भेजा नहीं वह स्वभाव से गया है। कर्म के कारण भी वह नहीं गया, यदि

कर्म के कारण गया होता तो फिर कर्म का क्रम कभी टूटेगा नहीं, ऐसी स्थिति में संसार में रहना भी 'विस्रसा' हो जायेगा अर्थात् स्वाभाविक हो जायेगा। यह नियम है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को ले करके ही कर्म फलते हैं।

द्विस्थानीय अनुभाग का जब उदय होता है, उस समय द्विस्थानीय चतुस्थानीय का भी बन्ध हो सकता है, लेकिन चतुस्थानीय उदय के साथ चतुस्थानीय का ही बन्ध होगा। द्विस्थानीय के साथ सम्यग्दर्शन की भूमिका बन जाती है तो अन्तः कोड़ाकोड़ी का ही बन्ध होता है किन्तु त्रिस्थानीय के साथ ऐसा नहीं होता। ये आचार्यों ने कहा है। अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानीय बन्ध होते हुए भी उसमें भी फीकापन आ जाता है, क्योंकि यहाँ अनन्तगुणी विशुद्धि की व्याख्या है। हमारा भाव स्वरूप जो पुरुषार्थ है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। भावों से यदि थोड़ा-सा सोच भी लेते हैं तो जैसे—मानलो उल्लास रूप भावों का अनुभव करते ही खून में अन्तर आयेगा और यदि मानलो दीन-हीन का अनुभव करेंगे तो उसमें नोकर्म में भी अन्तर आ जायेगा यह जगत् प्रसिद्ध है। जैसे—मानलो छिपकली आ जाए तो सर्वाईकल पेन भी हो, उठा भी नहीं जाता हो किन्तु उसके आते ही पैरों में गति आ जाती है, ऐसा क्यों? तो उस भावकर्म का आना और उस व्यक्ति की छिपी हुई शक्ति का मूल्यांकन होना एक समयवर्ती है, इससे ज्ञात हो जाता है कि छिपी हुई शक्ति है, उसका उपयोग नहीं किया जा रहा है।

वैज्ञानिकों का इसमें मापदण्ड आया है कि वर्तमान में मनुष्य के पास जितनी बुद्धि है, उसका १३ वाँ हिस्सा ही काम में आता है, वह भी प्रत्येक मनुष्य के द्वारा नहीं। आईंस्टीन ने भी उतना ही प्रयोग किया है तो बाकी हिस्सा जो पड़ा है उसका उपयोग क्यों नहीं हो रहा है यह आप देख लो, यद्वा-तद्वा उसका उपयोग जो करता है तो पागल हो जाता है। जितना पढ़ेंगे उतने ही विकल्प हैं, कम पढ़ेंगे तो कम विकल्प और नहीं पढ़ेंगे तो निर्विकल्प रहेंगे। पढ़ने के उपरान्त और पढ़ते हैं इसलिए एक्जरशन हो जाता है। बार-बार भावना की क्या आवश्यकता है? एक बार भावना भा ली तीर्थंकर ने और चले गये "**राजा राणा छत्रपति**" कहते रहे और सिंहासन पर बैठें, यह सम्भव नहीं। हमारा अस्तित्व किसी के कारण नहीं है इसी का नाम 'विस्रसा' है। हमारे भीतर जो कोई भी गुण हैं, वह किसी के ऊपर निर्भर नहीं हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार परिणमन होता है। कर्म वर्गणाओं से कर्म बन्ध और नोकर्म वर्गणाओं से शरीर मिलता है, ऐसा नहीं, ये कारण नहीं हैं, भाव यदि करेंगे तो स्निग्धता आयेगी और निश्चित रूप से धूल आ करके शरीर के ऊपर चिपकेगी। व्यायाम करने से चिपकती है, ऐसा नहीं, योगों के कारण चिपकती है ऐसा नहीं, राग-द्वेष मोह से जीव बन्ध को प्राप्त हो जाता है '**विस्ससो**' आत्मा का परिणमन स्वयं होता है वो स्वयं ही तुम्हारे उपादान में है, कर्म को किसी ने जबरन नहीं दिया। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का एक साथ ही क्षय होता है मोहनीय कर्म में क्रम है, किन्तु इन तीनों कर्मों में कोई क्रम नहीं है। १२ वें गुणस्थान में द्वितीय शुक्लध्यान होते ही एक अन्तर्मुहूर्त में अनन्तकालीन ये कर्म नष्ट हो जाते हैं। मोहनीय के क्षय

के लिए तो अनेक उपक्रम करने पड़ते हैं। जैसे–विहार के समय तय करके चलते हैं यदि ज्यादा चलना होता है तो नानस्टॉप चलते हैं और प्रतिक्रमण के समय तक पहुँच जाते हैं। एक–एक सेकेण्ड करते–करते एक मिनट होता है, एक–एक मिनट करते करते १ घंटा हो जाता है, पहले से देखो ४ कब बज रहा है तो बजता ही नहीं। घड़ी की रफ्तार चलती रहती है, वह दिखती नहीं है।

ये बात निश्चित है कि **जितनी व्यवस्था होगी उतनी ही अव्यवस्था भी होगी लेकिन अवस्था बदलेगी नहीं**, अपने आपमें व्यवस्थित होते ही ''**विस्ससोड्ढगई**'' ऊर्ध्वगति हो जायेगी यह स्वभाव जीव का है, सिद्ध भगवान् ऊर्ध्वगति का प्रयोग करते हैं और हम ऊर्ध्वगमन स्वभाव का विश्वास करते हैं। अब हमें स्वयं को हल्का करना होगा, कुछ भी पर पदार्थ नहीं रखना होगा। जैसे–

ग्रहण भाव को जो रखते हैं नीचे जाते दिखते हैं।
ग्रहण भाव को जो नहीं रखते ऊपर जाते दिखते हैं॥
इसी बात को स्पष्ट रूप से तुला हमें समझाती है।
भरी पालड़ी नीचे जाती खाली ऊपर आती है॥

फिर तो ऊर्ध्वगति होगी उसको कोई रोक नहीं सकता क्योंकि वह किसी के माध्यम से नहीं हो रही है। जो पराश्रित क्रियायें होती हैं वो आश्रय के छूटते ही रुक जाती हैं। पेट्रोल के माध्यम से गाड़ी चल रही है तो पेट्रोल के अभाव में रुक जायेगी। हवा के माध्यम से चलती है तो वह हवा के अभाव में रुक जाती है और भी कोई सामग्री है, उसका अभाव होने पर उसको रुकना पड़ेगा किन्तु जो किसी के सद्‌भाव से चलता ही नहीं है, उसके लिए दूसरे का अभाव हो या सद्‌भाव हो कोई मतलब नहीं। कोई कहते हैं धर्मास्तिकाय का अभाव हो गया इसलिए रुक गये, आगे नहीं गये लेकिन ऐसा नहीं है। जैसे–सभी गाड़ियाँ क्या एक ही रफ्तार से चलती हैं, ऐसा नियम है क्या? नहीं। सड़क एक है किन्तु प्रत्येक गाड़ी की गति भिन्न–भिन्न है। पेट्रोल भी एक है। पेट्रोल एक होते हुए भी मशीनों में भेद भिन्नता होने के कारण गति में भी भिन्नता है। कुछ गाड़ियाँ इतना ज्यादा पेट्रोल खा जाती हैं, किन्तु चलती कम है, कुछ गाड़ियाँ पेट्रोल बहुत कम खाती हैं और चलती बहुत हैं, ऐसा क्यों होता है? हाँ, उसकी कम्पनी अलग है, मशीन की क्वॉलिटी अलग है, उसी प्रकार यह भिन्न–भिन्न माध्यम से जो देखने में आ रहा है और जब वह माध्यम पूर्णतया समाप्त होगा, उस समय ऊर्ध्वगति ही होगी। किसी को विदेहक्षेत्र से, किसी को भरतक्षेत्र से किसी को भोगभूमि से होगी, ढाईद्वीप में से कहीं से भी वे जा सकते हैं। अनन्त सिद्ध परमेष्ठी चले गये। हमारी गति ऊर्ध्वगति कर्मों के अभाव में ही होगी, धर्मास्तिकाय के कारण नहीं। धर्मास्तिकाय के कारण वह नीचे भी जा सकता है लेकिन अधोगमन करने का स्वभाव नहीं है। **विस्ससोड्ढगई** ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव है।

वस्तुतः व्यवहार से और निश्चयनय से भी ऊपर उठ करके जब देखते हैं तो केवल चित् स्वरूपी रह जाता है, उस समय ध्यान का काल आ जाता है, ध्यान तो आप लोग भी लगाते हैं, पर

उस ध्यान से मतलब नहीं है '**परेमोक्षहेतू**' इस ध्यान से मतलब है। जो दृष्टि विषय भोगों की ओर जा रही है, उसे हटाने के लिए कहा जा रहा है। ज्ञान भी विकल्प की मूर्ति ही है क्योंकि वह सविकल्प रहता है, दर्शन निर्विकार ही रहता है। जो बच्चा पढ़ता नहीं है, उसको पढ़ने के लिए कहा जाता है और जब कोई समझदार बच्चा बहुत पढ़ने के कारण बीमार हो जाता है तब उसे कहा जाता है, बेटा तुझे अब पढ़ना नहीं, आराम कर लो। जब वह थोड़ा सो जाता है तो कहते हैं–सब चुप बैठो, बोलो नहीं, सो रहा है उठ जायेगा तो पढ़ने लगेगा। इसी प्रकार जब अपनी आत्मा का स्वरूप ज्ञात हो गया तो ज्ञान-ज्ञान चिल्लाने लगा, सबको बताने लगा और बताते-बताते वह बीमार पड़ गया तो उसके लिए कहा जाता है तुम स्वस्थ हो जाओ। ज्ञान को दर्शनवत् बनाओ, निर्विकल्प बनाओ। द्वादशाङ्ग के अधिकारी भी क्यों न हो, इसके बिना वह शुद्धोपयोग की ओर नहीं जा सकते, निर्विकल्प होना बहुत कठिन है, ज्ञान को दर्शनवत् बनाना नहीं दर्शनवत् बन जाए। चिन्तन न हो तो कोई चिन्ता न करो, क्योंकि तुम चित्स्वरूपी हो। जब चित्स्वरूपी हैं तो चिन्तन क्यों करें ? ये बीमारी क्यों? **मैं चित्स्वरूपी हूँ तो चिन्तन करने की क्या आवश्यकता? ये विकार हैं, जब चिन्तन नहीं करते तो चिन्ता भी मत करो।**

शंका–अर्हत् परमेष्ठी के श्वासोच्छ्वास दिखती है या नहीं?

अर्हत् परमेष्ठी का श्वासोच्छ्वास चलता तो है लेकिन दिखता नहीं। जैसे–कई घड़ियाँ आवाज नहीं करती पर चलती हैं, चलता हुआ घंटे का काँटा नहीं दिखता फिर भी चलता है, ऐसे ही उनके वचन निकलते हुए भी मुख और ओष्ठ वगैरह हिलते नहीं हैं तो उनके श्वासोच्छ्वास की क्रिया कैसे पकड़ोगे आप? "**समण मुहुग्गद वयणम्**" ऐसा **पञ्चास्तिकाय** में आया है कि–श्रमण मुख से विर्निगत वचन हैं। हाँ, फिर भी देखने को नहीं मिलते, ये उनका संयम है। श्वासोच्छ्वास क्रिया भी इसी ढंग से संयत होकर चलती है। जब योगी जन ऐसे रहते हैं तो महायोगी की बात ही क्या? इनकी श्वासोच्छ्वास क्रिया चल रही कि नहीं यह देखने के लिए हमारे पास कोई ऐसी नेत्र ज्योति नहीं है। योग निग्रह करने के पूर्व में श्वासोच्छ्वास का निरोध कर लेते हैं, जब होगा तभी तो निरोध करेंगे, ये बहुत सूक्ष्म है, उसको हम पकड़ नहीं सकते हैं, उनकी चर्या के बारे में हम कैसे कह सकते हैं?

सर्वप्रथम शरीर नामकर्म की उदीरणा होगी उसके उपरान्त भाषा, श्वासोच्छ्वास आदि-आदि की होती है। आयु की तो हमेशा उदीरणा होती रहती है। जैसे–दीवार उठती है तो एकदम खिड़की लगायी जाती है क्या? नहीं, कम से कम ३-४ फीट दीवार उठ जाए फिर खिड़की वगैरह लगाने की सोचेंगे। फिर दरवाजे को जहाँ लगाना है तो उतनी जगह खाली छोड़ देते हैं, वहाँ पर चौखट लग जाता है लेकिन मूल में नींव डालते ही खिड़की की बात करें, यह ठीक नहीं अर्थात् अपर्याप्त दशा में पर्याप्त काल में होने वाली चीजें नहीं आती हैं, आचार्यों ने सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रतिपादन करते समय लिखा है कि–कौन से कर्म की उदीरणा किस ढंग से होगी। विग्रहगति में आत्मा केवल कार्मण शरीर को ले

करके दौड़ रहा है, खाली चैचिस अब देख लो कौन-सी गाड़ी बन सकती है आपकी, अपने-अपने जाति नामकर्म के अनुसार उसे फिट किया जायेगा। देख लो कर्मों के अनुसार कोई ऑटो भी बन सकता है, मेटाडोर भी बन सकता है, मिनी बस भी बन सकती है और ट्रक भी बन सकता है आदि-आदि अपनी क्षमता के अनुसार बन जाते हैं। अपर्याप्तक अवस्था में ऐसी ही दशा रहती है। चेतन आत्मा एक ड्राइवर है वह मुँह बंद करके बैठा है और बिल्कुल कमाण्डर जैसा एक के पीछे एक पचासों गाड़ियाँ निकलती रहती हैं तो वो अपर्याप्तक दशा जैसी हैं, फिर बाद में धीरे-धीरे काँच भी लगायेंगे, वॉयपर भी लगायेंगे और सारे-सारे ढाँचे लगाते चले जायेंगे।

संस्मरण–अमरकंटक की बात है, एक व्यक्ति आया वह श्रेष्ठ शिक्षक व अच्छा वक्ता था, निबन्धकार भी था और विदेशों के कॉलेज में कई ऐसे SUBJECTS को पढ़ा करके आया था, वह आया और बोला–महाराज! पढ़ने में कोई कमी नहीं बहुत पढ़ चुका हूँ, बहुत कुछ लिख चुका हूँ, लेकिन संतोष नहीं और कुछ मन में तृप्ति जैसी नहीं, ऐसा क्यों होता है? मैंने कहा–कहीं न कहीं आप कर्त्ता बनना चाहते हो। महाराज! समझ में आ गया, आज तक इतने SHORT में किसी ने नहीं बताया। कहीं न कहीं ये संसारी प्राणी कर्त्ता हो जाता है, अनन्तकाल से कर्त्ता बनने की रुचि के कारण ही तो यह सब हो रहा है। अतः कर्त्ता नहीं होते हुए भी स्वामीपन के प्रदर्शन के लिए अपने आपको कर्त्ता स्वीकार कर लेता है और दूसरा यदि स्वीकार नहीं करता तो फिर माथा गरम हुए बिना नहीं रहता है। यह सब मान्यता के ऊपर आधारित है, कहीं न कहीं कर्त्ता होने का आपको रस आ रहा है। लेकिन इस जीव को तब तक तृप्ति नहीं होती, जब तक इसकी मान्यता को सब लोग स्वीकार नहीं करते हैं।

जब जीव यह अनुभव करता है कि मैं उसका करने वाला हूँ, मैं उसको बनाने वाला हूँ, ऐसा **कर्तृत्त्व का भाव उसे कर्त्तव्य से विमुख कर देता है।** जो कर्त्तव्य की ओर झुकता है वह निश्चित रूप से कर्तृत्त्व को छोड़ता चला जाता है, क्योंकि उसने किसी न किसी को अपना आदर्श मान करके अपना कर्त्तव्य प्रारम्भ कर दिया है, सही मार्ग को जितना प्राप्त करते जाते हैं, उतना ही सही कर्त्तव्य माना जाता है। उसके माध्यम से ही हमें आगे गति मिल सकती है, नहीं तो आप ही स्वयं प्रश्न निकालो, आप ही स्वयं उत्तर लिखो और आप ही नम्बर ले लो और आपके द्वारा ही प्रमाणपत्र खोल दो कि हम प्रमाणित करते हैं कि हमारा यह परिश्रम है लेकिन मोक्षमार्ग में, मैं अपने को प्रमाणित करता हूँ यह नहीं कहा जाता है, हम देव, शास्त्र, गुरु को प्रामाणिक दृष्टि से देखते हैं और शास्त्र में जो लिखा है या उनका इशारा या संकेत है, उसके अनुसार हम चलते हैं, निश्चयनय की अपेक्षा से ऐसा है, व्यवहारनय की अपेक्षा से ऐसा है, उपचार की अपेक्षा से ऐसा है और इसमें अपने आपको कर्त्ता मानना दुर्मति है, अपने आपको धोखा देना है जब सब लोग उसको अपना स्वामी या कर्त्ता स्वीकारते हैं, उस समय अलग ही प्रकार की गुदगुदी होती है। रस किसको आता है, जो मान्यता प्राप्त मन है, उसी को आनन्द आता है, कई प्रकार के रस उसको दे दो तो उसको रस नहीं आता है। पत्थर
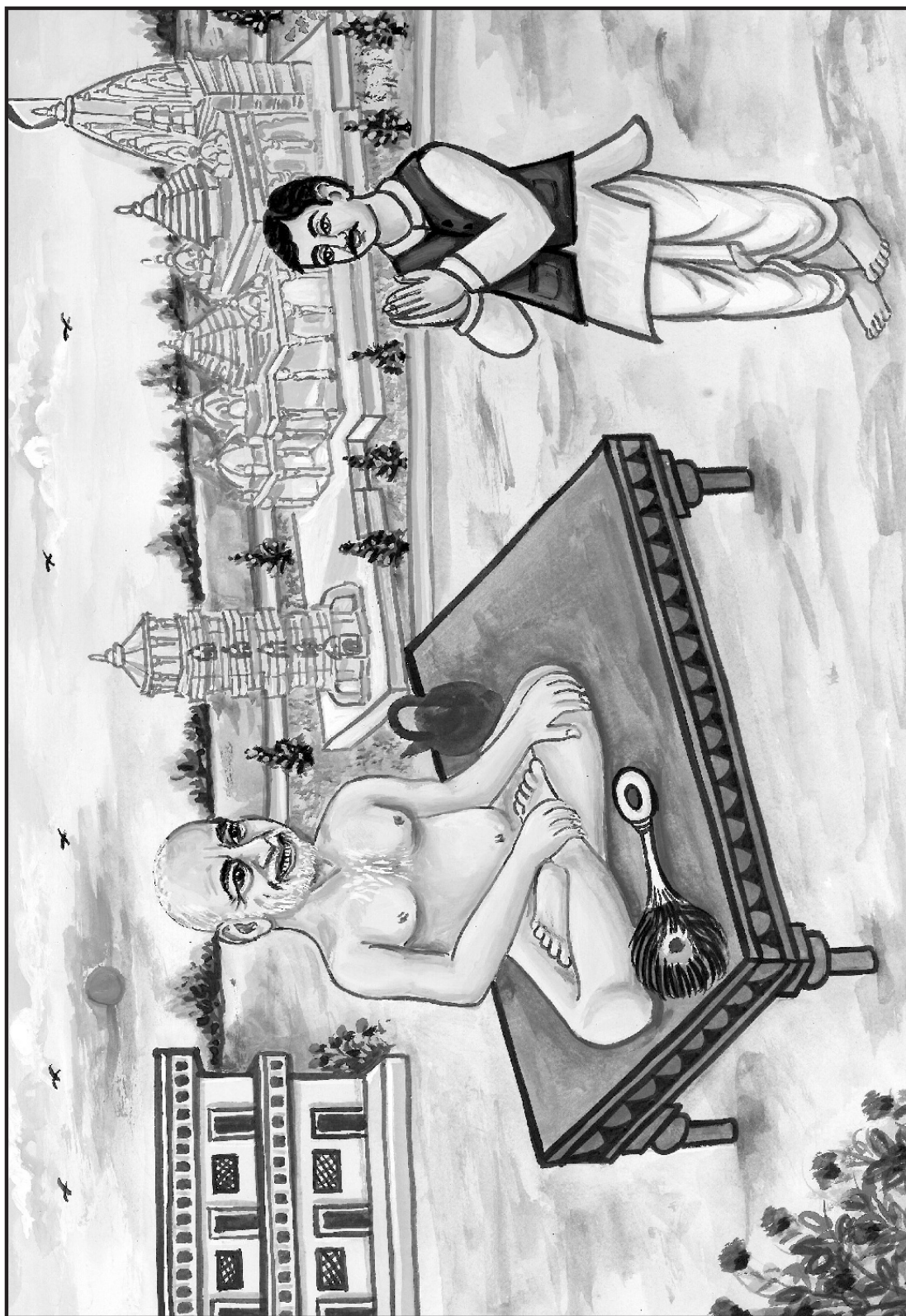
अति संक्षिप्त में कितना अच्छा समझा दिया, आज तक किसी ने इतना अच्छा नहीं समझाया, मैं तृप्त हो गया।

फोड़ करके जैसे पानी निकाला जाता है, उसी प्रकार रस में से, गंध में से, श्रोत्र में से, शब्दों में से ऐसा रस निकालने लग जाता है कि वो रस कानों को नहीं आता है, मन को आता है। सैनीपना कितना अनमोल है, लेकिन वह पराये के विषय में सोचता रहता है, पराये में भी यदि चैतन्य के बारे में सोच ले तो फिर भी ठीक है, लेकिन वह सोचता है रस, रूप, गंध के बारे में। जिन्दगी यूँ ही निकल जाती है। इसलिए सोचो नहीं, संवेदन में जब आता है आत्म तत्त्व उस समय न देखा जाता है, न चखा जाता है, न सोचा जाता है। जैसे–अवधिज्ञान के समय पर मन और इन्द्रियों का आलम्बन नहीं होता अथवा उस ओर उपयोग नहीं जाता, उसी प्रकार स्व संवेदन के विषय में किसी का भी आलम्बन नहीं लिया जाता है।

सिद्धान्त ग्रन्थों में लिखा है–अप्रमत्त जब होता है, उसमें भी गुप्ति रूप में यदि होता है तो उस समय उसके आयु कर्म की उदीरणा नहीं होती, अप्रमत्त गुणस्थान में आयु कर्म का उदय तो रह सकता है लेकिन उसकी उदीरणा नहीं रहेगी। आचार्य कहते हैं–**अपने तीनों बल को सुरक्षित रखना है तो सोचना बंद कर दो, शान्त बैठ जाओ। अहिंसा धर्म पूर्ण रूप से पलेगा।** अप्रमत्त दशा का अनुभव होगा तो संवेदन बिल्कुल निखार के रूप में सामने आयेगा। मानलो किसी को व्यवहार से ऊपर उठना है तो क्या करना चाहिए ? और कुछ नहीं करना चाहिए।

स्थान समय/ दिशा आसन इन्हें/ भूलते ध्यानी॥ (हाइकू) मैं कहाँ पर बैठा हूँ अरे जब आत्मा बैठ ही नहीं सकती, समय कितना हो गया, कुछ पता नहीं, दिशा पूर्व है कि पश्चिम, उत्तर है कि दक्षिण, नीचे हूँ कि ऊपर आदि–आदि कौन से आसन से बैठा हूँ–वज्रासन, सुखासन, पद्मासन कि खड्गासन है और भी आसन हो सकते हैं इन्हें याद नहीं रखते। इनको जो भूल जाता है वह ध्यानी कहलाता है। आप ध्यानी बनना चाहते हो या ज्ञानी बनना चाहते हो? महाराज जो अज्ञानी हैं, उनको ध्यान के माध्यम से तो कुछ समझाया नहीं जा सकता, हम तो ज्ञानी बनना चाहते हैं और सब अज्ञानियों को ज्ञानी बनाना चाहते हैं। ध्यानी होने का कुछ मतलब ही नहीं। अध्यात्म में ध्यान का और ज्ञान का क्या महत्त्व है?आप लोगों को ज्ञात कर लेना चाहिए। विज्ञान को भी उन्होंने एक प्रकार से अध्यवसाय की कोटि में लिया है। नाममाला में बुद्धि, अध्यवसाय आदि ये सब एकार्थवाची हैं, ज्ञान उससे अलग है, स्वरूप उसका अलग है ऐसा क्यों? क्योंकि ये जितने हैं, सब व्यवहार की कोटि में आने वाले हैं। सिद्धान्त ग्रन्थों में अध्यवसाय को अच्छा माना है, अनध्यवसाय को अच्छा नहीं माना क्योंकि सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान रहता है, उसके लिए "**संशय, विभ्रम, मोह त्याग आपो लख लीजे**" ऐसा छहढाला में कहा है (हाँ) संशय, विभ्रम, मोह आदि इनको अनध्यवसाय के रूप में गिनते हैं, और अध्यात्म ग्रन्थों में सही–सही वस्तु का ज्ञान कराने वाले को अध्यवसाय कहा है।

परमार्थ ज्ञान तो वही है, जो विश्राम लेता है निराकार स्वरूप का अनुभव करने के लिए आकार

वाला ज्ञान जब श्रम करने से थक जाता है, तब खाली बैठ जाता है। अध्यात्म में उसी को अच्छा कहा है, जो खाली बैठ जाता है। यदि खाली नहीं बैठा जाता तो धीरे-धीरे चलो। जिसने साईकिल चलाना नहीं सीखा वो पहले पकड़ करके चला लेते हैं, फिर इसके उपरान्त दौड़ा देता है, दौड़ाना तो सबको आता है, लेकिन बहुत धीरे चलाना कठिन है, इसमें तो धड़ाम से नीचे आ जाते हैं, इसलिए खाली बैठना बहुत कठिन है। खाली बैठने के उपरान्त भी किसी को भी आप देख लो, हाथ हिल रहे या पैर हिल रहे हैं, आँखें टिमटिमा रही हैं, हँस रहे हैं या मुस्कान है, पलकें झपका रहे हैं अथवा दिमाग चल रहा है, ये सारे के सारे हाथ-पैर आदि हिलाने रूप योग की प्रवृत्ति संसारी प्राणी में ही होगी। काम करना शरीर का काम है, इसलिए उससे काम लेते रहो ऐसा नहीं, इसमें संयम रखो, संयम रखोगे तो उस समय आपका स्वाध्याय होता रहेगा। चार दिन यदि मानलो किसी का नाम कुछ पुकार दिया जाए तो प्रचलन को छोड़ करके उसी से ही चार दिन में ही प्रसिद्ध हो जाता है तो फिर देह का मोह तो अनन्तकाल से लगा हुआ है यदि आप प्रवृत्ति करते जायेंगे तो प्रवृत्ति की शृंखला, परम्परा बढ़ती ही जायेगी इसलिए परीषहविजय रखा है। उपसर्गों को सहन करो क्योंकि यह मेरे ऊपर नहीं हो रहा है, ऐसा भाव आना चाहिए। 'श्रीधवला' में यह प्रकरण आता है ''**सिद्धाः न जीवाः**'' सिद्ध जीव नहीं हैं यह इसलिए कहा गया है कि 'चदुपाणा' संसार दशा की अपेक्षा जो चार प्राण थे, वे सारे के सारे सिद्धत्व में समाप्त हो गये, १४ वें गुणस्थान में मात्र एक आयु प्राण है, १३ वें गुणस्थान का अनुभव अलग है और १४ वें गुणस्थान का अनुभव अलग है, शरीर तो नोकर्म है यद्यपि वह मूर्तिक है, लेकिन भीतर से सारे-सारे योगों का सम्बन्ध टूट गया। इन्द्रियों का सम्बन्ध तो पहले से ही छूट गया था। अब केवल शरीर मात्र बाहर का रह गया, योग सब समाप्त हो गये, एक आयु मात्र प्राण है, उसका अभाव होते ही नोकर्म भी समाप्त हो जाता है। जैसे-अवकाश प्राप्त होने के उपरान्त नौकरी वालों के यहाँ सारे के सारे बच्चे धंधे करने वाले हो जाते हैं और जो बूढ़े रहते हैं वह घर की रखवाली करते हैं, कुछ काम के ही नहीं रह गये, केवल आयु पर जीवन टिका है। बोला नहीं जा रहा है तो वचन बल, सोचा नहीं जा रहा है तो मनोबल और बैठा ही नहीं जा रहा है तो कायबल नहीं-सा लगता है, देखा नहीं जा रहा, सुना नहीं जा रहा इसलिए इन्द्रियाँ समाप्त-सी लगती हैं। श्वासोच्छ्वास है कि नहीं, ये पता नहीं लग रहा है। नाड़ी को पकड़ करके देख लो कि यह चल रही है कि नहीं? आयु प्राण है इसलिए शरीर में गरमाहट है। आयु कर्म निकल जाए तो गरमाहट भी निकल जायेगी इसलिए कहते हैं निश्चयनय को पकड़ो, इससे पर तत्त्व निष्प्रभावी हो जायेंगे। सम्यग्दृष्टि यही तो एकमात्र तत्त्व चिंतन करता है। बाहरी तप के माध्यम से भीतरी तप को बल मिलता है जिससे निर्जरा तत्त्व को और सहयोग मिल जाता है, इसलिए निश्चय को जानने वाले संयत होकर पेट्रोल की भाँति वे शरीर से काम लेते रहते हैं। जितना व्यय करना है, उतना ही व्यय किया जाता है और उसके द्वारा वो काम लेते रहते हैं और निश्चय तप के माध्यम से कर्मों की निर्जरा करते हैं, इसलिए उसको अंतरंग तप कहा

गया है। तभी हमारा सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तप चरितार्थ होता है। सिद्ध परमेष्ठी के पास व्यवहार प्राण नहीं किन्तु चेतनात्मक निश्चय प्राण रहता है, शेष सब छूट जाता है इसलिए "**सिद्धा: न जीवा:**" यह चरितार्थ होता है। लेकिन कुछ लोग क्या समझते हैं कि सिद्ध होने के उपरान्त जीवत्व ही समाप्त हो जाता है, ऐसा नहीं है। "**जीव भव्याभव्यत्वानि च**" यह पारिणामिक भाव होने से सिद्धों में भी जीवत्व का अभाव नहीं होता है, इसलिए कुन्दकुन्द भगवान् ने "**पाणित्तमदिक्कंता णाणाविंदंति ते जीवा**" सिद्ध जीव प्राणों से अतिक्रांत हैं, मतलब यह दुख की घड़ी है क्या ? कि हमारे तो प्राण निकल रहे हैं। प्राण अपने हैं ही कहाँ? शुद्ध चेतना एकमात्र प्राण है। ये प्राण कोई प्राण थोड़े ही हैं लेकिन इसके आने से राहत मिल जाती है। "**ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्ममल वर्जित सिद्ध महंता**" जो निकल के रूप में माने जाते हैं, जिनका ज्ञान ही काय है, इसलिए वो दिखाई नहीं देते लेकिन उनका अभाव नहीं होता। जो साधक सिद्धत्व की साधना में लगे हैं वे-

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति॥४१॥ (इष्टोपदेश)

सुनते हुए भी नहीं सुनते, देखते हुए भी नहीं देखते, "**स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु**" जिन्होंने आत्मा को स्थिर किया है, वे ही इस प्रकार का कार्य कर सकते हैं। निश्चयनय का आधार लेना ये खेल नहीं है। ये अध्यात्म के बिना तीन काल में सम्भव नहीं हो सकता। मन में यदि विचारों की लड़ी या इन्द्रियों का व्यापार चलता रहता है तो ये सम्भव नहीं क्योंकि इन्द्रियों का व्यापार प्रमाद के बिना सम्भव ही नहीं। कषाय आ गई तो इन्द्रिय व्यापार से भी आगे बढ़ गया और यदि ठान लिया कि यह काम करना ही है तो फिर वह आगे-आगे और बढ़ गया, इतना आगे बढ़ गया कि वह समुद्घात वाली दशा हो गई। लौट करके आना ही मुश्किल, काम करेगा फिर ही आयेगा। ऐसे में स्वयं को देहातीत अनुभव करना और मुश्किल है इसलिए निश्चयनय की अपेक्षा से जिसका स्वरूप चेतना है। व्यवहार की अपेक्षा से वह मूर्त है और निश्चय की अपेक्षा से अमूर्त है। शरीर, वचन और मन, ये पुद्गल के द्वारा जीव पर उपकार है। **प्रश्न** यह है कि-जीव का पुद्गल के ऊपर उपकार क्यों नहीं होता? इसका **समाधान** यह है कि उपकार मानने के लिए उपयोग चाहिए, बुद्धि चाहिए और उसके पास बुद्धि नहीं है, कितना भी उपकार करो तो भी जड़ तो जड़ है। मानलो जीव होकर भी उपकार को मानता नहीं है, स्वीकार नहीं करता है तो जड़वत् हो गया। पुद्गल के पास भोक्तृत्व नहीं है इसलिए उसके ऊपर उपकार नहीं करते हैं। छोटे बच्चों को भी आहार दान योग्य नहीं माना है, वह उपकार को जानते ही नहीं, इसलिए ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त बीतने पर वह पात्र घोषित हो सकता है। बुद्धि है इसलिए सिखायें ऐसा नहीं, पात्रता भी होना चाहिए और उसका उपयोग भी होना चाहिए। ये भोक्तृत्व शब्द अपने आप में छहों द्रव्यों से जीव द्रव्य को पृथक् करने के लिए दिया है। भोक्ता की क्षमता मात्र जीव में विद्यमान है। जीव और अजीव के बारे में **पञ्चास्तिकाय** में **कुन्दकुन्द भगवान्** ने कहा है-जो सुख को चाहता

है और दुख से डरता है। यदि मानलो कोई दुख से नहीं डरता है, सुख नहीं चाहता तो वह अजीव की कोटि में आ जाता है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होने के उपरान्त ही उसको उपदेश का पात्र बताया है। यह बात अलग है कि तिर्यञ्चों में बहुत जल्दी उपदेश को सुन करके अमल करने की क्षमता आ जाती है, लेकिन मनुष्यों में कुछ समय आपेक्षित होता है। जैसे–मानलो अनुगामी अवधिज्ञान ले करके आ रहा है, लेकिन ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त से पहले अवधिज्ञान के जो स्थान हैं, वो विकसित नहीं होते तो वहाँ अवधिज्ञान का प्रयोग नहीं होता, यह भी एक कारण है। उसमें जब परिपक्वता आ जाती है तब वह होता है। जैसे–आम लगते ही वह खाने योग्य नहीं होता, दो–तीन महीने निकाल देता है तब उसमें वह क्षमता आ जाती है। उसी प्रकार क्षयोपशम तो प्राप्त है किन्तु कुछ काल आपेक्षित होने के कारण उसका उपयोग या प्रयोग कालान्तर में ही कर पाता है। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन भी काम करेगा तो इस ढंग से करेगा जैसे–पहले दूध के दाँत आते हैं, बाद में खाने के दाँत आते हैं फिर दाढ़ आ जाती है और फिर बाद में २९–३० वर्ष तक अक्ल की दाढ़ आ जाती है। कभी–कभी ऐसी तेजी से दर्द हो जाता है कि रात को नींद भी नहीं आती तो इतनी प्रौढ़ता आने के उपरान्त ही वो दाँत आते हैं। क्षयोपशम है लेकिन उसका भोगोपभोग, सेवन या प्रयोग हम कालान्तर में ही प्राप्त कर सकते हैं, ये सीमा है।

व्याकरण के नियम अनुसार–भोक्ता जो शब्द बनता है, वह पुल्लिंग में ही बनता है, स्त्रीलिंग में नहीं बनता है। 'ई' प्रत्यय ही नहीं लगता है सेवनार्थं 'तृच्' प्रत्यय से भोक्तृ बना, आर्य शब्द से आर्या, श्रमण से श्रमणी, नर से नारी बन जाता है। कर्त्ता शब्द के सामने 'ई' प्रत्यय लगा देते हैं तो कर्त्री बन जाता है, लेकिन भोक्तृ के लिए कहीं भी यह नियम नहीं आता है, यह विषय चिन्तनीय है। संसारी प्राणी कौन–कौन सी चीजों का भोक्ता हो सकता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से रागादि के विकल्पों से रहित होता है और ऐसी दशा में आत्मा से उत्पन्न हुआ जो भाव है, उसका वह भोक्ता होता है। योग्यता का पूर्ण विकास करने पर वह पूर्णज्ञान का भोक्ता या ज्ञाता हो सकता है और किसी के पास यदि इसका विकास नहीं भी हुआ तो भी उसके पास विकास करने की क्षमता तो है किन्तु साधन सामग्री के अभाव में या सही दिशा निर्देशक के अभाव में वह स्वयं को विकसित नहीं कर पाता। कौन से पदार्थ के भोक्ता हम हो सकते हैं, इसके बारे में भी सोच लेना चाहिए। जीवन यूँ ही व्यतीत हो जाता है। जिस समय आप भोजन करना चाहते हैं या किसी पदार्थ का सेवन करना चाहते हैं, उस समय पर यदि वह प्राप्त न हो अन्य समय में वह प्राप्त हो तो उस समय आपकी भाव प्रणाली अलग ही क्वॉलिटी की हो जाती है। भूख लगते ही उस समय कर लो तो ठीक। नहीं तो कहते हैं कि भूख मर गई। आप तो जीवित हैं, लेकिन भूख मर सकती है भूख न लगने का अर्थ–भूख मिटी नहीं किन्तु वह विकृत हो गई। अकाल में ज्येष्ठ के महीने में तपती धरती पर यदि वर्षा हो जाती है तो उससे भी उसे कुछ सिद्ध नहीं होगा। समय पर यदि कम भी वर्षा होती

है तो धरती फलवती हो जाती है, उसी प्रकार समय पर जब भोग्य पदार्थ नहीं मिलते हैं तो सोचते हैं, इसको छोड़ दो, यह आप अनुत्साहित होकर कह रहे हैं, लेकिन सही दिशा में एक संकल्प करके करते हैं तो उसमें हतोत्साहित नहीं होते, निराश नहीं होते और अतृप्ति के भाव भी नहीं आते क्योंकि वह स्वरूप की ओर दृष्टिपात करता है और अन्त में अनन्त सुख का भोक्ता बन जाता है। सही दिशा में अभी तक एक बार भी पुरुषार्थ नहीं हुआ तो यह जो भोक्तृ शक्ति है, वह अन्य द्रव्यों से हट करके मात्र जीव में ही है किन्तु दिशा बोध नहीं होने के कारण यह जीव परद्रव्यों की ओर चला जाता है।

आचार्यों ने उदाहरण दिए हैं—पतंगे को दीपक की लौ बहुत अच्छी लगती है, पतंगा उस पर झूम जाता है, मरणासन्न हो जाता है, जब तक उसका मरण नहीं होता है, पंख जल नहीं जाते तब तक वह उड़-उड़ करके उसी के ऊपर गिरता रहता है, स्वयं निकलना भी चाहे तो भी नहीं निकल पाता। उसका एक ही रास्ता है दीपक बुझ जाए। कभी-कभी उन पंखों के माध्यम से दीपक बुझ जाता है, लेकिन फिर भी वह अपने आपकी आहूति वहीं पर देता है, क्योंकि विषयों के प्रति आकर्षण है। जैसे-हाथी स्पर्शन इन्द्रिय, मछली रसनेन्द्रिय, भौंरा घ्राणेन्द्रिय, पतंगा चक्षुइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय हिरण, सर्प वगैरह श्रोत्र इन्द्रिय के कारण अपने प्राण गँवा देते हैं और आप लोग पञ्चेन्द्रिय के धनी हैं। जब एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत हो करके इनकी इतनी हालत बिगड़ गई तो आप लोगों का क्या होगा? यौवन अवस्था में पञ्चेन्द्रिय के विषयों की ओर लहरें उठती हैं, उस समय ब्रेक लगावें। जिस स्थान पर रोकना है, वहीं पर रोक दो तो वह अपने आपमें महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जीव में भोक्तृत्त्व शक्ति होते हुए भी सही दिशा में निर्णय नहीं होने के कारण यह दशा होती है। **दुनिया के विश्वास से अपना निर्णय नहीं लिया जाता।**

''**रागानुभावाभावात्**'' राग के अभाव में जो स्वाद आता है, वह स्वाद अपने आप में अद्‌भुत होता है। मानलो किसी को बुखार आ गया किसी ने मिश्री दे दी तो वह भी कड़वी लगेगी क्योंकि उसके मुख का स्वाद बिगड़ा हुआ है। मतलब मुख के माध्यम से स्वाद देने वाला भी दे नहीं पा रहा है। देखो बुखार उतर गया तो कोई भी पदार्थ हो उसका अपना स्वाद उसे आने लगता है।

अमृतचन्द स्वामी ने अध्यात्म ग्रन्थ **समयसार कलश** में लिखा है—लगता है उन्हें इससे अच्छा और कोई उदाहरण नहीं मिला, क्योंकि प्रत्येक के घर में नमक तो मिल जाता है, किन्तु मिश्री का मिलना कठिन है। अब नमक को खिचड़ी में मिला दिया तो न दाल का स्वाद आता है न चावल का स्वाद आता है और न ही अलग से नमक का स्वाद आता है। मिश्र पदार्थ बन करके स्वाद आता है, अकेले का स्वाद नहीं आता। डॉक्टर लोग कहते हैं—नमक की पूर्ति होनी चाहिए, प्रोटीन की पूर्ति होनी चाहिए, शक्कर की पूर्ति होनी चाहिए तो अलग-अलग रूप में ले लो इनको, नहीं ले सकते। जैसे-शक्कर की फाँकी ले लेते हैं, उसी प्रकार नमक की फाँकी ले नहीं सकते। आजकल मिलावट का जमाना आ गया है। यदि मात्र नमक का स्वाद ले सकते हैं तो उसी प्रकार एक आत्मा का भी

स्वाद आना चाहिए, वह कब आयेगा ? जब राग–द्वेषादि से रहित हमारा संवेदन होगा। जब बुखार की मात्रा बढ़ गई तो डॉक्टर कहते हैं–नमक, मिर्च, खटाई, तेल नहीं लेना। अर्थ ये हो गया कि अध्यवसाय अशुद्ध पदार्थ को विषय बनाने से ही होते हैं। **पर के माध्यम से ही विकल्प होते हैं,** यह नियम हैं। स्व के माध्यम से विकल्प होते ही नहीं किन्तु हमारा ध्यान पर के बिना लगता ही नहीं तो क्या करें? कई रईस लोगों की ऐसी दशा हो जाती है कि हमेशा ही उनकी दवाई चलती रहती है। जैसे–प्रतिदिन आप लोग छह आवश्यक करते हैं, उससे भी ज्यादा उनकी व्यवस्थित समय पर अनुपात से कार्यक्रम चलता है। उसके बिना एक कदम उठ नहीं सकता। कुछ लोग आकर पूछते हैं–हम क्या करें? तो मन में ऐसा मत रखो कि हम रोगी हैं, हम तो निरोगी हैं। आत्म स्वभाव के बारे में चिन्तन करो।

ज्ञानार्णवकार ने यह कहा है कि–मनोयोग की सिद्धि हो जाती है तो काय की निरोगता आ जाती है, इसलिए लोग घूम फिर करके ज्ञानार्णव की ओर आ रहे हैं। आत्म स्वभाव का ज्ञान ही विज्ञान है, वीतराग विज्ञान इसके साथ और जोड़ लो, **विज्ञान विकृत हो सकता है, लेकिन वीतराग विज्ञान नहीं,** यह निश्चित है। स्वरूप का बोध होना ही सही पुरुषार्थ है। बाहर से भले ही आप सुख सामग्री के भोक्ता हो लेकिन भीतर हर्ष और विषाद के अलावा कुछ नहीं रहता है, उसी का नाम सुख–दुख है, जो कर्म के फल माने जाते हैं। बाहर के पदार्थ कर्म के फल नहीं हैं क्योंकि जिसके प्रति राग होता है तो सुख हुआ और द्वेष होता है तो दुख होता है। कहा भी है –

वासना मात्रमेवैतत्, सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥६॥ (इष्टोपदेश)

यह सुख–दुख हमारी बड़ी कमजोरी मानी जाती है, इसीलिए संसार में कोई किसी का दोष नहीं है, जब शरीर का भी दोष नहीं है तो अन्य कोई व्यक्ति का दोष कैसे हो सकता है? कोई पर कारण बन नहीं सकता है। हम अपने कर्मों की ओर न देख करके नोकर्म की ओर देख कर संसार बढ़ा लेते हैं। कोई समझा दे तो भी हमें समझ में आता नहीं, समझ में आ जाए तो भी पैर उस ओर बढ़ते नहीं हैं। इसका अर्थ क्या है?''**पूर्वप्रयोगात्**'' और रास्ता तो अब मालूम नहीं है, जो कर्म का नोकर्म साथी है उन्हीं की बात मानते चले जा रहे हैं। थोड़ा–सा पुरुषार्थ करके अशुद्ध निश्चयनय के स्थान पर शुद्ध निश्चयनय लगा लो। अभी तक अशुद्ध दिशा में ही हमारा पुरुषार्थ चला है। मालूम तो सब कुछ है लेकिन विपरीत ध्येय के कारण यह सब कुछ हो रहा है।

चश्मे में जिस रंग का ग्लास हो, उसी रंग का पदार्थ दिखने लग जाता है। चश्मे के काँच यदि हरे लगा देते हैं तो कश्मीर झलकने लग जाता है, जबकि सामने कोई भी उस प्रकार का पदार्थ नहीं है, फिर भी इस मरुभूमि को भी देखो तो वह ऐसी लगने लगती है, जैसे–छोटी–छोटी हरी–हरी घास लगी हो। यह उस काँच के कारण ही हरी दिख रही है। रागी देह दृष्टि रखता है लेकिन विरागी दशा
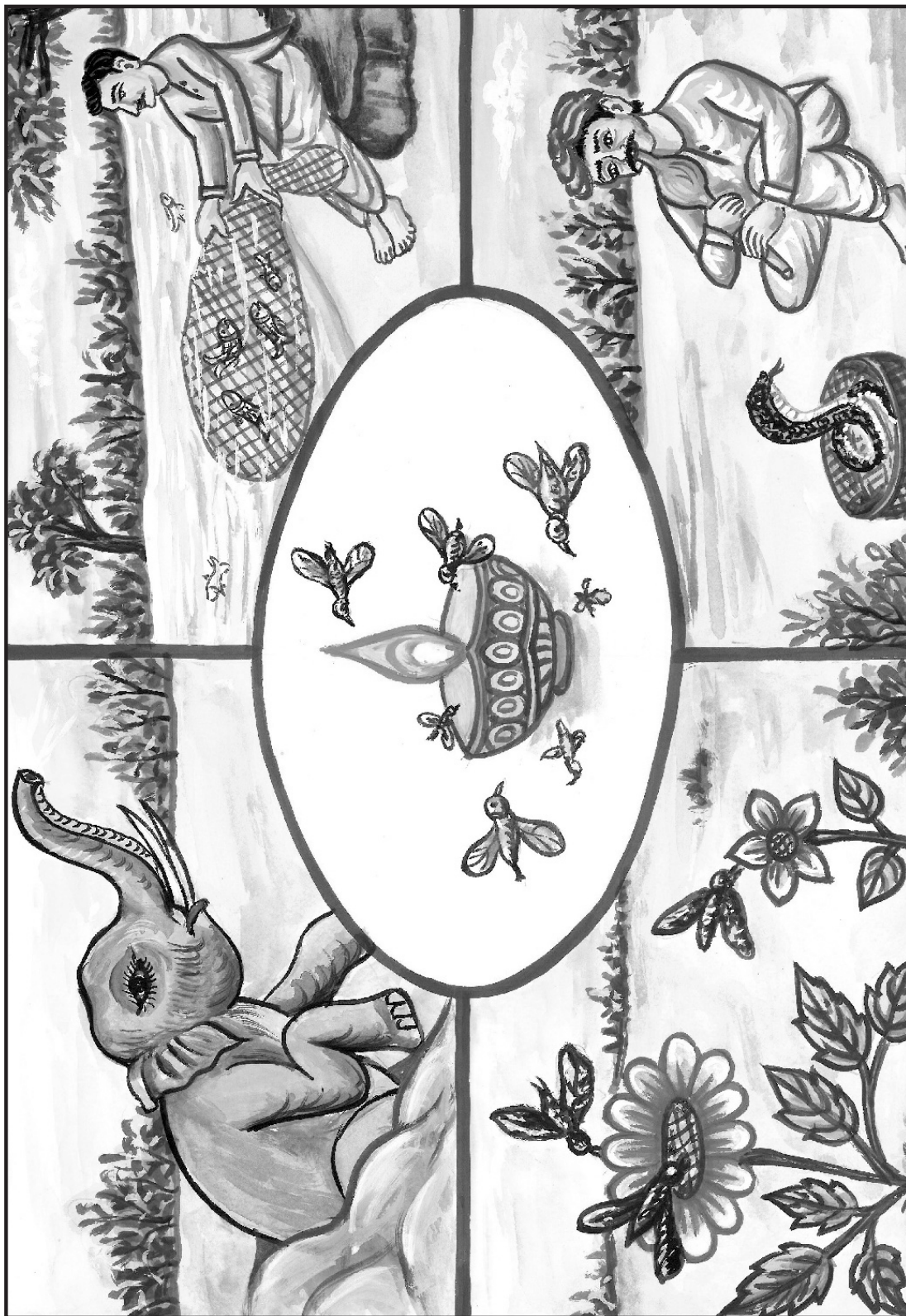
पञ्चेन्द्रिय के वशीभूत जीव

में उसे गौण कर दिया जाता है। जैसे–अस्पताल में कोई व्यक्ति पहुँच गया, जिसकी स्पर्शन इन्द्रिय काम नहीं कर रही है, आँखों से कुछ दिखता नहीं है और कानों से कुछ सुनता नहीं है और अनिन्द्रिय जो मन है वह सो गया। वह कोमा में आ गया बाहरी पदार्थ का सम्बन्ध होते हुए भी उसके पास भीतर कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा क्योंकि मार्ग ही समाप्त हो गया है और ऐसी स्थिति में उनका संवेदन किस रूप में हो सकता है, यदि हम भेदज्ञान पूर्वक ऐसी दशा को अपना ले तो निश्चित रूप से देहातीत का संवेदन होना प्रारम्भ हो सकता है, लेकिन आज इस प्रकार की दशा ज्यों ही आने लग जाती है त्यों ही TREATMENT शुरू हो जाता है। मन में थोड़ी–सी भी शून्यता आती है तो अरे, ये क्या हो गया? याददाश्त समाप्त होने को है जबकि विस्मरण शक्ति को अपनाना चाहिए, इससे सिर हल्का हो जाता है, लेकिन ज्यों ही याद आ जाता है तो माथा घूमने लग जाता है। पागल हो जाते हैं इसलिए तो ज्यादा चंचल मन होने के कारण संसारी प्राणी ज्ञान को गाथा आदि के स्मरण में लगा देता है, यदि याद न आये तो विकल्प में आ जाता है। फिर आचार्य कहते हैं–अपनी जीवन गाथा याद रह जाए तो कोई गाथा की आवश्यकता नहीं, बिल्कुल पास हो जाओगे। अपनी जीवन गाथा छोड़ करके पराये की जीवन गाथा याद कर रहे हो, इसलिए विकल्प उत्पन्न हो रहे हैं। **एक तो स्मरण हो आता है और एक स्मरण करना पड़ता है, इसमें बहुत अन्तर होता है।** स्मरण करते हैं तो बेचैनी का कारण हो जाता है स्मरण होता है तो नहीं। यदि स्मरण में लाने का प्रयास नहीं करो तो निर्विकल्पता अपने आप ही आने लग जाती है। ध्यानी व्यक्ति के पास कोई व्यक्ति आ करके बैठ जाता है, आँखें भी खुली रहती हैं, लेकिन कब आकर बैठा पता नहीं लगता, आँखें तो खुली थीं लेकिन मैं अलग था। उपयोग उस ओर न होने के कारण आँखें खुली होने के उपरान्त भी कोई व्यक्ति बैठा है तो भी हमारा मन उस ओर नहीं जाता। पाँच इन्द्रियाँ तो बहुत सयानी हैं, शैतान मन है मन उछल–कूद करता है, उसी को पकड़ना है। मन को यदि किसी में लगा दिया तो पाँच इन्द्रियाँ अपने आप ही सीमित हो जाती हैं, चाहे उनको खुली रखो या बंद। ऐसे कई लोग हैं जो आँखें खोल कर ही सो जाते हैं। जिस ओर हमारा आकर्षण है उस ओर उपयोग चला जाता है। ये भी कर लूँ, वो भी कर लूँ, ऐसा नहीं। एक साथ सब व्यापार कर भी नहीं सकते। इसलिए मन होते हुए भी स्मरण करने में जो उपयोग करते हैं, वह मत करो। मन भी एक प्राण है और प्राणों को क्षति नहीं पहुँचाना चाहिए। हाँ, ज्यादा मनोबल को खर्च करोगे तो थक जाओगे। निद्रा की भी आवश्यकता होगी। अनेक प्रकार के विकल्प आ सकते हैं और थके नहीं तो ज्यादा आराम करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मन को प्राण के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसका दुरुपयोग बहुत करते हैं, इसलिए आचार्यों ने कहा है कि चिन्तन भी नहीं करना, जानना भी नहीं दर्शनवत् निराकार अनुभव करो। कोई व्यक्ति बीमार हो गया अस्पताल में भर्ती किया। लोग पूछने जाते हैं ठीक हो, सब ठीक है मरीज और चाहता है कि बात करें लेकिन डॉक्टर आकर देखता है, बोलने से आराम नहीं मिल रहा, हालत बिगड़ रही है बिल्कुल आराम करो पर उसके लिए तो आराम

बुरा ही हो गया। उसी प्रकार दुनिया के कार्यों को तो बंद करके आ गये, घर नार भी छोड़कर आ गये किन्तु यहाँ पर आकर सारी की सारी वे ही बातें, दूसरों की कथा करना हो तो घंटों तक कर सकते हो और सामायिक के लिए माथा दर्द करता है तो वह ठीक नहीं। **आत्म रुचि का नाम ही सम्यग्दर्शन है।** रुचि तो स्वयमेव होती है बाहर से नहीं डाली जा सकती। जैसे–खाने में अंदर से अच्छे से रुचि आ गई तो रूखी–सूखी कोई भी चीज दे दो तो भी वह खा लेगा। मानलो मरीज को कोई दवाई काम नहीं कर रही है। तो अब बाहर से श्वासें डाल दो, नहीं, क्योंकि श्वासोच्छ्वास लेने की उसमें क्षमता ही नहीं रही है। अब उसे शुद्ध ऑक्सीजन की आवश्यकता है तो नीम के पेड़ के नीचे बैठ जाओ वहाँ पर शुद्ध ऑक्सीजन है अस्पताल में जा करके व्यर्थ में हजारों रुपये क्यों खर्च कर रहे हो, लेकिन लेने की हिम्मत नहीं इसलिए अस्पताल का जो आर्टिफिशियल ऑक्सीजन है वह ले लेते हैं, क्योंकि उसको ग्रहण करने की और छोड़ने की शक्ति स्वयं के फेफड़ों में नहीं है। आहार पर्याप्ति और आहार में अंतर है। आहार लेते ही रस बनता है, यह धारणा गलत है कि रसदार पदार्थों को लेने से रस बनता है। रस बनना अपनी रुचि के ऊपर आधारित है। बाहरी पदार्थों से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मुँह में जो लार रहती है, उसको प्रथम रस धातु के रूप में स्वीकार किया है। आपने मानलो रस का सेवन किया, फिर बाद में जो रस धातु उत्पन्न हुआ, वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि जो कर्म हैं, उन कर्मों के उदय प्राप्त उदीरणा के साथ होने से ही होता है, जिस प्रकार के रस की उदीरणा होगी, उसी प्रकार का रस उसे आयेगा यह कर्म सिद्धान्त है, यह हमारे परिणामों के ऊपर निर्धारित है। हम संसार में रहते हुए भी संसारातीत का श्रद्धान कर सकते हैं और जब संसारातीत का श्रद्धान हो गया तो संसारातीत की प्रक्रिया के लिए पुरुषार्थ करेगा। **जीव द्रव्य क्या है? जीव तत्त्व क्या है? जीव पदार्थ क्या है?** ये तीन प्रश्न हैं–इनकी भिन्न–भिन्न व्याख्या होती है। जीव द्रव्य जब परिणमनशील होता है तो उसका परिणाम वह तत्त्व के रूप में हमारे सामने आता है। जैसे–परीक्षा देने के लिए आप गये तो उसका परिणाम सामने आ गया लेकिन परिणाम का कभी परिणाम नहीं निकलता। परिणामी का परिणाम निकलता है जैसा परिणाम करता है उसके अनुसार उसका परिणाम सामने आ जाता है, यह तो जीव द्रव्य परिणमन की अपेक्षा से कहा और जीव तत्त्व यह उसके परिणाम की अपेक्षा से कहा है। कुछ लोग इन्हें अवाच्य मानते हैं, किन्तु ये पदार्थ, द्रव्य, तत्त्व किसी न किसी कथन का विषय अवश्य है अर्थात् ये कहने योग्य हैं। टंकोत्कीर्ण एकमात्र कूटस्थ जैसा है, वह कभी भी द्रव्य नहीं हो सकता क्योंकि **''स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि॥''** अपनी शुद्धाशुद्ध पर्यायों के द्वारा जो पकड़ में आता है, उसका नाम द्रव्य कहा गया है और वह कूटस्थ नहीं रह सकता। संसार में कोई तत्त्व को मानता है, कोई द्रव्य को मानता है, कोई अर्थ को, कोई पदार्थ को, कोई वस्तु को मानता है आदि–आदि अनेक विकल्प हैं। जो वस्तु है वह द्रव्य है यह द्रव्य परिणमन की अपेक्षा से कहा गया है। वस्तु के पास दो धर्म रहते हैं–एक सामान्य धर्म और दूसरा विशेष धर्म।

सामान्य धर्म प्रत्येक के साथ रहता है, विशेष धर्म वह प्रत्येक में नहीं रहता किन्तु वह एक वस्तु में रहता है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही होती है। द्रव्य, तत्त्वादि में गुणधर्म को लेकर विवेचन भिन्न-भिन्न होता है। इसके अलावा अस्तिकाय भी है। अस्तिकाय बहुप्रदेशी जीव द्रव्य के पास में भी है। अस्ति अर्थात् 'है' और काय का अर्थ बहुप्रदेशपना। इस प्रकार जीवास्तिकाय, जीव द्रव्य, जीव तत्त्व, जीव पदार्थ ये चार हो गए। सात तत्त्व के साथ पाप-पुण्य जुड़ जाते हैं तो नौ पदार्थ हो जाते हैं। एक शब्दाद्वैत भी होता है। जो इस शब्द के बिना कोई अर्थ होता ही नहीं ऐसा मानता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का व्याख्यान अलग से हो जाता है। शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, भावार्थ, आगमार्थ से जीव की सिद्धि हो जाती है।

जीव की सिद्धि चार्वाक के लिए की। नैयायिक ज्ञान और दर्शन को **उपयोगो लक्षणं** के रूप में नहीं मानता इसलिए उसके लिए उवओगो शब्द रखा है। "**अमूर्त जीवस्थापनं**" चार्वाक आदि के लिए अमूर्त जीव की स्थापना कर दी गई, क्योंकि वह मोक्ष के रूप में ही जीव को स्वीकार करते हैं। तो अमूर्त की मान्यता उसी के लिए बताई है। सांख्य क्या कहता है-जो कर्त्ता है वह भोक्ता नहीं क्योंकि वह जड़ है और कर्मों का बन्ध कर्म के द्वारा ही होता है। जैनागम भी कहता है कि उपादान की अपेक्षा से कर्मों में ही बन्ध होता है आत्मा में नहीं लेकिन निमित्तापेक्षा नहीं। कैसे? चार प्रकार के बन्ध होते हैं -प्रकृति किसमें बँधेगी? तो आत्मा में नहीं, कर्म में बँधेगी, इस प्रकार प्रकृति बन्ध कर्म में पड़ गया। स्थिति किसकी पड़ेगी? जीव की नहीं, कर्म की स्थिति पड़ेगी।

जैसे-EXP. DATE प्रायः करके एलोपेथी दवाइयों में लिखी जाती है तो यह EXP. DATE क्या है ? इतने दिन तक ही यह दवाई चलेगी, फिर बाद में यदि खिला दोगे तो रोगी की मृत्यु हो जायेगी या काम नहीं करेगी अर्थात् उसका सत्त्व चला गया फिर उसके उपरान्त अनुभाग बन्ध अर्थात् फल देने की क्षमता किसमें ? जीव में है या नोकर्म में ? प्रदेश बन्ध भी कर्म में है, जीव में बन्ध नहीं। जीव में बन्ध हुआ ऐसा व्यवहार से कहा जाता है निश्चय में तो चारों प्रकार के बन्ध कर्म प्रकृतियों में हैं, कर्म वर्गणाओं में हैं, इसलिए "**कर्म कर्तृत्व स्थापनं सांख्यं**" यह बन्ध कर्म के द्वारा हुआ। आत्मा उसमें कर्त्ता नहीं ऐसा नहीं, आत्मा भाव करता है तो कर्म वर्गणाएँ कर्म के रूप में परिणत हो जाती हैं। यदि इस सिद्धान्त को नहीं मानते हैं तो कर्म बन्ध कभी भी छूट ही नहीं सकता क्योंकि यह आत्मा कर्म का कर्त्ता है ही नहीं। इस प्रकार कर्म के कर्त्ता से सांख्य को सम्बोधित किया है और देह के प्रमाण ही इसमें जीव रहता है। इस प्रकार नैयायिक, मीमांसक और सांख्यों के लिए कहा जाता है। जैसे-मानलो कमरे के किसी एक कोने में लैम्प रखा गया वैसे ही आत्मा हो गया और कमरा सारा का सारा शरीर हो गया, ऐसा ये लोग मानते हैं पूरे के पूरे शरीर में भरा हुआ रहता है, ऐसा नहीं मानते हैं। इसलिए आत्मा शरीर प्रमाण ही संसार दशा में रहता है और शरीरातीत सिद्धावस्था में भी किञ्चित् न्यून शरीर के प्रमाण ही रहता है। इतना अवश्य है कि पेट में जो पोल है वह शरीर नहीं, कान, नाक,

आँख, मुख, मस्तक आदि के भीतर जो खालीपन है, वहाँ आत्मा के प्रदेश नहीं हैं। इसलिए किंचूणा कहा है तो इस प्रकार निर्णय हुआ चाहे मुक्त दशा हो या संसार दशा हो शरीर के प्रमाण रहना आत्मा का स्वभाव है।

बौद्ध मत कहता है कि–आत्मा कर्म तो करता है लेकिन कर्मफल का भोक्ता नहीं होता। क्षणिक इनका सिद्धान्त है इसलिए जिसने किया वह मिट गया तो भोगने की बात ही नहीं। बहुत ही अच्छा है, यहाँ कर्म किया और दूसरे समय में मुक्त हो गया, भोगेगा नहीं, मनुष्य से देव हो गया तो मनुष्य में जो किया है वो नहीं रहेगा।

इस देश में अपराध करो दूसरे देश में शरण ले लो दण्ड कुछ नहीं यह बौद्ध का सिद्धान्त है। एक ऐसा मत है जिसमें कुछ PERMANENT सिद्ध हैं और कुछ TEMPORARY सिद्ध हैं, जो आते-जाते रहते हैं ऐसा कहते हैं तो उनके लिए भोक्ता ऐसा कहा गया ये मतार्थ कहलाता है। चार्वाक के यहाँ सिद्ध तो होता ही नहीं उनके लिए यह सिद्धत्व रखा। मण्डलीक क्या कहता है कि अब मुक्त हो गया तो वह जैसे उपग्रह घूमते हैं, वैसा घूमता है, जब तक आकाश है, वहाँ तक चला जायेगा, ऐसी भी एक मान्यता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। अनन्त शक्ति है ऊर्ध्वगमन स्वभाव है और **आकाशस्यावगाहः** कहा है **लोकाकाशेऽवगाहः** नहीं कहा। संसार दशा की अपेक्षा से **लोकाकाशेऽवगाहः** है। जब ऊर्ध्वगमन सिद्ध हो गया तो फिर बाद में कोई आवश्यकता नहीं आकाश अनन्त है, हम भी अनन्त हैं, शक्ति भी अनन्त है वो ऊपर लोकाग्र तक चले गए जहाँ तक धर्म द्रव्य है किन्तु अनादिकाल से यह संसारी प्राणी तो बन्ध को प्राप्त है संसार में स्थित है यह आगमार्थ है। जैसे–किसी ने अपराध कर लिया जेल में चला गया यह अनादि नहीं है लेकिन कर्म का आदि नहीं है इसलिए अनादि बन्धनबद्ध है। जैसे–किसी ने पाषाण में स्वर्ण को डाला नहीं, जल को दूध में डाला नहीं, अग्नि को ईंधन में डाला नहीं साथ ही साथ से है किन्तु पुरुषार्थ से अन्त किया जा सकता है बीज वृक्षवत् यह परम्परा है, बीज पहले है या वृक्ष पहले है ये बताओ? बता ही नहीं सकते। उसी प्रकार अनादिकाल से कर्मबन्धन को प्राप्त आत्म तत्त्व को जो नहीं मानता उसके लिए वृक्ष और बीज की परम्परा के समान कौन-सा पहले है? उसके लिए हम ये कहते हैं बीज को यदि उबाल लेते हैं तो योनिभूत सचित्तता समाप्त हो जाती है, फिर उस चावल को बोओ तो उत्पन्न नहीं होगा। धान को बोते हैं तो धान आता है, उसके उस कॅवर में ही योनिभूतपना रहता है। इसी प्रकार मूंगफली है, उसका दाना निकालने पर बोओगे तो अंकुरित नहीं होगा, क्योंकि उसकी अब योनिभूत सचित्तता समाप्त हो गई। कर्म का फल अविपाक निर्जरा के रूप में चला जाए तो नया बन्ध नहीं होगा, राग-द्वेष करेंगे तो बन्ध होगा। नहीं करेंगे तो जो बन्ध हुआ है, वह उदय में तो आयेगा स्वमुख से या परमुख से और फल देकर चला जायेगा। शान्ति से बैठे रहो, उत्तर नहीं दो। प्रश्न को हजम करने की क्षमता रखो। प्रश्न को सहन करने में जैसे शक्ति लगती है, उसी प्रकार कर्म के उदय को भोगने में

शक्ति लगती है, जवाब देते हैं तो पुनः बन्ध हो जायेगा। बोलते क्यों हो, चुपचाप रहो न। आप बोलेंगे तो वो भी बोलेगा, आप जब बोलते नहीं तो अपने आप शान्त हो जायेगा। जैसे–कुत्ते वगैरह भौंकते हुए आ गये तो उनसे कुछ नहीं बोलो तो वह अपने आप शान्त हो जाते हैं, उसको देखोगे तो आपके पास आयेगा। शान्ति से बैठो, क्या करना है? कुछ नहीं करना। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का आश्रय जब हम लेते हैं, उस समय जीव का जो स्वरूप होता है वही उपादेय है। शेष जितने भी हैं वो सब हेय हैं। यह भावार्थ हो गया इस प्रकार शब्दार्थ से ले करके व्याख्यान की यात्रा भावार्थ तक पूर्ण हुई। जहाँ कहीं भी आयेगा तो शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ आयेगा इसी ढंग से व्याख्यान समझना चाहिए। इस प्रकार जीवादि नौ अधिकार की गाथा पूर्ण हुई।

जीव का लक्षण

तिक्काले चदुपाणा इंदिय-बल-माऊ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छय-णयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥

अर्थ–तीन काल में इन्द्रिय, बल, आयु तथा श्वासोच्छ्वास रूप इन चारों प्राणों को जो धारण करता है, वह व्यवहारनय से जीव है और निश्चयनय से जिसके चेतना है, वह जीव है।

आयु, श्वास और बल इन्द्रिय यूँ चार प्राण को धार रहा।
विगत , अनागत, आगत में यह जीव रहा व्यवहार रहा॥
किन्तु जीव का सदा-सदा से मात्र चेतना श्वास रहा।
निश्चय नय का कथन यही है दिला हमें विश्वास रहा॥३॥

व्याख्या–'जस्स' अर्थात् उस आत्मा का स्वरूप क्या है? व्यवहार की अपेक्षा से **'चदुपाणा'** चार प्राण होते हैं, कोई भी संसारी प्राणी हो, चार प्राण वाला ही होता है किन्तु सुनते तो हम दश प्राण हैं तो आचार्य कहते हैं–सामान्य रूप से चार ही प्राण हैं, उन्हीं के अवान्तर दश भेद हो जाते हैं–एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इस प्रकार ये पाँच इन्द्रियाँ हो गईं तो ये पाँच प्राण हो गये। मुख्य रूप से मूल में इन्द्रिय प्राण है। बल तीन हैं–कायबल, वचनबल और मनोबल इनका यह विकास का क्रम है तो कम से कम एक बल वाला तो संसारी प्राणी मिलेगा ही। यह मात्र एकेन्द्रिय की अपेक्षा से नहीं कहा जा रहा है। हम लोगों के पास भी चार ही प्राण हैं, आयु प्राण सभी संसारी जीवों के पास रहता है। इसके बिना तो गाड़ी चलती ही नहीं। जैसे–पेट्रोल के बिना गाड़ी नहीं चल सकती, बैलगाड़ी नहीं। बैलगाड़ी के पास भी पेट्रोल है लेकिन वो अलग QUALITY का पेट्रोल रहता है। जो कोई भी चलता है उसके लिए पेट्रोल अनिवार्य है। **''आणपाणो य''** ये श्वासोच्छ्वास का प्रतीक है। मुख्य रूप से संसार में दो प्रकार के जीव रहते हैं–एक स्थावर, दूसरा त्रस जीव। स्थावर के उपरान्त त्रस का भी क्रम है–दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय ये विकलेन्द्रिय माने जाते हैं। ये श्वासोच्छ्वास के तो अधिकारी होते हैं, किन्तु इनमें आणपाण, याने श्वास लेने और

छोड़ने रूप श्वसन क्रिया देखने को नहीं मिलती।

आचार्य अकलंक देव कहते हैं–जो त्रसों में भी पञ्चेन्द्रिय हो जाता है, उसकी श्वसन क्रिया देखने को मिलती है, उसका नाम आण–पाण है और जिसकी श्वसन क्रिया देखने को नहीं मिलती उसको श्वासोच्छ्वास कहते हैं। आठवें अध्याय में नामकर्म के वर्णन में उच्छ्वास शब्द आया है तो श्वास शब्द उसके साथ जुड़ जाता है, अकेले छोड़ते ही छोड़ते रहते हैं, ऐसा तो है नहीं, अकेले ग्रहण ही ग्रहण करते हैं, ऐसा भी नहीं, इसी प्रकार पुद्गल के उपकार के बारे में ''**शरीर वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्**'' कहा पहले प्राण अपान लिया फिर श्वासोच्छ्वास ले लिया तो इसका अर्थ यह है कि जो क्रिया देखने में आती है उसको प्राणपान बोलते हैं और जो नहीं दिखती है वह श्वासोच्छ्वास है। जब एकेन्द्रिय का ही अस्तित्व देखने में नहीं आता तो उसकी श्वासोच्छ्वास क्रिया कैसे पकड़ोगे। एक–एक इन्द्रिय बढ़ाते चले जाए–चउ इन्द्रिय आने के उपरान्त भी उसकी श्वासोच्छ्वास की क्रिया चल रही है या नहीं, यह ज्ञात नहीं होता।

मूलाचार आदि ग्रन्थों में कहा है–इनके जो धातु–उपधातु होते हैं, वह अलग ही QUALITY के होते हैं, मध्यम मल में इनको गिना है और कंकड़, पत्थर, बाल इत्यादि को जघन्य मल और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अथवा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जहाँ से गर्भज का प्रकरण प्रारम्भ होता है वहाँ से महामल गिना है। इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास इनके जो धारक होते हैं, वे व्यवहार से जीव कहलाते हैं। निश्चय से इनको हम जीव नहीं कह सकते क्योंकि निश्चय से चेतना मात्र है, कैसे पहचानोगे ? पहचान के पीछे दुनिया दौड़ रही है, क्या आपने हमें पहचाना ? पहचानोगे भी कैसे? आप बड़े हो गये, छोटों को कैसे पहचानोगे ? ये इस प्रकार की व्यंगात्मक या मनोरंजनात्मक बातें होती रहती हैं। और उसमें यह डूबा रहता है सही पहचान कैसे करें ? **कुन्दकुन्द भगवान्** कहते हैं कि–**हे श्रमण! मेरी बात मानते हो तो शुद्धोपयोग में पहुँच जाओ, बाह्य परिचय के चक्कर में मत पड़ो, मन नहीं लगता है तो जो शुद्धोपयोगी बने हैं, उनके पास जा करके बैठ जाओ, इधर–उधर की बातें मत करो, कैसे बैठे हैं जा करके देख लो वैसे वो बोलेंगे नहीं, यदि बोलें तो नोट कर लो वो अपने अनुभव की बात कहेंगे।** जो श्रमण शुभोपयोगी हैं, जिन्हें अभी शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं हुआ है, उनके लिए **चारित्र चूलिका** में आया कि–वह किसके साथ बोलें ? क्यों बोलें? कैसे बोलें? उन्हें एकमात्र निरीहता ही सिखाई जाती है। यही निरीहता शुद्धोपयोग की भूमिका है। व्यवहार एक ऐसा धंधा है कि इसके पीछे पड़ने से लगता तो ऐसा ही है कि बहुत सारा माल मिलने वाला है बहुत सारी नीलाम में चीजें मिलेगी, लेकिन घिसी पिटी मिलेंगी अच्छी क्वालिटी की तो रहती नहीं, पुरानी मिल जाती है। वह उसी को अच्छा मानकर खुश हो जाता है लेकिन शुद्धोपयोगी ऐसे होते हैं। जैसे पल भर में मौलिक हीरा मिल गया। वह श्रमण अपने स्वरूप को जानने में ही प्रयत्नशील रहते हैं। इन्द्रियों का व्यापार कब होता है, जब हम अपने स्वरूप को छोड़ करके बाहर की ओर आ जाते हैं। जिस

समय इन्द्रियों का व्यापार रुकता है उस समय मन काम करने लगता है,उस समय दिन में जो काम किया है, रात में भी उसी के बारे में सोचोगे।

सिद्ध होते तो यहाँ पर ही है किन्तु स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करके लोकाग्र पर रुक जाते हैं। जैसे–अखबार में आ जाता है तो कहते हैं पास हो गया। अरे, पहले पास होता है, बाद में अखबार में आ जाता है और वह पास होने के पूर्व में विद्यार्थी लिखता है तो उसकी दृष्टि में वो स्वयं पास है पर घोषित नहीं कर सकता कि इतने नम्बर आयेंगे। मोक्ष वहाँ है यह व्यवहार है। मोक्ष तो यहाँ पर है मोक्ष आत्मा का शुद्ध तत्त्व है, लेकिन संवर और निर्जरा वस्तुतः मोक्ष के कारण हैं, मोक्ष नहीं है और आस्रव–बंध संसार के कारण हैं। जिस समय सिद्धालय की ओर गमन करते हैं, उस समय 'विस्ससो' अर्थात् स्वभाव से ऊपर की ओर चले जाते हैं, सभी संसारी प्राणी में स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने की शक्ति तो विद्यमान है, किन्तु व्यक्तिकरण नहीं हुआ है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव घी का ही होता है, ऐसा नहीं, क्योंकि नवनीत का स्वभाव भी ऊर्ध्वगमन का है। जब मथ जाता है तो नवनीत का गोला आधा बिल्कुल दूज के चन्द्रमा के जैसे दिखता है। नीचे चौदह आना डूबा रहता है, ऊपर तो मात्र दो आना दिखता है, वो डूबा नहीं तैर रहा है, कुर्सी तक तो आ गया है, अब कुर्सी पर बैठना है फिर इसके उपरान्त नवनीत को तपाया जाता है, तब घी का दर्शन होता है ये क्रम है। उस नवनीत को जब तपाते हैं तो ऊपर की ओर घी आ जाता है। पानी को हम ऊपर से नीचे ला सकते हैं, लेकिन घी को ऊपर से नीचे नहीं ला सकते। घी को दूध में डाल दो गट्ट–पट्ट कर दो तो भी वह नीचे नहीं जाता, ऐसे ही सिद्धपरमेष्ठी ऊपर बैठेंगे तो भी वो कभी नीचे नहीं आयेंगे क्योंकि ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। अशुद्ध स्वभाव के अभाव का नाम शुद्ध है और अचेतन के अभाव का नाम चैतन्य है। इस प्रकार अतीन्द्रिय शुद्ध चैतन्य प्राण से जो युक्त होते हैं, वे शुद्ध जीव माने जाते हैं, जब इन्द्रियों का अभाव हो जाता है तो आयु, बल और श्वासोच्छ्वास का भी अभाव हो जाता है व्यवहार से हम जिस किसी के भी जीवन की परीक्षा करने के लिए नाड़ी को पकड़ लेते हैं तो स्वस्थ व्यक्ति के नाड़ी की धड़कन की गिनती आप लोगों को ज्ञात है, उसके माध्यम से गिन लेते हैं लेकिन जब वह भी पकड़ में नहीं आती तो फिर वैद्य को, डॉक्टर को बुलाते हैं, वो लोग कहते हैं–नाड़ी पकड़ में नहीं आते हुए भी इसको हम मृतक घोषित नहीं कर सकते। फिर तो गूढ़ आत्म तत्त्व को इन्द्रियों के माध्यम से ही जान लेते हैं। जीव तत्त्व को हथेली पर रखकर नहीं दिखा सकते, दिखाने वालों को भी देखने में नहीं आता यह श्रद्धा का विषय है, अनुमान का नहीं। शुद्ध दशा में चैतन्य प्राण है और उससे विपरीत क्षयोपशमिक इन्द्रिय प्राण हैं। जिसमें पाँच इन्द्रियों का विषय बनाते हैं, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। समीचीन व्यवहार पक्ष का नाम सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। व्यवहार से न्याय विज्ञों ने इसे प्रत्यक्ष कहा है। यह लगभग अकलंकदेव के समय से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष घोषित हुआ क्योंकि **उमास्वामीजी** ने '**आद्ये परोक्षम्**' कहा है।

बाहर की क्रियायें साबित करती हैं कि भीतर का आत्म तत्त्व सक्रिय है यदि श्वासोच्छ्वास कर्मोदय न हो तो बुद्धिपूर्वक श्वास की क्रिया हो नहीं सकती। पलकें बुद्धिपूर्वक नहीं झपकती। ''**खासियेण वा छिंकियेण वा जंभाइयेण वा**'' आदि क्रियायें जागृत दशा में ही होती हैं। खाँसी, छींक, नींद लगने के उपरान्त नहीं आती, आँखों की पलकें भी नहीं झपकती। ''**उम्मिसियेण वा णिम्मिसियेण वा**'' ये दोनों क्रियायें भी नहीं होती हैं। इससे स्पष्ट है कि ये क्रियायें जागृत दशा में ही होती हैं। वह आत्म तत्त्व भीतर से इसका कर्त्ता है और बाहर से ये होती रहती हैं और कुछ ऐसी भी क्रियायें हैं जो नींद में और जागृत दोनों अवस्था में चलती रहती हैं। जैसे–भोजन खाया हुआ पचता रहता है। खाना पचाने का काम जठराग्नि का है, खाने वाले का नहीं। जठराग्नि होगी तो ही पचेगा, नहीं तो बचेगा, बचेगा तो पेट में मचेगा।

कर्म सहित हो या कर्म मुक्त हो उसको यदि जानना चाहते हो तो इन व्यवहार के माध्यम से ही जान सकते हो। सुबह से लेकर शाम तक के जितने भी कर्म के कार्य हैं वो सारे के सारे अनुमानिक हैं, इसे हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। तीन घंटे मान लो पचने में लगते हैं। प्रत्येक ग्रास लेते समय बुद्धिपूर्वक आपका व्यापार होता है। ग्रास लेने का कार्य देख सकते पर पेट में पहुँच गया अब वह पच रहा है सरक रहा है, इसके बारे में कोई भी ध्यान नहीं है। अनुमान का विषय ही नहीं है, सोते समय भी अंदर का कार्यक्रम चलता रहता है। जैसे–आप किसी विभाग में सर्विस करते हैं , मानलो वेतन २४,००० है तो वह एक महीने के बाद मिलता है लेकिन वह रोज–रोज, हर घंटे, पल–पल इकट्ठा हो रहा है। पन्द्रह दिन में १२,०००, आठ दिन में ६०००, चार दिन में ३०००, दो दिन में १५०० एक दिन में ७५० अब एक घंटे के हिसाब से निकालो, फिर एक मिनट में कितना निकलता है? एक–एक मिनट में वेतन बढ़ते–बढ़ते ३१ या ३० तारीख को ही आता है। इससे ज्ञात होता है कुछ क्रियायें अबुद्धिपूर्वक भी होती रहती हैं, इस प्रकार कर्मोदय में सारे के सारे कार्य होते रहते हैं, चाहे दिन हो या रात हो। घड़ी में अलार्म भरा है तो वह TIME TO TIME बजेगा। आप चाहे सोओ या उठो, चाहे रहो या न रहो, वो बजेगा। उसी प्रकार कर्म के उदय में ऐसी ही बुद्धि–अबुद्धिपूर्वक क्रिया होती रहती है। नाड़ी की धड़कन श्वासोच्छ्वास आदि में आपका कोई योगदान नहीं, ध्यान रखना हमारा काम तो बुद्धिपूर्वक अहिंसादि का पालन करना है अथवा जैसे–किसी ने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध क्षयोपशम सम्यक्त्व के साथ प्रारम्भ कर लिया लेकिन पहले उसने नरकायु का बन्ध कर लिया और मनुष्य आयु यहाँ की पूर्ण हो गई। अब तीसरे नरक जाना है तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध एक अंतर्मुहूर्त के लिए रुक गया क्योंकि क्षयोपशम सम्यग्दर्शन को लेकर द्वितीय, तृतीय नरक जा नहीं सकता इसलिए एक अंतर्मुहूर्त के लिए सम्यग्दर्शन छूट गया तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी रुक गया लेकिन ज्यों ही शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो गई त्यों ही क्षयोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो गया और अपने आप तीर्थंकर प्रकृति का पुनः बन्ध प्रारम्भ हो गया। अब सोलहकारण भावना भाने की आवश्यकता नहीं,

क्योंकि एक बार सोलहकारण भावना RECORDING हो गई तो यह तीर्थंकर प्रकृति निरन्तर बन्धी होने से अब वह अष्टम गुणस्थान के छट्ठे भाग तक निरन्तर बँधेगी, नरक में भी निरन्तर बँधेगी वहाँ से यहाँ आयेगा तब भी सम्यग्दर्शन नहीं छूटेगा और ये अबुद्धिपूर्वक कार्य होता रहता है। इन्द्रियों का व्यापार एक प्रकार से बुद्धिपूर्वक व्यापार कहा जाता है। किन्तु यह वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से ही होगा। भीतरी क्रियायें भी इस प्रकार होती रहेंगी, जैसे–खून की जो रफ्तार है, वह रात–दिन चलती रहती है, ज्यों ही आयु कर्म पूर्ण हुआ कि जैसे–घड़ी में चाबी समाप्त हो गई तो अलार्म नहीं बजता, वैसे ही जब तक आयु कर्म है तब तक बुद्धिपूर्वक–अबुद्धिपूर्वक कार्य होते रहेंगे। इन्द्रियों का जो व्यापार है, वह क्षयोपशमिक ज्ञान माना जाता है, अनन्तवीर्य यह बल का लक्षण है, किन्तु इसके अनन्तवें भाग ही मनोबल, वचनबल, कायबल चलते हैं, अनन्तवीर्य तो अनन्तबल रूप माना जाता है, जो १३ वें गुणस्थान में होता है और क्षायिक होता है किन्तु वर्तमान में ये क्षयोपशमिक चल रहा है,सादि–सांत होता है। इसमें अनादि का प्रयोग नहीं किया है, क्योंकि ''**अनादि सम्बन्धे च**'' यह एक प्रकार से प्रवाह की अपेक्षा से कहा गया है किन्तु उसकी स्थिति रहती है, उम्र रहती है। जैसे–तैंतीस सागर की आयु से अधिक आयु किसी को नहीं मिलती है। अनादिकाल से एक ही आयु कर्म नहीं है,किन्तु प्रवाह रूप से तिर्यञ्च आयु की अपेक्षा मानलो लब्ध्यपर्याप्तक कोई निगोदिया जीव है, उनको वो ही आयु बँधती रहती है, लब्ध्यपर्याप्तक होते हुए भी ''**माया तैर्यग्योनस्य**'' मायाचारी से तिर्यञ्चायु का बन्ध कर रहा है, यद्यपि पर्याप्ति पूरी नहीं होती लेकिन आयु कर्म तो बँधता है, आयु कर्म के बिना गति से गत्यान्तर पर्याय से पर्यायान्तर नहीं हो सकता है, भले ही असंक्षेपाद्धा काल में बन्ध हो पर आयु का बन्ध अवश्य होता है। उसके पास श्वासोच्छ्वास प्राण तो है, लेकिन पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो पाती, इसमें पर्याप्ति कारण है और प्राण तो कार्य है, उसकी सामर्थ्य के बारे में कहा जा रहा है, आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ये चार पर्याप्ति हैं, इनको वह प्रारम्भ तो करता है लेकिन पूर्ण नहीं कर पाता क्योंकि लब्ध्यपर्याप्तक है, आयु के बिना ये हो नहीं सकता। वर्तमान में वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम ही चल रहा है तो ज्ञान और दर्शन भी क्षयोपशमिक ही होगा, हाँ ज्ञान क्षयोपशम होते हुए भी क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि वह दर्शन मोह के क्षय से उत्पन्न हुआ है लेकिन ज्ञान तो क्षायिक १३ वें गुणस्थान में होगा, अनन्तबल क्षायिकज्ञान के साथ होगा जब वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होगा। फल को खाने के लिए क्षमता भी तो चाहिए, मानलो किसी को एक्सरे आदि से रोग का निदान हो गया कि यह रोग है, उसके पास दवाई भी है और दवाई का प्रयोग करने वाला व्यक्ति भी है लेकिन डॉक्टर कह देता है कि आपके पास पात्रता नहीं क्योंकि तुम्हारा ब्लडप्रेशर हाई है तुम्हें शुगर है। खून तो तुम्हारे शरीर में दिख नहीं रहा तो दवाई डालने से क्या होगा? सिद्धान्त की अपेक्षा से क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर भी वीर्यान्तराय कर्म का क्षय नहीं होने के कारण अनन्त सुख के भोक्ता नहीं हो सकते।

कौन-कौन से कर्म में क्षयोपशम होता है? ज्ञानावरण और दर्शनावरण के साथ क्षयोपशम की दशा १२ वें गुणस्थान के अंतिम क्षण तक है। ''**क्षयेकृतेअपि**'' ऐसा सर्वार्थसिद्धि में आता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन के क्षयोपशम ज्ञान के साथ वीर्य जो है वह क्षयोपशम ही होता है। कुछ कर्म ऐसे हैं जिसमें औदयिक भाव के साथ क्षयोपशम, उपशम और क्षय भी होता है।१२ वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक यही दशा है, बाद में वह क्षायिक के साथ रह जायेगा। अघाति कर्मों में वैसे क्षयोपशम की दशा नहीं मानी है, एक प्रकार से नामकर्म आदि जो हैं उनमें सर्वघाति स्पर्धक और देशघाति स्पर्धक की व्यवस्था प्रवाहमान की अपेक्षा से नहीं मानी है कथञ्चित् मानी है।

जब श्वास लेता है और छोड़ता है तो इससे खेद उत्पन्न होता है। कभी-कभी किसी-किसी को जैसे आप एक बार श्वास लेते हैं, उसे उसी समय में दो-दो बार तीन-तीन बार लेनी पड़ती है। मानलो छोटा लड़का भी चल रहा है और जवान भी चल रहा है, जब आप एक बार कदम रखते हैं तब तक वह छोटा लड़का चार बार रख देता है। देवों में जितने सागर की आयु है, उतने पक्ष के बाद श्वास लेते हैं। तैंतीस सागर की आयु है तो तैंतीस पक्ष के बाद एक बार श्वास लेगा और छोड़ेगा ऐसा नियम है। जोड़े के साथ क्रम चलता है श्वास का अलग क्रम चलता हो और उच्छ्वास का अलग ऐसा नहीं है। नरकों में चूँकि अशुभ आयु है, इसलिए उसमें जल्दी-जल्दी लेनी पड़ती है। जैसे-फेफड़े खराब हों, क्योंकि अशुभ आयु के साथ परिणाम, लेश्या और शरीर की विक्रिया अशुभ होगी। अशुभ, अशुभतर, अशुभतम 'अधोऽधः' नीचे-नीचे ये कहा है, इन्हें श्वासोच्छ्वास बार-बार परिवर्तन करना पड़ता है, बदलना पड़ता है, इससे खेद उत्पन्न होता है। जैसे-कुछ घड़ियों में बहुत कम तो किसी-किसी में बार-बार चाबी भरनी पड़ती है, कुछ ऑटोमेटिक होती हैं, उसमें चाबी देनी ही नहीं पड़ती, कुछ घड़ी खराब होने पर सुधरती तो हैं लेकिन सुधारने वाला अलग होता है, ऐसी ही बनावट है।

''**ववहारो सो जीवो**'' यह व्यवहार से जीव है। अब आप सोचो कि ये जीव कैसा है? निश्चय में जो कहा है-वह वर्तमान में है ही नहीं वैसे क्षयोपशम के साथ क्षायिक की कल्पना नहीं होती लेकिन क्षायिक होने के पहले क्षयोपशम दशा में सद्अवस्था रूप से कर्मों का क्षय भी हो सकता है। सद्अवस्था रूप उपशम हो गया तो पुनः उभर भी सकता है लेकिन देशघाति स्पर्धकों का उदय न हो तो अपने आप उपशम में आ जायेगा। उपशम की प्रकृति यदि शान्त हो गई तो क्षय की प्रकृति भी शान्त होगी।

''**एकादीनि भाज्यानि युगपदे कस्मिन्नाचतुर्भ्यः**'' एक यदि होगा तो केवलज्ञान ही होगा और वह भी मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान ये चारों जब फेल हो जाते हैं तब ही केवलज्ञान होगा। ये चारों ज्ञान फेल कैसे होंगे? जब ज्ञानावरण कर्म का क्षय होगा। क्षयोपशम तो अनादिकाल से चल रहा है किन्तु क्षयोपशम ज्ञान के साथ क्षायिकज्ञान नहीं होता है। अब कर्म अपेक्षा से सिद्ध करते हैं।

एक सर्वघाति प्रकृति होती है और दूसरी देशघाति प्रकृति होती है। देशघाति प्रकृति में दोनों प्रकार के स्पर्धक होते हैं। सर्वघाति प्रकृति में एक ही प्रकार के स्पर्धक होते हैं। ज्ञानावरण में सर्वघाति मात्र केवलज्ञान है शेष मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानावरण में देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकार के स्पर्धक हैं, इनमें सर्वघाति स्पर्धक कैसे काम करते हैं ? जैसे–मानलो किसी को अवग्रहमतिज्ञानावरण का क्षयोपशम हुआ है तो वह उदयाभावी क्षय सद्अवस्था रूप उपशम सर्वघाति स्पर्धक का हुआ है और देशघाति स्पर्धक का उदय रहता है तो उस समय मतिज्ञान उसकी क्षमता के अनुसार हो जाता है, उसका नाम अवग्रह है लेकिन ईहामति ज्ञानावरणकर्म के जो उसमें सर्वघाति स्पर्धक हैं, उनका पूर्ण उदय है इसलिए वह नहीं हो पा रहा है। सर्वघाति की यही व्यवस्था है कि वह एक अंश को भी उद्घाटित नहीं होने देता है। सर्वघाति प्रकृति जहाँ पर उदय को प्राप्त है वहाँ तत्सम्बन्धी एक पर्याय भी उत्पन्न नहीं होगी तो सर्वघाति केवलज्ञानावरण का उदय रहते हुए केवलज्ञान का अंश या केवलज्ञान की एक किरण फूट नहीं सकती ऐसा निश्चित है। केवलज्ञान की किरण मानना यह आगमाभास है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आया है कि जब तक आप आत्म पुरुषार्थ नहीं करोगे तब तक पुद्गल की वह अद्भुत शक्ति केवलज्ञान के स्वभाव को प्रकट नहीं होने देती। तीसरी गाथा में मूल बात यही कही है कि **शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध चेतना ही उपादेयभूत है। शेष जितनी भी चेतनायें हैं, वे अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से भले ही उपादेय हों किन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से हेय है।**

अशुभोपयोग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग ये तीन प्रकार के उपयोग होते हैं। आगम में शुभोपयोग और अशुभोपयोग को अशुद्धोपयोग कहा है और शेष को शुद्धोपयोग कहा है। शुद्धोपयोग और केवलज्ञान में क्या अन्तर है ? केवलज्ञान शुद्धोपयोग के माध्यम से प्राप्त होता है, इसमें कार्य क्षायिक केवलज्ञान है और कारण शुद्धोपयोगरूप क्षयोपशमिक है। एक छद्मस्थ अवस्था में है दूसरा सर्वज्ञ दशा में हैं, एक ध्यान के रूप में है और ध्यान का फल ध्येय के रूप में है। अब दोनों एक कैसे होंगे? यदि शुभोपयोग से ही केवलज्ञान की प्राप्ति मानकर बैठ जाओ तो तीन काल में भी साक्षात् प्राप्त नहीं होगा। जिस प्रकार अशुभोपयोग से केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार शुभोपयोग से भी केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता किन्तु शुद्धोपयोग के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त होता है, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से उपादेयभूत तत्त्व केवल शुद्ध चेतना ही रहेगी और वह केवलज्ञान के बिना नहीं होती है। शुद्धोपयोग भी एक प्रकार से केवलज्ञान की दृष्टि में अशुद्ध चेतना है वैसे शुद्धोपयोग की व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। शुद्ध का उपयोग और शुद्ध में उपयोग इन दोनों में बहुत अन्तर है। शुभोपयोगी भी शुद्ध में उपयोग लगा सकता है, लेकिन उस प्रकार नहीं लगा सकता जैसा शुद्धोपयोगी लगाता है। सम्पन्न दशा और असम्पन्न दशा ये अलग वस्तु है लेकिन कदम एक ही दिशा में बढ़ रहे हैं। एक स्थान पर तुलना करते हुए कहा है कि–शुद्धोपयोग भी निश्चयनय की अपेक्षा से

अशुद्ध है क्योंकि वह भी क्षयोपशमिक दशा में विद्यमान है और जो ध्यान है, वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। यद्यपि ध्यान से केवलज्ञान प्राप्त होता है लेकिन धारणा में वह भी हेय है, ध्येय के रूप में नहीं है। शुभोपयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग भले ही ध्यानात्मक दशा है लेकिन वह भी कारण है। अब अपभ्रंश भाषा में एक दोहे से जीव का त्रैकालिकपना सिद्ध करते हैं–

वच्छ रक्ख भवसारिच्छ सग्गणिरय पियराय।
चुल्लयहंडिय पुण मडउ णव दिट्ठंता जाय॥

'वच्छ'–बछड़े को वत्स कहा जाता है। गाय अपने वत्स को जिस प्रकार वात्सल्य देती है, उसी वत्स से वात्सल्य बना। वैसे बड़ों के साथ वात्सल्य नहीं होता है। बड़े छोटे को वात्सल्य देते हैं। बड़ों का तो आदर करिये, विनय करिये, गुणगान करिये, प्रशंसा करिये।

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२५०॥ (स० सा०)

तीनों प्रकार के साधु अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु के साथ वात्सल्य रखें। ये रत्नत्रय के धारी होते हैं, इन्हें बड़े समझेंगे तभी तो आदेश की प्रतीक्षा करेंगे। नहीं, हमारे लिए तो वात्सल्य करने को कहा है फिर वह कोई आदेश नहीं मानेंगे, इसलिए बच्चों के लिए क्या कहा जाता है कि ज्यादा मुँह नहीं लगाया करो। नहीं तो फिर आदेश ही नहीं मानेंगे। **''बच्चों की दोस्ती, जी का जंजाल''** रखनी ही नहीं चाहिए। कई लोग यह कहने लग जाते हैं, ये बच्चों के महाराज हैं। हम अपनी परिधि से थोड़े भी बाहर चले जायेंगे तो कंगाल हो जायेंगे। बच्चों से क्या मिलने वाला है? कुछ भी नहीं उनके साथ तो सारा का सारा समय यूँ ही व्यर्थ चला जायेगा, इसलिए बच्चों से ज्यादा सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। जन्म लेते ही बछड़ा अपने आप ही दूध पीने लग जाता है, सब काम करने लग जाता है, क्योंकि आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं के अनादि के संस्कार हैं। यह इस दोहे के माध्यम से सिद्ध किया जा रहा है। **'रक्ख'** अनुभय वचन कहने वाले जो बछड़े वगैरह हैं, वे अपने आप ही बोलने लग जाते हैं यह बात अलग है कि वह अनक्षरी भाषा है, लेकिन इन्हें शिक्षण नहीं दिया गया। वह सुनकर अपने आप ही बोलने लग जाते हैं। इतनी बुद्धि चलती रहती है क्योंकि वह वचनयोग का प्रशिक्षण पूर्व भवों का है। मानलो विदेश में जन्म लेता है तो वहाँ पर अंग्रेजी चलती है और यहाँ पर हिन्दी चलती है तो सुन-सुन के भी ये सब काम होने लगता है, इसलिए अक्षर के उच्चारण आदि के माध्यम से ही यह ज्ञात हो जाता है, कि पहले से ही यह सुशिक्षित था, आज की यह देन नहीं है तो अतीत में भी यह जीव था, इसकी सिद्धि अक्षर इत्यादि के माध्यम से हो जाती है। कई बार शब्द विलोम हो जाते हैं। जैसे–संस्कृत में सफल का फसल (फलेन सहितं सफलं) हो जाता है। जब सफल फिसल गया तो फसल बन गया, उसी प्रकार यहाँ अक्षर का रक्ख बन गया। **'भवसारिच्छः'** न्याय में सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है, इसके विपरीत

विसदृश प्रत्यभिज्ञान या विलक्षण प्रत्यभिज्ञान एक ही बात है। बछड़ा जन्म लेते ही अपने आप भोजन वगैरह करने लग जाता है, यह बात अलग है कि हाथ से नहीं खाता मुँह लगा करके खाता है। जब हाथ काम नहीं करते उस समय दूसरा कोई खिला दे तो आप भी खा लेते हैं, सादृश्यता इन चार संज्ञाओं में पाई जाती है। चाहे मनुष्य हो चाहे तिर्यञ्च हो सबमें यह सादृश्यता पाई जाती है। इसमें प्रशिक्षण वाली बात ही नहीं है। पहले तो सर्वप्रथम ये क्रियायें होती हैं और उनमें यह सदृशता देखी जाती है **'सग्गणिरय'** इत्यादि इससे भी सिद्ध हो जाता है। जन्म लेता है तो कहाँ से आया है? चारों गतियों के अलावा कहीं और से आ ही नहीं सकता इसलिए स्वर्ग से आया, नरक से आया आदि-आदि जो बातें हैं, इससे भी जीव का त्रैकालिकपना सिद्ध हो जाता है। विज्ञान के पास अनागत और अतीत भव सम्बन्धी कोई भी युक्ति नहीं है। बस कोर्स पूरा करना है, जो वैज्ञानिक हैं, उनका अतीत क्या था? ये भी वह नहीं बता सकते हैं। जब तक बटन नहीं दबाया जायेगा तब तक तो वह घड़ी बोलेगी। कोई सुन रहा है कि नहीं इससे उसे कोई मतलब नहीं, ऐसा है विज्ञान। यह सब बातें विज्ञान में क्यों नहीं आयी यह उसका विषय नहीं है। विज्ञान के सामने एक चुनौती है, इतनी गहराई में वह पहुँच गया, इसकी गहराई के बारे में बड़ी-बड़ी पोथी लिखी गई हैं, लिख भी रहे हैं, शोध हो रहे हैं, लेकिन यह बात उसमें नहीं आयी, स्वर्ग-नरक की बातें आ भी नहीं सकती। **'पियर'** जो मेरे माता-पिता, भाई-बहन थे, वे स्वर्ग चले गये इस प्रकार जीव की पूर्व अस्तित्व के आधार पर ही कुछ लोग श्राद्ध करते हैं। कभी-कभी ऐसी चुनौती पूर्ण लेख आ जाते हैं जिससे विज्ञान को बहुत विस्मय होता है, तीन साल का छोटा-सा लड़का है, जातिस्मरण से बता रहा है कि-इतनी दूर पर वहाँ एक शहर है। उस शहर में वह मोहल्ला है, उस मोहल्ले में इस नम्बर का मकान है, उसमें चार मंजिल हैं, उसमें इतने व्यक्ति रहते हैं, मैं वहाँ इस नाम से रहता था, मेरी इस बीमारी से मृत्यु हो गई थी। अपने खाने-पीने, रहने के बारे में सब कुछ बता देता है, देखने पर वहाँ ज्यों का त्यों सच निकलता है, विज्ञान के लिए यह चुनौती है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान भी स्मृति आदि सम्यग्दर्शन की भूमिका में बहुत बड़ा काम करता है। पहले भी कई घटनाओं में अपने जातिस्मरण से या अवधिज्ञान के माध्यम से भवान्तर जानकर लोग वैर छोड़ देते थे पूरी फिल्म सामने आ जाती है। विज्ञान के इस वॉयरलेस वाले युग में यह देखने को मिल ही नहीं सकता। **'चुल्लय हंडिय'** चूल्हा है उसके ऊपर हंडा रखा है, उसमें दाल है, चावल है आदि-आदि डाल करके खिचड़ी पकती है, उसी प्रकार चार्वाकादि लोग कहते हैं कि-जीव पाँच भूतों के द्वारा उत्पन्न होता है, लेकिन यह मान्यता गलत है, यदि उत्पन्न हो जाए तो फिर बना करके दिखा दो, इसे जीवविज्ञान भी नहीं मानता। जैसे-मशीन चलती-फिरती है, विमान उड़ जाते हैं और रडार से पता लगाकर मशीन को कंट्रोल करते रहते हैं, अपना काम करके वे उसी स्टेशन पर पुनः उतर जाते हैं, लेकिन यह प्रशिक्षण दिया जाता है, यह सारा काम कम्प्यूटर से होता रहता है। दूर से ही संचालित करने वाला बहुत ही होशियार होता है। सुरंग बनाने के लिए भी जब ब्लास्टिंग करते हैं तो

पहले खोदते हैं, खोद करके उसमें बारूद भरते हैं, ऊपर से अच्छे से वो उसे पक्का कर देते हैं। फिर उसके उपरान्त अपने शरीर को सुरक्षित रखकर रिमोर्ट से ब्लास्टिंग कर देते हैं। आज इतना यांत्रिक युग हो गया कि मंत्र और तंत्र पर लोगों का विश्वास कम होता जा रहा है किन्तु जो आदिवासी हैं उनको विश्वास है और वह आज भी जड़ी–बूटी आदि का प्रयोग करते हैं। उनके पास पढ़े–लिखे लोग भी जड़ी–बूटी आदि की चिकित्सा कराके आ जाते हैं और किसी को बताना नहीं है, यह कह देते हैं, इस अंधविश्वास को विज्ञान आँखें बंद करके कभी भी स्वीकार नहीं करता। आँखें खुली रखो। खुली रहेंगी तभी आपकी सामायिक हो पायेगी, किन्तु पर पदार्थ से आँखें बंद करेंगे तभी सामायिक कर पाओगे, चिंतन करेंगे तो निर्विकल्प दशा आयेगी ही नहीं। तैरने वाला जो होता है, वह कभी डुबकी नहीं लगा सकता और जो डुबकी लगाता है वह तैरता नहीं, उसे नीचे जाना है तो पहले नीचे के पानी को ऊपर फेकता है, फिर नीचे से ऊपर उठ जाता है। यह प्रक्रिया है और हवा को जितना भरना है भर लेते हैं, बीच में हवा नहीं ली जाती सारे लोग बाहर रहेंगे वो डुबकी लगा लेंगे ये दृश्य बहुत अच्छा है, इस प्रकार आत्मा के ऊपर जो विश्वास कर लेता है,वह इन्द्रिय और मन के विषयों से विरत हो जाता है। अंधविश्वास का अर्थ ही यही है कि आँखें रहने पर भी अच्छे ढंग से नहीं देखना इसलिए हमारे भगवान् कहते हैं, पहले से ही आँखें बंद कर लो। दो इन्द्रियाँ असंयत जैसी हैं ''एक आँख और दूसरा कान'' शेष जितनी हैं वो वैसे ही संयत हैं। देखना नहीं चाहते फिर भी उधर ही देखने के लिए मन चला जाता है, नहीं देखते हैं तो सपने में देखते हैं, इसमें बुद्धि अपना काम नहीं करती फिर भी पञ्चेन्द्रिय के व्यापार चलते रहते हैं, साल भर पढ़ने पर भी पेपर करते समय पुस्तक देखकर नहीं लिख सकते। वो तो और कठिन होता है, देख करके लिखना नकल करके पास होना और कठिन है। कठिन नहीं है तो मोक्षमार्ग में नकल करके ही पास हो जाओ। एक स्वयंभू होते हैं, एक प्रत्येकबुद्ध होते हैं और एक बोधितबुद्ध होते हैं, बोधितबुद्ध ही हो जाओ। भले नकल करो पर पास हो जाओ तीर्थंकर के पास चले जाओ। कर लो नकल वो मना नहीं करेंगे और हम भी मना नहीं करेंगे। कोई भी मना नहीं करेंगे। **करो नकल तो फिर निकल आत्मा बन जाओगे**, ये भावों का खेल है। **'मडउ'** किसी के मरण के कारण जानने से जातिस्मरण होता है। जिसके साथ वैर या राग हो उसके कारण भी जातिस्मरण होता है अथवा इनने मेरा धन लिया था चुकाया नहीं, इस प्रकार अतीत से हमारा सम्बन्ध चालू हो जाता है और भी कुछ कारण होते हैं अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से भी जातिस्मरण होने में देर नहीं लगती लेकिन हो यह नियम नहीं। मिथ्यादृष्टि को यदि जातिस्मरण होता है तो उससे दुरुपयोग भी होते हैं। नरकों में जातिस्मरण होता है तो ये वो ही माँ है, जिसने मेरी आँखों को फोड़ने का विचार किया था अन्यथा काजल क्यों डालती थी ? एक हाथ से यूँ पकड़ती थी और एक हाथ से यूँ काला–काला कुछ लगाती थी। हाँ, मैं रोता था, हाथ–पैर मारता रहता लेकिन फिर भी पकड़ करके आँख फोड़ना चाहती थी अब आ गई देखो, उस समय मैं निर्बल था, इस समय

बलवान हूँ, बस चालू हो गई, यही चलता है वहाँ पर "**नारका नित्याशुभतर लेश्या परिणाम-देहवेदनाविक्रिया:**" जातिस्मरण से ऐसा होता है। अच्छा कार्य करना चाहता है लेकिन अच्छा कार्य नहीं कर पाता, अच्छा सोचना चाहता है, लेकिन अच्छा सोचा नहीं जाता, किन्तु अशुभ आयु, अशुभगति के कारण सारी-सारी अच्छाइयाँ विपरीत ही हो जाती हैं, यह नियम है। हाँ, कुछ लोग जातिस्मरण का सदुपयोग करके सम्यग्दृष्टि भी बन जाते हैं, यह जातिस्मरण मतिज्ञान का ही भेद है।

आचार्य कहते हैं—जातिस्मरण से सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है और वैर भी हो सकता है, दोनों बातें हैं। रावण की आँखें पहले खुल जाती तो रामायण ही नहीं होती, उस समय समझाया जा रहा था फिर भी नहीं समझा उसका कल्याण नहीं हुआ, धर्म से विमुख हो गया और नरक में चला गया। दोनों की बातें हो जाती न रामायण बनती न महाभारत। इसलिए हमारा कहना है कि **स्मृति ज्ञान की जो परिणति है, उसका उपयोग यदि पापोदय के पूर्व ही कर ले तो वह अच्छाई की तरफ उसे मोड़ सकता है** अन्यथा बुराई की तरफ मुड़ा हुआ उसका उपयोग है ही। मोह का कारण क्या? धर्म और अधर्म ये दोनों बातें रहती हैं। देखो, उस समय समझाया जा रहा था फिर भी नहीं समझा उसका कल्याण नहीं हुआ, धर्म से विमुख हो गया, उसने बहुत पुरुषार्थ किया कि मैं धर्म के मार्ग पर लगा रहूँ, पर नहीं लग पाया। सीता के जीव को देखते ही उसे स्मरण हो आया कि पाप के कारण मैं नरक आ गया। कर्म की उदीरणा के लिए नोकर्म मिल जाते हैं। जैसे—मानलो उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ, उससे हम कितने दरवाजे खोल सकते हैं। एक क्षयोपशम सम्यग्दर्शन भी हो सकता है, मिश्र प्रकृति की उदीरणा के योग्य नोकर्म मिल गये तो तृतीय गुणस्थान में भी जा सकता हैं। द्वितीय और प्रथम गुणस्थान में भी जा सकता है तो उसी प्रकार मानलो आयतन सम्बन्धी कोई नोकर्म मिल गया तो सम्यक् प्रकृति की उदीरणा हो जायेगी। आपके मन में कोई भी भूख प्यास नहीं थी लेकिन असाता की उदीरणा के लिए '**ओम कोठाय**' खाली पेट की ओर दृष्टि चली गई कि एक दिन हो गया भोजन नहीं किया अथवा कोई मित्र आ गया तो भोजन की इच्छा हो गई, यह नोकर्म के कारण ही होती है, इसलिए नोकर्म से बचना भी आवश्यक है। श्री धवला की पुस्तक रखी है, आज वैसे अष्टमी है। कोई बात नहीं सरसरी निगाह से देख लो तो सरसरी निगाह से देखते-देखते फिर अच्छे से ही देख लेते हैं फिर तो उसको रखते ही नहीं ऐसा होता है इसलिए नोकर्म से पहले ही दूर रहो। यह सिद्धान्त है। जातिस्मरण के लिए भी ऐसे ही नोकर्म मिल जाते हैं। मानलो कोई शव है, अन्यमति मानते हैं कि यदि पाँचभूत मिल जाते हैं तो जीव उत्पन्न हो जाता है फिर तो मृतक में भी उत्पन्न होना चाहिए। उसे आप खिलाओ, पिलाओ, सुनाओ लेकिन वह कुछ नहीं करता इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीव इससे कोई पृथक् है, इस प्रकार इस दोहा के माध्यम से नव दृष्टान्त देकर के चार्वाक मत के अनुसार चलने वाले जो शिष्य हैं उनको सम्बोधित किया गया है, क्योंकि शरीर दिखता है जीव तो दिखता नहीं। जैसे—मशीन का जमाना है, नट और बोल्ड लगा करके मशीन तैयार कर दी, वह ऐसी चलती है जैसे

जीव। इसी प्रकार हाथ-पैर, कान-नाक आदि इन अंगों के चलने से जीव कह दिया जाता है इसके अलावा कुछ दिखता भी नहीं। कई व्यक्तियों ने इसमें शोध करना चाहा कि जीव दिख जाए लेकिन कुछ भी नई चीज नहीं मिली। हड्डी, नस, धमनियाँ, रक्त, मज्जा आदि सात धातु के अलावा कुछ भी नहीं दिखा आज तक ये द्रव्य मन को नहीं समझ पाये। **द्रव्य मन के बारे में दो मत हैं**—प्रवाहमान मत तो यही है कि आठ पाँखुड़ी वाला कमलाकार वक्षस्थल के भीतर द्रव्य मन है, सुनते हैं इसको ढूँढ़ने के लिए कुंडली जागरण के अभ्यासी लोगों ने भी बहुत प्रयास किया, लेकिन दिखा नहीं। ये बहुत सूक्ष्म होता है, उसको हम देख नहीं सकते। यदि पञ्चेन्द्रिय और मन के विषयों से बचना है उन्हें जीतना है तो अपने उपयोग को उस ओर नहीं ले जाना, नोकर्म से इसलिए बचना आवश्यक है, इस प्रकार जीव की सिद्धि के लिए चार्वाक मतानुसारी शिष्य के लिए सम्बोधन के अर्थ नौ प्रकार के दृष्टान्त दिए हैं।

कुछ लोग शुद्धोपयोग को गौण रूप से और शुभोपयोग को मुख्य रूप से स्वीकार कर लेते हैं। उपयोग एक साथ मुख्य व गौण रूप से नहीं होते, किन्तु विवक्षा को लेकर कथन के समय एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता करते हुए किया जाता है। मुख्य रूप से जिसकी प्रतिज्ञा की जाती है, उसी का कथन होता है। आदिनाथ भगवान का जीवन चरित्र अथवा पुराण-पुरुषों का कथन प्रारम्भ कर लेते हैं तो उनकी मुख्यता रहती है लेकिन उनके साथ-साथ चक्रवर्ती हैं, अर्द्धचक्रवर्ती हैं, बलदेव हैं, वासुदेव हैं, उनसे सम्बन्धित उनकी नामावली आदि-आदि भी चलती है, लेकिन उसको गौण रूप से स्वीकार किया जाता है। मुख्य रूप से महापुरुष का जो चरित्र प्रारम्भ किया उसी को मुख्यता दी जाती है। उपयोग की व्याख्या संक्षेप से पूर्व में की गई है। वह उपयोग कितने प्रकार का होता है, अब आगे की गाथा में बताया जा रहा है। तीन गाथाओं तक ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का वर्णन करेंगे उसमें भी प्रथम गाथा में दर्शनोपयोग की मुख्य रूप से व्याख्या की जा रही है। विवक्षा अर्थात् वक्ता के आशयानुसार कथन होता है और इसी दृष्टि से यहाँ कहा जा रहा है।

उपयोग के भेद

उवओगो दुवियप्पो, दंसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खु ओही, दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

अर्थ—दर्शन और ज्ञान के भेद से उपयोग दो प्रकार का है। उनमें चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन भेदों वाला दर्शनोपयोग चार प्रकार का जानना चाहिए।

आतम में उपयोग द्विविध है आगम ने यह गाया है।
ज्ञान रूप औ दर्शनपन में गुरुवर ने समझाया है॥
ज्ञात रहे फिर दर्शन भी वह चउविध माना जाता है।
अचक्षुदर्शन चक्षु अवधि औ केवलदर्शन साता है ॥४॥

व्याख्या—दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन की अपेक्षा चार प्रकार का होता है। दर्शनोपयोग निराकार व निर्विकल्प होता है और ज्ञानोपयोग साकार व सविकल्प होता है। दर्शनोपयोग का विषय सामान्य होता है, जबकि ज्ञानोपयोग का विषय विशेष होता है। इसी प्रकार से तत्त्वार्थसूत्र की टीका, उपटीका से विषय उपलब्ध होता है, यहाँ पर भी वही विषय मिलता है।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल व त्रिलोकवर्ती समस्त वस्तुगत सामान्य को ग्रहण करने का है, फिर भी अनादिकाल से कर्म के आधीन होने के कारण चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से बाह्य में द्रव्येन्द्रिय का आलम्बन ले करके ग्रहण करता है सत्ता सामान्य को सांव्यवहारिक रूप से जो प्रत्यक्ष है निश्चय से उसको परोक्ष रूप ही कहते हैं। पश्य कहने से रूप का ज्ञान ही प्राय: सब लोग समझते हैं, लेकिन वह ठीक नहीं है वस्तु रूप से पूर्व में जो चक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से सामान्य अवलोकन प्राप्त हुआ है, वह मूर्त को पकड़ सकता है, चक्षुदर्शन के द्वारा कभी भी अमूर्त का दर्शन नहीं होता किन्तु अचक्षुदर्शन में मन के द्वारा कथञ्चित् अमूर्त भी समाविष्ट हो जाता है। केवलदर्शनावरण में सब आ ही जाते हैं। जैसे—चक्षुदर्शन रूपी पदार्थ को ग्रहण करता है, उसी प्रकार अवधिदर्शन का विषय भी रूपी है। इतना अवश्य है कि चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम के लिए बाह्य में द्रव्येन्द्रिय का आलम्बन लेना आवश्यक है, किन्तु भावेन्द्रिय ज्ञानात्मक होती है। जैनेत्तर में इसको कर्मेन्द्रिय कहते हैं। आँखें खोलने का अर्थ द्रव्येन्द्रिय का व्यापार हुआ भावेन्द्रिय का नम्बर तो बाद में आने वाला है। सर्वप्रथम दर्शनोपयोग व्यापार करेगा, फिर बाद में रूप को पकड़ने के लिए चक्षु इन्द्रिय का व्यापार होगा इसलिए बाहर से ''**द्रव्येन्द्रिय अवलम्बनात्**'' ये कहा है। आप लिखना चाहते हो तो मन से ही तो लिखते हो ना, ज्यों ही लिखना प्रारम्भ करते हैं त्यों ही मन काम करता है, चक्षु इन्द्रिय के साथ मन की व्याप्ति नहीं है। द्रव्येन्द्रिय का जो व्यापार हुआ है वह एकमात्र दरवाजा खोलने के रूप में है। जैसे—रूप को देखना है तो खिड़की खोले बिना हम रूप का अवलोकन नहीं कर सकते। उसी प्रकार आँखों से जब भी देखा आलम्बन ले लिया, इसमें कोई ज्ञान भी नहीं और दर्शन भी नहीं वह एक व्यापार हुआ। उस व्यापार के बाद दर्शनोपयोग उस पदार्थ को विषय बना लेता है, फिर बाद में रूप को ग्रहण करने के लिए जो चक्षु इन्द्रिय है उसका व्यापार कर लेता है। इतना कार्य इसमें होता है इसलिए इन्होंने द्रव्येन्द्रिय का आलम्बन ऐसा कहा। इस प्रकार कर्मेन्द्रिय, भावेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के विषय पाँच इन्द्रिय हैं तो ये पन्द्रह हो जाते हैं, इसलिए ''**द्रव्येन्द्रिय आलम्बनात्**'' कहा है किन्तु चक्षुदर्शन मूर्त को ही विषय बनाता है। शेष चार इन्द्रियाँ जो हैं वो अचक्षु दर्शन के अन्तर्गत आ जाती हैं। शेष इन्द्रियों के व्यापार के पूर्व भी द्रव्येन्द्रिय का आलम्बन लेना अनिवार्य होता है सामान्य अवलोकन यह व्यापक शब्द इसमें आया है। प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, चाहे वह चेतन हो या अचेतन हो, रूपी हो या अरूपी हो, मूर्तिक हो या अमूर्तिक हो, सामान्य का अवलोकन करना

दर्शन का विषय होता है और विशेष ज्ञानोपयोग का कार्य है। लगभग सभी आचार्य इस विषय को स्वीकारते हैं, किन्तु श्री धवलाकार के अनुसार ''**आत्मग्राही दर्शनं और परग्राही ज्ञानं**।'' ''अंतरङ्ग ग्रहणं'' जहाँ आयेगा वहाँ 'बहिरंग ग्रहणं' तो आयेगा ही। ''**बहिर्ग्राही ज्ञानं और अंतरग्राही दर्शनं**'' ऐसा ये जो विषय है वह कुन्दकुन्द भगवान् से अलग ही है। नियमसार में कुन्दकुन्द भगवान् ने उपयोग द्वार में ७-८ गाथाओं के माध्यम से शंका समाधान के साथ इस विषय का निश्चय और व्यवहारनय से वर्णन किया है। केवलज्ञानी त्रिकाल, त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को केवलज्ञान के माध्यम से जानते हैं, यह व्यवहारनय का विषय है, निश्चय से वह आत्म तत्त्व को जानते हैं। निश्चय से आत्मज्ञ हैं, व्यवहार से सर्वज्ञ हैं, ऐसा सिद्ध कर दिया। व्यवहार को पर और निश्चय को स्व कहा है। निश्चय में विषय वस्तु जो आत्म तत्त्व है, उसमें जो सामान्य विशेषात्मक है, उसको भी वह दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग विषय बनाता है, इसलिए विषयी सम्बन्ध दर्शन के साथ भी होता है। विषयी अर्थात् विषय करने वाला OBJECT होता है, इस प्रकार विषय और विषयी इन दोनों का गठबंधन होता है। **आचार्य वीरसेन महाराज** जी ने कहा है कि-वस्तु को विषय बनाने से पूर्व आत्मा का जो उद्‌गम होता है, उसका नाम दर्शनोपयोग है। कुछ अन्यमति दर्शनोपयोग के बारे में कहते हैं कि-आत्मा के पास दर्शन कोई वस्तु है ही नहीं, क्योंकि उसका विषय कुछ भी देखने को उपलब्ध नहीं होता है। यहाँ तक कि कई लोगों की तो ये धारणा है कि निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और मोक्षमार्ग आदि कुछ नहीं है। निश्चय से दर्शन है ही नहीं, ऐसा उन्होंने घोषित कर दिया। ये सारे के सारे दर्शन परोक्ष ही हैं। प्रत्यक्ष नहीं क्योंकि क्षयोपशमिक हैं और क्षायिक किसी का आधार नहीं लेता। क्षयोपशमिक किसी न किसी का आधार लेता है अवधिदर्शन आदि भी सहायता तो लेते हैं, लेकिन मन और इन्द्रियों का आधार नहीं लेते इस अपेक्षा से उसे प्रत्यक्ष कहा गया है। अचक्षुदर्शन मानस प्रत्यक्ष या स्वानुभव प्रत्यक्ष के रूप में अध्यात्म ग्रन्थों में वर्णित है। इस प्रकार मानसिक प्रत्यक्ष को प्राप्त करने के लिए इन्होंने द्रव्यमन का आधार बनाया। मानस प्रत्यक्ष का विषय मूर्त भी है और अमूर्त भी है किन्तु वह समस्त वस्तुगत जो सत्ता सामान्य है, उसको विकल्प से रहित परोक्ष रूप से ही देखता है, उसका नाम मानस प्रत्यक्ष अचक्षुदर्शन कहा है, इसमें भी मतैक्य नहीं है।

अकलंकदेव ने **राजवार्तिक** में उल्लेख किया है कि-मानस प्रत्यक्ष अचक्षुदर्शन जहाँ से उत्पन्न होता है, वहाँ पर तात्कालिक उस प्रकार की रचना विशेष हो जाती है और काम होने के उपरान्त उसको जैसे-फोल्डिंग कोई वस्तु होती है, उसको उठा करके रख देते हैं, इस प्रकार उन्होंने वर्णन किया। द्रव्यमन सामान्य रूप से हृदय स्थान है, ऐसा कहा जाता है, उसका आलम्बन लेकर होता है। कुअवधि के लिए उन्होंने कुछ अशुभ चिह्नों को नाभि के नीचे का स्थान और अवधिज्ञान के लिए नाभि के ऊपर शंख, पद्म, स्वस्तिक आदि चिह्न रहते हैं ऐसा बताया है। तत्त्वार्थसूत्र की टीका, उपटीका

इत्यादि में ये उल्लेख किया है कि जितनी भी इन्द्रियाँ होती हैं, वे नियत स्थान और नियत विषयी हैं किन्तु मन का कोई नियत स्थान और नियत विषय नहीं है। यह विषय राजवार्तिक में बहुत महत्त्वपूर्ण है। जितनी भी इन्द्रियाँ होती हैं उनकी निर्वृत्ति और उपकरण भी होते हैं, किन्तु मनोनिर्वृत्ति कहीं भी उल्लेखित नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अकलंकदेव की व्यवस्था वैज्ञानिक जैसी लगती है। मनोवर्गणा से मन या मनःपर्याप्ति की रचना होती है, लेकिन वो कहाँ पर होती है इसका उल्लेख श्री धवला, जयधवल इत्यादि में नहीं है, इससे यह अकलंकदेव का विषय ही पुष्ट हो जाता है। जैसे जादू की स्लेट होती है। बत्ती आदि की कोई आवश्यकता नहीं। कोई भी नोकदार वस्तु से उसके ऊपर लिखना प्रारम्भ कर दो, मिटाना है तो ऊपर का पेपर थोड़ा-सा यूँ उठा दो, उठाते ही गायब हो जाता है। आरम्भ भी कम है और लिख करके रख दो उसी को दो-तीन बार पढ़ लो। आचार्य अकलंकदेव ने ''**तत्-तत् प्रदेशाः**'' वहाँ-वहाँ के जो आत्मप्रदेश हैं वह उस मन के रूप में उभर करके मन का काम कर जाते हैं और निकल जाते हैं। यह विषय बहुत अच्छा मिला इसकी निर्वृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती उसका कोई एक निश्चित स्थान नहीं है। नियत स्थान यदि है तो हृदय स्थान ही क्यों? पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृति के कारण मनोवर्गणाओं के माध्यम से इसकी रचना जहाँ पर आवश्यक है, वहाँ पर हो जाती है, इन्द्रियों से हट करके इसकी व्यवस्था होती है, इसलिए नियत स्थान नहीं हैं। यह महत्त्वपूर्ण बिन्दु है और ये पूज्यपाद महाराज से चला आ रहा है। मनःपर्याप्ति से मनोबल, शरीर पर्याप्ति से कायबल, वचन पर्याप्ति से वचनबल होते हैं इस प्रकार कारण-कार्य है। तत्त्वार्थसूत्र की टीकायें, उप टीकायें टिप्पणी वगैरह के अनुसार तो मनःनिर्वृत्ति के कथन में यह नियत विषयी और नियत प्रदेशी नहीं है और अन्य इन्द्रियों के लिए नियत विषय और स्थान दोनों नियत हैं स्पर्शन इन्द्रिय शरीर की जितनी अवगाहना है उतने पूरे में नहीं है। जैसे-आलू का छिलका क्या पूरे आलू में है ? नहीं, ऊपर-ऊपर है। इसी प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय शरीर के प्रत्येक कोने-कोने में है, ऐसा न कह करके शरीर की जो सतह है उसमें है, मनोवर्गणा और नोकर्मवर्गणा की रचना अलग-अलग है। स्पर्श बड़ा है लेकिन स्पर्श के अन्तर्गत ही रस की संरचना भी है। जैसे-मानलो लाइट फिटिंग तो आप लोगों ने कर ली। कहाँ-कहाँ पर बल्ब लगाये वो भी नियत हो गये और सरकार से कनेक्शन भी ले लिया लेकिन मीटर का स्थान अनियत है, यह सरकार के हाथ में है ताकि लोग उसकी चोरी कर न सकें वॉयर ले करके उसमें बल्ब को लगाकर कहीं भी घुमा देते हैं। जिस प्रकार लाइट की व्यवस्था है, उसी प्रकार द्रव्यमन की व्यवस्था है, उसकी फिटिंग नहीं कर सकते। अनियत विषय और अनियत स्थान इसको बोलते हैं। जो द्रव्यमन है वह इन्द्रिय नहीं है, केवल सपोर्ट की अपेक्षा से कहा है और सपोर्ट जो है वह वहीं पर होता है, ऐसा कोई नियत नहीं ऐसा आचार्य अकलंकदेव का कहना है। जैसे-किसी भी कोने में बल्ब जला दिया लेकिन प्रकाश तो पूरे में आ जाता है। नाड़ी कहने से हम हाथ को ही देखे ऐसा कोई नियम नहीं है, एड़ी में है, पैरों में है, बाजू में है, ऐसे कई स्थान हैं जहाँ धड़कन दिखने में

आती है। एक जगह बंद होने पर वैद्य लोग अन्यत्र से पहचान लेते हैं, जाँच कर लेते हैं। केवल दर्शनावरण कर्म का क्षय होने पर जो सकल प्रत्यक्ष के रूप में एक साथ एक समय में जो देखता है वह केवलदर्शन है। अवधिज्ञान से पूर्व होने वाला सामान्य अवलोकन अवधि दर्शन है षट्खण्डागम और कषायपाहुड आदि के अनुसार अवधिदर्शन चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और अवधिज्ञान से पूर्व में अवधिदर्शन अनिवार्य होता है। विभंगावधि जब होता है तब अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी मिथ्यात्व से प्रभावित होने के कारण उसको विभंगावधिज्ञान रहता है। उस विभंगज्ञान के होने से पूर्व कोई दर्शन की व्यवस्था क्यों नहीं है, यह प्रश्न उठता है? इस प्रश्न का उत्तर आज तक कहीं भी नहीं दिया क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान में अवधिज्ञान सम्यक् ही होता है। उसके साथ से अवधिदर्शन होता है, यह आचार्य कह देते, किन्तु विभंग के साथ क्यों नहीं कहा? तृतीय गुणस्थान में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान ये तीनों मिश्रज्ञान के रूप में वर्णित हैं, पर दर्शन के लिए मौन ही रह जाते हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड में इसका उल्लेख किया है कि–तृतीय गुणस्थान में भी दर्शन होता है, इसमें सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ का REFERENCE दिया है। ज्ञान तीनों मिश्र हो गए लेकिन अवधिदर्शन को मिश्र नहीं कहा है, अन्यों ने तो कहा ही नहीं और उन्होंने कहा तो अवधिदर्शन पूर्ण ही रख दिया, यही षट्खण्डागम, श्री धवला, जयधवल, महाबंध इत्यादि में है। इससे यह फलितार्थ निकलता है कि आचार्य परम्परा में यह मत बहुत प्राचीनता से आया है, उसका अनुकरण करके नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में उल्लेख किया है। इसके उपरान्त द्वितीय गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता है, फिर भी वहाँ का ज्ञान मिथ्या होगा तो वहाँ पर दर्शन के बारे में सारे के सारे स्थान खाली रह जाते हैं, ऐसा क्यों हुआ? तो आचार्यों का उपदेश जैसा मिला है, उसी के अनुसार कहा है। आचार्य परम्परा में शंका नहीं चलती है, शंका तो अपनी है। "**पराभिप्राय निवृत्त्यशक्यत्वाद्**" राजवार्तिककार लिखते हैं कि–पर के अभिप्राय का निषेध हम नहीं कर सकते। ये कुछ भी कहता है तो उसे कहने दो ये उनका अपना स्वतंत्र अधिकार है। कोई कहे कि विभंगज्ञान के पूर्व कोई दर्शनावरण का क्षयोपशम आवश्यक नहीं। जैसे–मनःपर्ययज्ञान के लिए कहा है, लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि ज्ञान को विभंग बनाने का श्रेय मिथ्यात्व को जाता है और दर्शन को कोई मिथ्या नहीं बना सकता ऐसी स्थिति में विभंगज्ञान के लिए अवधिदर्शन की व्यवस्था कर लें तो कोई बाधा नहीं आती है। इसलिए नेमिचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती ने ऐसा कहा है। तृतीय गुणस्थान में सम्यक्त्व भी है, मिथ्यात्व भी है पर अलग-अलग नहीं, मिश्र रूप में है, लेकिन दर्शन मिश्र रूप नहीं है। जो आचार्यों का मत है उसको हमें स्वीकार करके चलना चाहिए। जैसे–घी में कोई मिश्रण नहीं होता, दूध में मिश्रण होता है। उसी प्रकार दर्शन में कोई मिश्रण नहीं होता। अवधिदर्शन के विषय में आचार्य अकलंकदेव की जो यह मान्यता है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है वे न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे और सहेतुक उपदेशक थे।

दर्शन निर्विकल्प और अभेद होता है। जैसे–सामायिक चारित्र अभेद होता है अर्थात् इसमें अट्ठाईस मूलगुण आदि का विकल्प नहीं होता। छेदोपस्थापना भेदपरक होता है। जैसे–धूप अथवा पानी में परछाई दिखती है, उसमें नाक, कानादि कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं होते केवल आउट लाइन जैसा दिखाई देता है, इसे हम निर्विकल्प कह सकते हैं। विकल्प अवग्रह से प्रारम्भ होते हैं। जिसमें यह सफेद है, ऐसा शब्द भी नहीं आता, मात्र है रूप अस्तित्व झलकता है, वही दर्शन है, जितने भी विकल्प हैं, वो सभी ज्ञान के माध्यम से ही हैं निर्विकल्प की परिभाषा भी ज्ञान से बता रहे हैं, विकल्प से निर्विकल्प का बोध हो जाता है। **पूज्यपाद स्वामी** ने **इष्टोपदेश** में ४२ नंबर के श्लोक में कहा है कि ये क्या है? किसका है? कहाँ से है? कहाँ पर है? आदि–आदि प्रश्न मत करो, ज्यादा छानबीन न करो। आम से प्रयोजन है पेड़ से क्या प्रयोजन अर्थात् विकल्प मत करो क्योंकि ज्ञान से आगे ध्यान तक पहुँचना है इसके लिए ज्ञान को दर्शनवत् रखना है, दर्शनोपयोग में वस्तु का दर्शन होते हुए भी कोई भेद नहीं है, शांत है लेकिन है जरूर अस्तित्व मात्र का द्योतक है। सामान्य प्रत्येक वाक्य में होता है, नहीं है कहने में भी, है अवश्य है इसका उदाहरण राजवार्तिक में बहुत अच्छा दिया है कि–किसी बच्चे को जन्म लेते ही कोई विकल्प नहीं रहता। जैसे ही आँखें खुली एक बार देखा उसे काला, गोरा, माता, पिता, परिवार, घर आदि से कोई मतलब नहीं अनभिज्ञ रहता है "**पश्यन्नपि न पश्यति**" जैसी स्थिति रहती है देखते हुए भी नहीं देखता। जैसे–वक्ता लोग बोलते वक्त इधर–उधर देखकर बोलते रहते हैं, किसी को पहचानते भी नहीं, फिर भी देखते रहते हैं, टेबल फेन की तरह। कई बार लोग पूछते हैं–महाराज जी ने हमारी तरफ देखकर बोला है, कहीं ऐसा तो नहीं कि आज का प्रवचन मेरे ही लिए किया हो, आपको बात समझ में आ गई तो हमारे प्रवचन की सार्थकता हो गई, अभिप्राय तो सब श्रोता का था, पर हमें ही कह रहे हैं ऐसा श्रोता को लग जाए यही वक्तृत्व कला है।

दर्शन, ज्ञानोपयोग के पूर्व में होने वाली उपयोग की दशा है। अवग्रह के पूर्व में भी एक अनिर्णीत अवग्रह (व्यञ्जनावग्रह) होता है, यह भी ज्ञानोपयोग ही है। विकल्प से निर्विकल्प में जाना कठिन है, जैसे-स्पीड में आगे जाने की अपेक्षा गाड़ी को स्पीड में REVERCE में ले जाना कठिन है, लेकिन यही पुरुषार्थ है कि ध्यान में बैठने के बाद देह को भूल जाना और पूर्वादि दिशा को भी भूलकर अपूर्व–अपूर्व जानना। निवृत्ति या सामायिक के समय पर ही सबको भूलने का अवसर है। कुछ लोग आकर पूछते हैं–महाराज! आप ध्यान की बात क्यों नहीं करते? जब आप ध्यान से ही सब काम कर रहे हो तो मैं क्या ध्यान की बात करूँ? जिस ध्यान के कारण भगवान् में मन नहीं लग रहा हो इसमें यदि आपकी रुचि नहीं है तो, हम ऐसा ही ध्यान तो छुड़वाना चाहते हैं, हम छुड़वा भी नहीं सकते, पहले जो मेरे–तेरे में लगे हुए हो उसको छोड़ो। ध्यान करना आसान है करवाना कठिन है। रुचि बनाओ और आसन की ओर पहले ध्यान दो यह भी कायक्लेश है। इष्टोपदेश में अंत–अंत में तो ऐसी गहराई की चर्चा है, बस प्रयोग करने वाला चाहिए "**स्वदेहमपि नावैति योगी योग**

परायण:'' ध्यानी को देह का भी भान नहीं रहता। क्या, क्यों, कैसा, किसका आदि कुछ विकल्प नहीं रहता।

''**पाठकान्विनयैः साधून् योगांगैरष्टभिः स्तुवे**'' साधु आठ योगों (यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, आसन, ध्यान, धारणा और समाधि) के माध्यम से उपयोग को निज में ले जाते हैं, अंतर्ध्वनि सुनते हैं, प्राणायाम करना नहीं, सहज हो जावे। कानों को पूरा बंद या पूरा खोलकर सुनने का आयाम न करे, थोड़ा बन्द थोड़ा खुला, ऐसी अवस्था में अलग ही अंतरस्वर सुनाई देता है। जैसे–बाँसुरी में वादक छेद कुछ बन्द कुछ खुले रखकर बजाते हैं तो सुरीले स्वर सुनते हैं। एकाग्रता का अभ्यास होने पर विकल्प मुक्त होते चले जाते हैं। जिन्हें चित्त की एकाग्रता नहीं हो या अन्यत्र उपयोग जा रहा हो उन्हें कहा जाता है स्वाध्याय करो, सम्यक् प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग होने पर उस ओर उपयोग जाता ही नहीं। ज्ञेय- ज्ञायक सम्बन्ध बना रहता है, तब ज्ञान दर्शनवत् रहता है। हाँ, प्रारम्भिक दशा में संस्कारवशात् मन जा सकता है। जैसे–पहला पेपर बिगड़ गया लेकिन दूसरा पेपर सुधार कर उत्तीर्ण हुआ जा सकता है। पहली बार मन चला गया, अब आगे मत जाने दो, **मन में विचार का आना और लाना इसमें अंतर है।** त्याग करने के उपरान्त याद रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। कई लोग कहते हैं कि–याद नहीं करेंगे तो हम भूल जायेंगे, जागृत रहोगे तो भूलोगे नहीं।

ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध बनाने में बहुत आयाम की जरुरत नहीं है, तेरा मेरा, छोटा बड़ा रूप जो भेद दृष्टि है, उसे ही बस भूलना है। जो मेरा नहीं है, उसे छोड़ना है, निश्चय से तो त्याग कुछ है ही नहीं, मोक्षमार्ग में कोई फावड़ा चलाने जैसा उपक्रम नहीं होता। अंतरंग पुरुषार्थ से **'ज्ञानी के छिनमाहिं त्रिगुप्ति तै सहज टरे तै'** अंतर का काम हो जाता है। ज्ञेय –ज्ञायक सम्बन्ध है तो बड़े-बड़े ग्रन्थ नहीं भी पढ़े तो कोई बाधा नहीं। समयसार में लिखा है कि–शुद्धोपयोगी यथाख्यात संयमी न कुछ ग्रहण करते हैं न कुछ छोड़ते हैं। बाहर के घर को छोड़कर MIND में जो घर कर लेते हैं, याद कर लेते हैं, अच्छे ढंग से सुरक्षित कर लेते हैं फिर लोगों की भीड़ देखकर खोलकर उन्हें दिखा देते हैं, यह मान का पुट है, मैंने इतनी बार स्तोत्र का पाठ कर लिया, ऐसा लिख करके रखते हैं, इसका मतलब बाहर से छोड़कर दिमाग में पकड़ कर रखा है। दर्शन का प्रकरण पूर्ण हुआ 'दर्शन' यह नपुंसक लिंग है, अतः **निर्विकल्पं दर्शनं** ऐसा कहा। अब ज्ञानोपयोग का प्रतिपादन करते हैं।

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाण-णाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्ख परोक्खभेयं च ॥५॥

अर्थ–ज्ञानोपयोग-मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान अवध्यज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान इस तरह आठ प्रकार का होता है, इनमें विभंगावधि, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान ये चार ज्ञान प्रत्यक्ष हैं तथा शेष चार ज्ञान परोक्ष हैं।

मति-श्रुत दो-दो और अवधि दो उलटे-सुलटे चलते हैं।
मन-पर्यय औ केवल दो यूँ ज्ञान भेद वसु मिलते हैं॥
मति-श्रुत परोक्ष, शेष सभी हो विकल-सकल प्रत्यक्ष रहे।
लोकालोकालोकित करते त्रिभुवन के अध्यक्ष कहें ॥५॥

व्याख्या—शुद्ध, अशुद्ध, मिथ्या, सम्यक् आदि विशेषण ज्ञान के साथ ही लगते हैं, दर्शन के साथ नहीं क्योंकि सामान्य में कभी दोष नहीं दिखाया जाता है, वह तो व्यापक रहता है और व्याप्त जो होता है, वह विशेष होता है। सामान्य अर्थात् द्रव्य-गुण त्रैकालिक होते हैं। अब यहाँ पर हमें यह सोचना है ज्ञान को जो आवरण करेगा वो ज्ञानावरण है आठ प्रकार के ज्ञान हैं तो आठ प्रकार के आवरण होना चाहिए? लेकिन मति, श्रुत, अवधि आदि पाँच ज्ञान के पाँच आवरण कर्म हैं, किन्तु तीन कुज्ञान के तीन आवरण करने वाले कर्म कौन से हैं ? आचार्यों ने कहा है कि—मिथ्यात्व के कारण ये तीनों ज्ञान मिथ्या हो जाते हैं, लेकिन मनःपर्ययज्ञान कभी मिथ्या नहीं होता। **तत्त्वार्थसूत्र** के प्रथम अध्याय में "**सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धे रुन्-मत्तवत्**" मिथ्यादृष्टि पागल के समान सत् को असत्, असत् को सत् स्वच्छन्दता से अपनी इच्छा से निर्णय ले लेता है। जैसे—अविवेकी बालक जो कुछ भी बोलता है, इसलिए तो उस बच्चे को न्यायालय में निर्णय के क्षेत्र में गवाही के लिए नहीं लाया जाता। वोट देने के लिए कम से कम नागरिक होना चाहिए।

मिथ्या बनाना अलग है और आवरण करके पूरा ज्ञान नहीं होने देना यह अलग है। दसवें गुणस्थान तक मोह से प्रभावित अज्ञान रहता है इसके उपरान्त अज्ञान सामान्य रह जाता है, जो आवरणी कर्म के कारण अज्ञान है, वह क्षयोपशमिक भाव बन्ध का कारण नहीं होता है, उसी प्रकार दर्शनावरण के उदय से अदर्शन होता है। "**ईषत् दर्शनं अदर्शनं**" अदर्शन का अर्थ—मिथ्यादर्शन नहीं है, क्षयोपशमिक होने से बन्ध का कारण नहीं होता, मोह से प्रभावित उपयोग बन्ध का कारण है। मुख्यतः इसी से ज्ञान-अज्ञान रूप रहता है, प्रत्यक्ष और परोक्ष अपेक्षा ज्ञान दो प्रकार के हैं पर+अक्ष अर्थात् पर साक्षी से होने वाला परोक्ष है, क्षेत्र कालादि की अपेक्षा जिसमें व्यवधान उपस्थित होता है, वह परोक्ष है। जैसे—राम-रावणादि अतीत की घटनायें हैं, इनकी पहचान के लिए हमारे पास आगमादि को छोड़कर कोई आधार नहीं है। अतीत की क्रिया के लिए संस्कृत में तीन प्रयोग है-(१) ह्यस्तनी—कल से संख्यात वर्ष पूर्व (२) अद्यस्तनी—आज का जो हो गया (३) परोक्ष—**परायत्तं इति परोक्षं**-ये परोक्ष बहुत दूर हो गया। भविष्य की अपेक्षा भूतकाल छोटा है, यद्यपि यह भी अनन्त रूप ही है, इस प्रकार जिसमें व्यवधान उपस्थित हो वह परोक्ष है, ऐसी स्थिति में अवधि, मनःपर्ययज्ञान भी परोक्ष हो जाते हैं, परन्तु इन्द्रिय मन के बिना होने से उसे प्रत्यक्ष कहा है, मैंने अपने कानों से सुना, आँखों से देखा इस प्रकार ये व्यवहार में प्रत्यक्ष माने जाने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, "**अक्ष्णोति, व्याप्नोति, परिणमति इति अक्षं**" जहाँ आत्मा ही साधन रूप, आधार रूप है वह प्रत्यक्ष है इस

अपेक्षा से अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान भी प्रत्यक्ष है, किन्तु इसमें क्षयोपशम दशा विद्यमान रहने से विकल प्रत्यक्ष कहा है। क्षयोपशम ज्ञान में जीव आत्मस्थ नहीं रहकर पर की ओर जाता है, इसे कथञ्चित् परोक्ष ज्ञान कह सकते हैं तथा जिसमें वस्तु के ज्ञान के लिए उपयोग को बाहर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती उसे हम प्रत्यक्ष कह सकते हैं, अवधिज्ञान में भी चाहे वह देशावधि हो परमावधि या सर्वावधि हो, ये पदार्थों की ओर लुढ़कते ही हैं। **ज्ञान का पदार्थ की ओर ढुलक जाना ही परम आर्त है पीड़ा है।** (मूकमाटी) इसलिए अध्यात्म ग्रन्थ कहते हैं कि स्वयं में ही संतुष्ट रहो पर की ओर मत जाओ, स्वस्थ हो जाओ तो स्वानुभव प्रत्यक्ष प्राप्त हो जायेगा, आज स्वानुभव की चर्चा तो बहुत है, पर अनुभव विषयों का हो रहा है, पर के ऊपर निर्भर होने के कारण यह भी परोक्ष के अन्तर्गत आ जाता है, स्वानुभव प्रत्यक्ष के रसिक श्रमण को प्रशस्त रूप पदार्थों का आलम्बन लेना भी अच्छा नहीं लगता।

प्रवचनसार में श्रमण का लक्षण बताते हुए कहा कि–जो पर की अपेक्षा से रहित हो जाता है, वह श्रमण होता है पदार्थों की ओर जब ज्ञान लुढ़कता है, तब इन्द्रिय और मन को ज्ञान का सहायक वाहन बना लेता है फिर इच्छाओं के माध्यम से उसकी बहिर्मुखी यात्रा प्रारम्भ हो जाती है और वहाँ निश्चित आकुलता पलती है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में इन्द्र की अच्छी समालोचना की है कि–वे पञ्चकल्याणकों में कितना प्रबन्ध करते हैं, पूरे कल्याणक का वह अध्यक्ष जैसा होता है, लेकिन उसे जोंक की उपमा देते हुए कहा है कि–उसे अपनी आत्मा का भान नहीं है, क्योंकि उस वक्त वह अन्तर्मुखी नहीं है, कई लोग बहिर्मुखी होने में ही चतुर्मुखी प्रतिभा सम्पन्न कहते हैं,चतुर्मुखी अर्थात् NEWS है NORTH (उत्तर), EAST (पूर्व), WEST (पश्चिम), SOUTH (दक्षिण)। इन्द्र एक भवावतारी होने पर भी विषयों का त्यागी नहीं है। **वीरसेन महाराज** ने **श्री धवला** में कहा–"**देवानां संयमस्य गंधोऽपि न भवति**" इन्द्र को भूख लग जाए तो पञ्च कल्याणक में ही भगवान् के सामने ही गले में क्षुधा अमृत छलक जाता है, आप लोग तो भोजन बनाने तक संयम रखते हैं लेकिन इन्द्र तो तत्काल शमन करता है, दूसरे स्वर्ग तक काय प्रवीचार होता है, इसमें सौधर्म इन्द्र भी आ जाता है। आनन्द अपने विचारों पर निर्भर है दूसरों पर नहीं, स्वानुभव प्रत्यक्ष के संवेदक निजात्मा में ही संतुष्ट रहते हैं–

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं ॥२१९॥ (स० सा०)

ग्रन्थ पढ़ना प्रारम्भ किया कि पृष्ठ गिनना चालू हो गया कि कितने बचे हैं, ये दौड़धूप है, मनन-चिन्तन पूर्वक एक गाथा पढ़ना भी पर्याप्त है, चिन्तन सहित गहराई से पढ़ने के १४ घंटे भी ४ घंटे जैसे लगते हैं, कुछ लोग सोचते हैं कि इन दिनों में तो कोई स्वाध्याय ही नहीं चल रहा, तो सुनो शास्त्रों को लेकर बैठने का नाम ही स्वाध्याय नहीं है, संतुष्टि स्वानुभव प्रत्यक्ष से ही होती है, इसलिए

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि– इसी में रत हो, संतुष्ट हो, तृप्त हो, इसी से उत्तम सुख होगा। सम्यग्दर्शन की प्रतिष्ठापना साकार उपयोग की भूमिका में ही होती है लेकिन निष्ठापन के समय दर्शनोपयोग भी सम्भव है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कथञ्चित् ज्ञान सहभागी है लेकिन दर्शनोपयोग नहीं। हाँ, दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोग की प्राप्ति में अवश्य ही अपनी भूमिका अदा करता है, दर्शनोपयोग OUT-LINE खींच करके NEGATIVE कापी पहले देता है उसी आधार पर POSITIVE बनता है, पाँच लब्धियाँ भी ज्ञानोपयोग की भूमिका में ही घटती हैं, दर्शनोपयोग की भूमिका में नहीं। सम्यग्दर्शन और दर्शनोपयोग दोनों एक नहीं है, जो कोई दर्शनमोह का क्षय करते हैं अर्थात् सर्वप्रथम मिथ्यात्व का क्षय करते हैं, वे उदयावली से भी मिथ्यात्व को समाप्त कर देते हैं फिर मिश्र प्रकृति व अनन्तानुबन्धी चार कषाय का क्षय कर मात्र सम्यक् प्रकृति का वेदन करने से कृत्यकृत्यवेदक हो जाते हैं ''**कर्तुं योग्यं येन कृतं**'' करने योग्य जो कार्य था, वह कर लिया अब होने योग्य जो कार्य है वह समय पर होगा। निर्विकल्प समाधि में ज्ञानोपयोग ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है, दर्शनोपयोग के साथ भी हो सकता है, जो शुद्धोपयोग की भूमिका में है, वहाँ पर भी यह उपयोग हो सकता है और रत्नत्रय को जो एक साथ प्राप्त करते हैं उस समय भी निश्चित साकार उपयोग ही होगा क्योंकि हेय का विसर्जन उपादेय का सृजन निराकार उपयोग में सम्भव नहीं, संक्रान्ति ज्ञेय में हो रही है, योगों में हो रही है उपयोग में नहीं, योग से योगान्तर, अर्थ से अर्थान्तर आदि होता रहता है, किन्तु उपयोग नहीं बदलता। जैसे–मानलो कोई चश्मे से देखता है तो कभी ऊपर से कभी नीचे से देखता है, साधन बदलता रहता है, पर उपयोग में अंतर नहीं आता, दर्शन के बाद ज्ञानोपयोग और ज्ञानोपयोग से ज्ञानोपयोग भी होता है। जैसे–मति से श्रुतज्ञान, श्रुतज्ञान से श्रुतज्ञान।

''**वितर्कः श्रुतं**'' का क्या अर्थ है? श्रुत का अर्थ है सुना हुआ, तो क्या सुनने के विषय में जो ज्ञान है, वह सारा श्रुतज्ञानोपयोग हो गया ? नहीं। अर्थान्तर होना चाहिए, गाथा याद हो जाना श्रुतज्ञान नहीं है, उसमें आनन्द नहीं, श्रवण में आनन्द आता है, श्रुतज्ञान परोक्ष ही होता है, पर मतिज्ञान कथञ्चित् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी होता है यहाँ पर आनन्द होता है। वितर्क का अर्थ ऊहापोह भी आता है, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, मीमांसा इत्यादि मतिज्ञान के परिवार हैं तो द्रव्यश्रुत के बारे में जो ऊहापोह करते हैं, वह मतिज्ञान के अन्तर्गत ही आ जाता है, किन्तु अर्थ से अर्थान्तर के समय श्रुतज्ञान होता है, शुक्लध्यान में मुख्यता श्रुतज्ञान की रहती है, लेकिन नियम नहीं बना सकते क्योंकि दर्शनोपयोग के साथ भी क्षपकश्रेणी चढ़ सकते हैं।

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना साकार उपयोग के साथ भी कर सकता है, निराकार उपयोग के साथ भी, मतिज्ञान के साथ भी, श्रुतज्ञान के साथ भी कर सकता है, विसंयोजना में अनिवृत्तिकरण परिणाम पाये जाते हैं, किन्तु क्षयोपशम के साथ इसकी कोई आवश्यकता नहीं है द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने लिए तीन करण किये जाते हैं, किन्तु मिथ्यात्व के आते ही तीनों करण छूट जाते

हैं एवं सम्यग्दर्शन जब प्राप्त होता है उस समय अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग चले जाने के उपरान्त अंतर-करण होते ही ये तीनों करण समाप्त हो जाते हैं और जब उपशम सम्यग्दर्शन होता है तब तो इनसे उदयावली ही रिक्त हो जाती है।

ज्ञानावरण घातिकर्म है, उसके पाँच भेद हैं, इसमें भी केवलज्ञानावरण सर्वघाति है, प्रभेद करने पर मतिज्ञान के भी ३३६ भेद हो जाते हैं, ये सभी देशघाति प्रकृति है, इसमें सर्वघाति और देशघाति दोनों प्रकार के साधन रहते हैं, इसमें भी सर्वघाति स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय और देशघाति स्पर्धकों के उदय से क्षयोपशम हो जाता है। देशघाति स्पर्धकों में तारतम्य देखा जाता है, सर्वघाति में नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए मिथ्यात्व का अभाव आवश्यक है, किन्तु सामान्य मतिज्ञानादि के लिए ऐसा नहीं है।

सम्यग्दर्शन हो या न हो ज्ञान-दर्शन का क्षयोपशम सभी संसारी जीवों को पाया ही जाता है, इसे क्षयोपशम भाव कहते हैं। कई लोग इस पुरुषार्थ में लगे हुए हैं कि ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ जाए, किन्तु वे खतरा ही मोल ले रहे हैं। ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान अभव्य को भी हो सकता है। **क्षयोपशम की महिमा मत गाओ, स्वभाव की महिमा गाओ** कोई भी कर्म के पास ऐसी शक्ति नहीं कि वह आत्मा के स्वभाव को पूर्णतः मिटा सके। कुमति, कुश्रुत ज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक अनन्त जीवों में पाया जाता है, ज्ञान का कभी अन्त नहीं होता। स्वभाव का विभाव रूप परिणमन तो हो सकता है, पर स्वभाव का अत्यन्त अभाव नहीं हो सकता। ज्ञानावरण भी ज्ञान को समाप्त नहीं करता किन्तु पूर्ण ज्ञान नहीं होने देता इससे स्पष्ट है, केवलज्ञानावरण भी कमजोर है कर्मफल बलवान नहीं, आत्म स्वभाव बलवान है, ज्ञानावरण का हस्तक्षेप क्षयोपशम दशा को प्राप्त मतिज्ञानादिक पर DIRECT नहीं होता। जैसे-हेडमास्टर का विद्यार्थी से DIRECT सम्बन्ध नहीं होता।

ज्ञान के द्वारा स्व द्रव्य को छोड़कर जो कुछ भी सोचा जाता है वह परिग्रह है। द्रव्य श्रुत अर्थात् शब्द भी परिग्रह है। आजकल तो इसकी अन्य तरह की ही तस्वीरें देखने में आती हैं। पुस्तकों पर लिखा रहता है सर्वाधिकार सुरक्षित अर्थात् उस पर इतना अधिकार है कि कोई हाथ नहीं लगा सकता है। जबकि एक-एक अक्षर मिलकर शब्द बना है और शब्द-शब्द मिलकर वाक्य बना है, उसमें किसी का क्या है? यदि अपने आपको श्रुतकेवली भी यह माने कि मेरे पास इतना ज्ञान है तो परिग्रह हो जायेगा। शब्द पकड़ा तो कई विकल्प आ जाते हैं, इसलिए शब्दात्मक श्रुतज्ञान परोक्ष है। **''परायत्तं परोक्षं''** जो पर का सहारा लेकर चलता है वह परोक्ष ज्ञान है। **अक्षं-अक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षं** अर्थात् जो स्व का सहारा लेकर चलता है, वह प्रत्यक्ष है। केवलज्ञानी कहते हैं कि-श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जो जानता है उन्हें केवलज्ञान होता है तथा श्रुतज्ञान के द्वारा सबको जानने वाले को नहीं। आत्मा को ही विषय बनाने वाले को भाव श्रुतकेवली कहा है, इसलिए यह समयसार का रहस्य है कि शब्दात्मक श्रुतज्ञान में इच्छा होने से परिग्रह कहा है। हेय को तो छोड़ो ही पर ज्ञेय को भी छोड़ो

वैसे ज्ञेयात्मक पदार्थों में राग द्वेष नहीं होते इसलिए इन ज्ञेय पदार्थों से अपने उपयोग को स्थिर कर सकते हैं।

दो प्रकार के चित्रकार हैं—एक चित्रकार बार-बार चित्र को देखता जाता है और बनाता जाता है और दूसरा वह है जो एक बार देख लेता है या सुन लेता है तो हू-बहू चित्र बना देता है। जैसे—श्रेणिक के लिए चेलना का चित्र अभयकुमार बनाकर दे देता है। कहने का अर्थ—यह हुआ कि कुछ न कुछ देखने या सुनने की आवश्यकता होती है, यही परोक्ष दशा है। जो ज्ञान पदार्थ की ओर जाता है, वह परोक्ष ज्ञान है। मनःपर्ययज्ञान का विषय दूसरे का मन तो बन जाता है लेकिन भव्याभव्य का विषय नहीं बना सकता। सूक्ष्म परिणति के बारे में हमारा ज्ञान कुण्ठित है पंगु तो चल भी सकता है, किन्तु हम तो इसके बारे में कुछ भी नहीं बता सकते हैं। जब तक जो साधन नहीं मिलता है, तभी तक उसके प्रति उत्सुकता आकर्षण बना रहता है।

ऐसा आगम कहीं नहीं मिलता कि गणधर परमेष्ठी तीर्थंकर के बाद ही मोक्ष जाते हों। गणधर-प्रतिगणधर में ज्ञान ऋद्धि आदि की अपेक्षा कोई अंतर नहीं है, मुख्य-गौण का अन्तर है पद की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं हैं, यह गणधर भी एक पद है, प्रत्येक मुनि गणधर नहीं बन सकते। उसके भी कुछ संस्कार होते हैं, लेकिन प्रतिगणधर जो हैं, वो गणधर नहीं कहलायेंगे। ये गणधर मुनि अनन्त सुख के निकट ही हैं। जैसे—पञ्चकल्याणक में सौधर्म इन्द्रादि पद होते हैं, वैसे ही समवसरण में गणधर पद होते हैं।

भविष्य की अपेक्षा अतीत का कालखण्ड छोटा माना जाता है फिर भी वह अनन्त है। सुख सादि है दुख अनादि है। दुख का भले अन्त हो जाए पर उसका आदि नहीं है। सुख का आदि तो है किन्तु अन्त नहीं है। जैसे—अनन्त सुख के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त धार्मिक कार्य करने नहीं पड़ते किन्तु वह उसे श्रद्धा से करता है। जैसे—बालक को शुरू में स्कूल जाना पड़ता है, किन्तु कुछ समय बाद स्वयं अच्छे से जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, कालादि का भी अपना प्रभाव होता है। जैसे—नारकी अच्छा कार्य करना और सोचना चाहे तो भी नहीं कर सकता। आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने एक अच्छी बात कही थी कि—चतुर्थकाल में जो हलुवा बनता था, वही पञ्चमकाल में भी बनता है, इस कारण काल में कोई भी विसदृशता नहीं है। काल कभी भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। **अशुद्ध द्रव्य ही दूसरों को बाँध सकता है और दूसरों से बँध सकता है,** किन्तु कालादि या बन्धोदयादि में अपना प्रभाव रहता है। अवश्य रहता है पढ़ने-सुनने से जो ज्ञान होता है, वह परावलम्बी है। सुनना श्रुतज्ञान नहीं मतिज्ञान है, क्योंकि स्मृति के माध्यम से हम पढ़ रहे हैं, सुन रहे हैं परोक्षज्ञान के माध्यम से मोक्षमार्ग में आनन्द नहीं आता, **मोक्षमार्ग में दृढ़ विश्वास से आनन्द आता है। उस विश्वास के माध्यम से वह आगे बढ़ते जाते हैं।** अवधिज्ञान के तीन भेद होते हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। कई आचार्यों का मत है कि सर्वावधि का विषय शुद्ध

परमाणु हो सकता है, लेकिन यह भव्य है या अभव्य है, यह नहीं बता सकते। यह एकदेश प्रत्यक्ष ज्ञान है। पूर्व के चार ज्ञान खण्ड-खण्ड हैं, लेकिन केवलज्ञान अखण्ड है।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी ये दोनों प्रकृतियाँ ज्ञान को मिथ्या बनाने वाली हैं। विरेचन दो प्रकार से होता है, अधोभाग से और ऊर्ध्वभाग से। वमन की प्रक्रिया बहुत भयानक होती है, ऐसी दशा में मरणासन्न होने में ज्यादा देर नहीं लगती। उसी प्रकार वमन के समान मिथ्यात्व दशा में इस जीव को निगोद जाने में ज्यादा देर नहीं लगती। क्या सही क्या गलत इसका विभाजन वह नहीं कर सकता। संसार का कारण जो गृहीत मिथ्यात्व है इसका बोलबाला यहीं भरत-ऐरावत क्षेत्र में है। विदेहक्षेत्र में गृहीत मिथ्यात्व नहीं है, उसकी प्रचार-प्रसार सामग्री नहीं है। गृहीत मिथ्यात्व के प्रचार-प्रसार से मिथ्यात्व बहुत पुष्ट होता है, यह सम्यग्दर्शन को मोहित करता है।

भगवान् ने क्या जाना, क्या देखा आदि आकुलता मति-श्रुत ज्ञान के द्वारा हो सकती है, किन्तु उसको जानना देखना परोक्षज्ञान के द्वारा तीन काल में सम्भव नहीं है, उसको एकदेश प्रत्यक्ष मनःपर्ययज्ञानी गणधरदेव भी नहीं बता सकते इसलिए वह भी कमजोर ज्ञान है। उसको जानने-देखने में केवलज्ञान ही सक्षम है। वही सकल प्रत्यक्ष है। जीवद्रव्य को अन्य द्रव्यों से पृथक् करने का माध्यम या साधन लक्षण होता है। लक्षण त्रैकालिक होता है तथा स्वभाव प्रकट होने पर सादि अनन्त होता है। स्वभाव तो सिद्धत्व है तथा लक्षण उपयोग है। हमारी पूरी की पूरी क्रियायें शरीराश्रित हैं और उसी को पृथक् करने का साधन आचार्य यहाँ बता रहे हैं। अशुभोपयोग से बचने के लिए कुछ ज्ञेय पदार्थों को रखा था लेकिन अब उसी में अटक गये तो केवलज्ञान कैसे होगा? **गुणभद्राचार्य** ने **आत्मानुशासन** में एक उदाहरण दिया है-किसी को अजीर्ण हो गया तो वैद्यजी ने सब प्रकार के भोजन का त्याग करा दिया, फिर उन्होंने चार पुड़ियाँ दीं। वह चार खुराक तो ज्ञेय रूप है। अजीर्ण तो इससे दूर हो गया किन्तु वह स्वादिष्ट थी तो उसने और खा ली तो अब औषधि खुराक बन गई और अजीर्ण का कारण बन गई। वह औषधि ही खुराक अर्थात् भोजन बन गई तो सब गड़बड़ हो गया। औषधि तो औषध रूप में उतनी ही मात्रा में लेना चाहिए लेकिन औषधि जिसके जीवन में खुराक बन गई तो उसका जीवन बेकार हो गया। उसी प्रकार दुनियादारी की सब बातें छोड़ दीं, तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखा, मात्र पिच्छी कमण्डलु और पुस्तक है, लेकिन उसी में रमने लग जाए तो जैसे-हाथी को उन्मत्तता से रोकने के लिए थम्बा रख लेते हैं किन्तु वह उसी थम्बे से ही रमने लग जाता है इसलिए हाथी का नाम स्तम्बेरमः रख दिया जाता है, वैसे ही यह साधु भी हो गया और साधनों को लेकर ही लड़ाई-झगड़े करने लगे अर्थात् साधन को साध्य मान लिया। सहारे को ही सारा मान लिया तथा उसमें मेरा-तेरा करने लगे। तव मम-तव मम जब तक है, तब तक वस्तु तत्त्व का सही ज्ञान नहीं माना जाता। यदि सही ढंग से '**तव मम**' का ज्ञान हो जाए तो खटपट ही समाप्त हो जाए। आचार्य उमास्वामी ने "**परोपरोधाकरण**" कहा है। जैसे-कोई किसी जगह पर जाकर बैठ गया और कहे कि यह मेरी

जगह है तो यह इस प्रकार परोपरोधाकरण अचौर्याणुव्रत का अतिचार है। **अचौर्याणुव्रत का निर्दोष पालन करना चाहते हो तो साधर्मी से विसंवाद करना छोड़ दीजिये, ऐसा करने से कर्म निर्जरा होगी। एक दूसरे को टोंकना या फिर मैं बड़ा तू छोटा यह विसंवाद ही खतरनाक है।** सामायिक में राग-द्वेष नहीं होते लेकिन शास्त्र स्वाध्याय में ही सबसे ज्यादा राग-द्वेष होते हैं।

नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं-

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥

नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की उपलब्धियाँ हैं, इसलिए विसंवाद होने लगे तो मौन ले लो, या कुछ समय के लिए स्थान परिवर्तन कर लो। एक के पास रत्नत्रय नहीं है, व्रतों का सही-सही पालन भी नहीं कर रहा है, लेकिन सुस्वर नामकर्म का उदय है। दूसरा एक साधक वह है, जो रत्नत्रय का पालन सही-सही कर रहा है लेकिन दु:स्वर नामकर्म का उदय है तो उसे कोई नहीं चाहता है। ऐसा होता है या नहीं? होता है। हम शब्दों के माध्यम से रत्नत्रय की परीक्षा करना चाहते हैं, यह गलत है। शब्द तो परिग्रह है, भावों को जानो। विधर्मी के साथ विसंवाद कभी नहीं होता। जैसे-दो बर्तन जहाँ होते हैं वे बजने लग जाते हैं, लेकिन जहाँ दो करपात्री हैं, वहाँ क्या बजे ? अत: विसंवाद न करें, राग-द्वेष न करें, राग-द्वेष से संसार की वृद्धि होती है। आस्रव-बन्ध को रोकने के लिए स्वाध्याय किया जाता है, लेकिन उसी के माध्यम से आस्रव-बन्ध होने लगे तो वह शास्त्र हमारे लिए शस्त्र के समान बन जायेगा जबकि शास्त्र हमारा उपकरण है। यह शास्त्र शस्त्र न बन जाए। उपकरण में राग होना महान् अजीर्ण होने का कारण है। उस आहार को तो पचा लेंगे किन्तु इस महान् अजीर्ण को न पचा पायेंगे। यदि अपच हो जायेगा तो संसार की वृद्धि हो जायेगी, पहले शब्द को छोड़कर ज्ञान में आओ फिर ज्ञान से भावों में आओ। शब्दों को लेकर ही लड़ाई करते रहोगे तो आत्म तत्त्व की प्राप्ति कभी नहीं हो सकेगी। लक्ष्य अपने सामने हमेशा रखें। **साधनों को जुटाते जाओ किन्तु साधनों में उलझने की कोई आवश्यकता नहीं है।**

जहाँ पर निश्चय शब्द लग गया वहाँ वीतराग चारित्र आये बिना नहीं रहेगा। जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है वह केवलज्ञान की अपेक्षा तो परोक्ष ही है, संसारी प्राणी जानने के लिए सहारा लेता है, भावश्रुत ज्ञानी सभी सहारों को छोड़कर मात्र स्व-संवेदन का ही सहारा लेते हैं, कोर्ट में कोई केस आता है तो जज वकील को सुनकर मन में विचार कर उसका न्याय करता है, न्याय में वास्तव में भीतर की बात होती है। पहले पंचायत में ५-५ मिनट में सब झगड़े निपट जाते थे और आज कोर्ट में ५-५ साल होने पर भी नहीं निपटते। आदिनाथ भगवान् के समय '**हा, मा, धिक्**' का दण्ड ही पर्याप्त था। इसी से इतनी चोट पहुँच जाती थी कि सब ठीक हो जाता था फिर इससे भी ठीक नहीं हुआ तो काला पानी। आदिनाथ भगवान् ने ''**शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा:**'' षट्कर्मों का उपदेश

दिया था, जो बच्चा सीखता नहीं था, उसके लिए डण्डा रखा जाता था, लेकिन आज तो डण्डे ही टूटने लगे हैं। सही न्याय तो विवेकपूर्ण संवेदन से ही होता है। केवलज्ञानी जैसे द्रव्यों को जानते हैं वैसे अवधिज्ञानी नहीं जान सकते और मनःपर्ययज्ञानी भी ईहापूर्वक जानते हैं। इसके मन में क्या है, इस प्रकार की ईहा के बिना मनःपर्ययज्ञान नहीं होता अतः चार ज्ञान सविकल्प प्रमाण तथा केवलज्ञान निर्विकल्प प्रमाण माना जाता है।

जीव का लक्षण

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥६॥

अर्थ—व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन को सामान्य रूप से जीव का लक्षण कहा गया है और शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध ज्ञान-दर्शन को जीव का लक्षण कहा गया है।

आतम का साधारण लक्षण वसु-चउ-विध उपयोग रहा।
गीत रहा व्यवहार गा रहा सुनो ! जरा उपयोग लगा॥
किन्तु शुद्धनय के नयनों में शुद्ध ज्ञान -दर्शन वाला।
आतम प्रतिभासित होता है बुध-मुनि मन हर्षणहारा ॥६॥

व्याख्या—जीव का लक्षण सामान्य से आठ प्रकार का ज्ञान, चार या नौ प्रकार के दर्शनोपयोग रूप है। उपयोग और चेतना में अंतर है। यहाँ पर गुणों को लेकर लक्षण बताया है, जब आत्मा ज्ञान-दर्शन के साथ परद्रव्य के सम्मुख होता है तो उसे उपयोग कहते हैं तथा बाह्य में न जाकर अपनी आत्मा में उपयोग को नियुक्त करना चेतना है। जैसे—लाइट का प्रकाश रहता है, तब उपयोग बाह्य पदार्थों को जानने-देखने में लग जाता है और लाइट बंद होते ही अब अपने आपको देखो यह कहने की आवश्यकता नहीं है। उपयोग अपने आप में सीमित हो जाता है, यही चेतना है। अपने आपको जानने-देखने के लिए, महसूस करने के लिए प्रकाश की, शरीर की, पञ्चेन्द्रियों की, 'मैं हूँ', यह कहने की आवश्यकता नहीं होती। रूप, रस, गंधादि से मैं रहित हूँ, यह ज्ञान होने के बाद 'मैं यह नहीं हूँ' या मैं दर्शन वाला हूँ, ज्ञान वाला हूँ, चारित्र वाला हूँ आदि-आदि कहने की आवश्यकता नहीं होती है। शुद्धनय का आश्रय लेने से ज्ञान, दर्शन शुद्ध होते हैं। हमारी दृष्टि में विकार आने का मुख्य कारण व्यवहारनय का आश्रय लेकर खण्ड-खण्ड देखना जानना ही है। प्रकाश की भाँति अखण्ड धारा में ही दृष्टि में विशालता, व्यापकता आती है तब ज्ञात होता है कि सभी जीव ज्ञान-दर्शनमय हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। यह दृष्टि व्यवहारनय में नहीं आ सकती है। सभी उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में महावीर, सीमंधर आदि-आदि नाम वाले तीर्थंकर भी अनन्त हो गये हैं। इस रहस्य को जानते हुए भी छटनी करता है, मेरा-तेरा, छोटा-बड़ा आदि भेद करता रहता है, इसलिए कहा है—''**जो स्वयं को समझते सबसे बड़े हैं, वे धर्म से बहुत दूर अभी खड़े हैं**''। निश्चय में बड़ा-छोटा कोई नहीं

होता है, कोई विभाजन, भेद-प्रभेद नहीं होते हैं। प्रकाश को आप देखते हैं, वह अखण्डित दिखता है, अतः प्रकाश को देखो तथा अपने आपको अखण्डित जान लो। दीपक से खण्डत्व का और प्रकाश से अखण्डत्व का ज्ञान-दर्शन होता है। जरा खुली किताब पढ़ो, उस एकत्व और अखण्डत्व की ओर दृष्टिपात न कर पाने से ही पतन हो रहा है। पतझड़ तो होता है लेकिन कंटक झड़ नहीं सुना है, फूलने वाला ही तो गिरता है। **वीतरागता की ओर देखता है तो गिरता नहीं, राग से पतन ही पतन होता है।** फूल के कारण ही कंटक दूषित होता है। वीतरागता चाहते हो तो कंटक की ओर देखो अर्थात् कंटकाकीर्ण पथ अपनाओ, जिसने साधना को अपना लिया है, उसे बार-बार अभेद को विषय बनाना चाहिए। महासत्ता को विषय बनाओ।

महासत्ता दो प्रकार की है—सामान्य और विशेष। सत् अर्थात् ''**उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्**'' है। व्यापकता की अपेक्षा सत् है सत् मूर्त और अमूर्त रूप है, यह खुली किताब है। सामान्य सत्ता का दर्शन आप किताब में नहीं कर सकते हैं, सत् का दर्शन हमें रात-दिन हो सकता है। व्यापक सत् का-विषय बनाना यह अखण्ड स्वाध्याय है। ''**आलस्याभावो स्वाध्यायः**'' कहा है—सत् का हमेशा चिन्तन और प्रयोग करने से किसी से राग-द्वेष नहीं हो सकता, प्रत्येक जीव में ज्ञान-दर्शन गुण हैं। एकेन्द्रिय आदि भेद मत करो, छोटे-बड़े का भेद मत करो यह व्यापक सत् है। चेतन-अचेतन, रूपी-अरूपी का भेद ही मत करो। ऐसा प्रयोग करने वाले सफलता प्राप्त कर लेते हैं। अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में इसका प्रयोग करते रहना चाहिए, इससे अपने उपयोग को ताजा बना सकते हैं। शुद्ध-अशुद्ध की विवक्षा करते हैं तो राग-द्वेष आ जाता है, इसलिए सामान्य से जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन कहा है। ''**तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे**'' आदि-आदि, ये क्या है ? इसमें किसी एक को मुख्यता दी है। विवक्षा का अभाव ही सामान्य है। जैसे—मौसम के अनुसार, पात्र के अनुसार भोजन बनाया जाता है, इसी प्रकार यह ''**तवसिद्धे णयसिद्धे संयमसिद्धे**'' आदि में एक ही की विवक्षा से कहा है। समान रूप से सामान्य की साधना कोई सामान्य नहीं है, आचार्य ने हम लोगों के लिए एक नहीं छह आवश्यक बताये हैं, ताकि उत्साह बना रहे। आदिनाथ भगवान् और महावीर भगवान् के शिष्यों के लिए पाठ रूप प्रतिक्रमण बताया गया है। शेष २२ तीर्थंकरों के समय पश्चाताप, प्रत्याख्यान किया, हो गया काम। हम लोगों के लिए कहा है—छह आवश्यकों में लगे रहो।

उपचार अर्थात् दूसरे का आरोपण (नैमित्तिक) अनुपचरित अर्थात् आरोपित नहीं है। शुद्ध अर्थात् परिपूर्ण, सद्भूत अर्थात् एक ही द्रव्य में और असद्भूत भिन्न-भिन्न द्रव्य को विषय करना, अशुद्ध याने अपरिपूर्ण, व्यवहार अर्थात् भेद रूप कथन। जहाँ कहीं भी शुद्ध निश्चय की बात आती है, वहाँ अखण्ड ही लिया जाता है और शुद्ध स्वभाव की ही चर्चा की जाती है। एक आत्म द्रव्य में दो आवरणीय कर्म के हटने से दो गुण प्रकट हो जाते हैं जो अपने-अपने में अखण्ड हैं, दोनों जीव के लक्षण हैं। जैसे—मुद्रा में दो पहलू होते हैं एक तरफ सन् आदि लिखा रहता है और दूसरी तरफ राष्ट्रीय

चिह्न (अशोक चिह्न) रहता है ये दोनों जिसमें हैं, उसे मुद्रा कहते हैं। इस प्रकार से एक आत्मा में दो उपयोग होते हैं। उपादेय दो प्रकार का साक्षात् उपादेय–केवलज्ञान, परम्परा उपादेय–मतिश्रुत आदि चार ज्ञान तथा साध्यभूत उपादेय केवलज्ञान और साधनभूत उपादेय शुद्धोपयोग इस प्रकार भी दो भेद होते हैं।

संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा द्रव्य और गुण में भेद हैं, लेकिन प्रदेश की अपेक्षा अभेद है यह अनेकान्त कथन है। संवेदन अपने ज्ञान या दर्शन का ही होता है, यदि भेद करना चाहते हो तो रुकिये नहीं, बढ़ते जाइये और जहाँ अभेद होता है, वहीं टिक जाओ, यह विशेष है। आवश्यक अपरिहाणी कहा है अर्थात् छह आवश्यक जिस समय जो कहा उसी समय वह करना यदि आगे पीछे करते हैं, कम ज्यादा समय में करते हैं तो इसका मतलब एक में विशेष रुचि और दूसरे में नहीं है, यह ज्ञात होता है।

विश्राम चाहते हो तो चलाकर जानना बंद कर दो, जानने की CAPACITY कम हो जाती है तो थकावट लगती है, जानने से सिर दर्द करता है, जाने हुए को स्मरण करता है, टेंशन करता है तो सिर दुखता है। केवलज्ञानी के ज्ञान में लोकालोक झलक रहा है। **''देखो नहीं, दिख जाए, लखो नहीं, लख जाए।''** भगवान् की नासा दृष्टि यही दर्शाती है कि ज्ञान को विश्राम दो। थकान को दूर करने के लिए शान्ति के साथ बैठ जाओ। जैसे भगवान् बैठे हैं।

प्रमाण के द्वारा जो जाना जाए, वह प्रमेय है। कुछ ध्यान में आता है कुछ लाया जाता है फिर भी नहीं आता है तो **''ज्ञानावरणेप्रज्ञाज्ञाने''** कहा है। जो जानने में क्रम से आ रहा है, उसे न जानकर अक्रम की ओर क्यों जाते हो? केवलज्ञान पाना चाहते हो तो पूर्व में जो कुछ दोष किये हैं, उन्हें देखो, जानो वह अपना ही इतिहास है। कोई भी दूध का धुला नहीं है। अज्ञान के कारण पाँच पापों को करता है और ज्ञान परिणाम आने पर पश्चाताप करता है, सुधार करता है। अपने आपको अशुद्ध समझे बिना शुद्धत्व की कल्पना बेकार है। अशुद्ध की बात सुनना नहीं चाहता और शुद्ध की बात सुनना चाहता है और करता है पाप। बंधन को जाने बिना विभाव के कारण समझे बिना स्वभाव की प्राप्ति सम्भव नहीं। जिस समय अस्वस्थ है, उस समय स्वस्थ होने की क्षमता तो है पर स्वस्थ नहीं है, कोई कहे कब तक दवाई खाऊँ जब तक स्वस्थ न हो। कब तक चलूँ जब तक मंजिल प्राप्त न हो, इस प्रकार चलते चले जाओ।

जीव का मूर्तिक-अमूर्तिक रूप

वण्ण-रस-पंच-गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥७॥

अर्थ–निश्चयनय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श नहीं हैं, अतः जीव

अमूर्तिक है तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्म बन्ध होने के कारण जीव मूर्तिक है।

पंच रूप रस पंच, गंध दो आठ स्पर्श सब ये जिनमें।
होते ना हैं 'जीव' वही है कथन किया है यूँ जिन ने॥
इसीलिए है जीव अमूर्तिक निश्चय-नय ने माना है।
जीव मूर्त व्यवहार बताता कर्मबंध का बाना है॥७॥

व्याख्या—वस्तु जिस रूप में है, उसको उसी रूप में स्वीकार करना निश्चय है, भेदोपभेद का कथन करना व्यवहार है, इसकी उत्थानिका में अमूर्त अतीन्द्रिय आत्म तत्त्व शब्द दिया है इसकी संवित्ति नहीं होने से कर्मबन्ध कर रहा है। कर्मों के ढेर पर बैठे हैं, इसलिए कर्म बन्ध हो रहा है, ऐसा नहीं है शब्द वर्गणायें ठसाठस भरी हैं, लेकिन कर्णेन्द्रिय के विषय सभी नहीं बनती हैं। शब्द के योग्य वर्गणायें ही विषय बनती हैं। उसी प्रकार कर्म वर्गणायें ठसाठस भरी हैं, लेकिन सभी कर्म रूप परिणत नहीं होती।

बाह्य तत्त्व में जो आकर्षण है, उसे प्राप्त करने की इच्छा यह बताती है कि आत्म तत्त्व का गौरव उनके पास किञ्चित् भी नहीं है। **अनन्त चतुष्टय से युक्त केवली भगवान् के प्रदेश दिन में कम से कम तीन बार आकर हमें छूते हैं, फिर भी हमें ज्ञात नहीं होने से कर्म निर्जरा नहीं होती।** छह महीने आठ समय में ६०८ जीव मुक्त होते हैं तो एक महीने में १०१ तथा एक दिन में कम से कम तीन केवली मुक्त होते हैं, वे तीन केवली समुद्घात करते हैं तो तीन बार उनके आत्मप्रदेश हमारे आत्मप्रदेश को छूते हैं, दो प्रतर के एक लोकपूरण ऐसे तीन समय तक तीन बार तीन केवली छू सकते हैं। इसका एहसास करो। नित्य बोलते हैं "**तव पादौ मम हृदये.........।**" उनके आत्मप्रदेश छूते हैं तो उससे हमारे कर्म की निर्जरा होती है या नहीं? हम छूने के भाव ही नहीं करते हैं तो कर्म की निर्जरा नहीं होती है। यदि उनके छूने मात्र से कर्म निर्जरा हो जाती तो फिर सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव जो तीनों लोकों में ठसाठस भरे हैं उनकी भी कर्म निर्जरा हो जायेगी। पर ऐसा नहीं है। कर्मबन्ध और कर्म निर्जरा उनके छूने या कर्म वर्गणाओं के बीच रहने मात्र से नहीं होती है। "**स्निग्ध-रूक्षत्वाद्बन्धः**" कहा है। स्निग्ध अर्थात् राग और रूक्ष अर्थात् द्वेष। राग व द्वेष दोनों से या एक से बंध होता है, इसलिए कहा है अमूर्त आत्मद्रव्य के संवेदन से रहित होने से बंध होता है। "**कुशलेष्वनादर प्रमादः**" कहा है। जो वर्धमान चारित्र वाले तीर्थंकर आदि होते हैं, वे कभी भी मूलगुण और उत्तरगुणों में प्रमाद नहीं करते और न ही दोष लगाते हैं। गृहस्थ में परिग्रह की अपेक्षा लड़ाई होती है और त्यागियों में उपकरण, कमण्डलु, चटाई, शास्त्र, जगह आदि के पीछे लड़ाई होने लगती है तो वह हँसी का पात्र बन जाता है इसलिए चुपचाप बैठो। जहाँ कहीं भी झगड़ा चल रहा है, वहाँ पर इन्हीं वर्णादि २८ को लेकर चल रहा है, ये संसारी प्राणी के मूलगुण हैं। एकेन्द्रिय के ८ मूलगुण, द्वी इन्द्रिय के १३, तीन इन्द्रिय के १५, चौइन्द्रिय के २० और पञ्चेन्द्रिय के २८ मूलगुण हो

जाते हैं, अनन्तकाल से इनको करते चले आ रहे हो, अब इनको छोड़कर साधु के २८ मूलगुण को धारण कर लो।

चारों गतियाँ मैदान हैं, जो ख्याति पूजादि में लगा है, वह इस मैदान में आ जाता है और अज्ञानी की उपाधि मिल जाती है। अपने चारित्र की रस्सी से इन विषयों के क्षेत्र को बाँध लो क्योंकि ये जीव के गुण धर्म नहीं हैं, यह श्रद्धान करके इन्हें सीमित कर लिया तो आकर्षण का केन्द्र बाहरी जगत् अब समाप्त हो गया। सामायिक में आत्मा और शरीर के बारे में एकत्व भावना, अन्यत्व भावना का एक बार तो चिन्तन अवश्य करना चाहिए। **इस देह को मत देखो, दिख रहा उसको मत देखो, देखने वाले को देखो। देह के अन्दर विराजमान आत्मा को देखो। प्रत्येक पदार्थ को देखने के उपरान्त जीवत्व से ये अन्य हैं, यह देखो।** और बाहरी २८ मूलगुणों को छोड़कर भीतरी अनेक गुणों को विकसित करने का प्रयास करो, जिससे नम्बर भी अच्छे मिलेंगे। गुणों का चयन करो, जो दिखता है वह गुण नहीं है, देखने वाला हमारी दृष्टि में आ जाए वही गुण है। वैरागी जीव को संसार में जो कुछ भी दिखता है, वह सब जड़ दिखता है।

राजवार्तिककार ने कहा है—मूल वर्ण ५ हैं उसमें भी एक-एक वर्ण के असंख्यात भेद हैं, इन कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से संसार भ्रमण होता है। जब आत्मिक ज्ञान हो जाता है तो ज्ञेयों के माध्यम से सुख-दुख नहीं होता, वे यह जानते हैं कि पर पदार्थों से सुख-दुख नहीं, अतः उससे भिन्न आत्म तत्त्व का संवेदन करते हैं। गुण नहीं गुण की परिणति इन्द्रियों का विषय बनती है। आप जो भी देख रहे हैं, वह रूप नहीं देख रहे, रूप की परिणति देख रहे हैं। गुण तो इन्द्रिय गम्य है ही नहीं। वह दिखता नहीं है पर्याय जो बदलती जाती है वह दिखती है। गन्ध गुण की दो पर्याय हैं सुगन्ध और दुर्गन्ध। वह परमाणु में भी रहती है, पर नासा का विषय नहीं बनती स्कन्ध बनने पर विषय बनती है। आँख मिचौनी खेलने में किसको आनन्द आता है तो खेलने वाले बच्चों को और देखने वाले वृद्धों को भी। जब बच्चे गिर जाते हैं तो वृद्ध हँस देते हैं, इसी प्रकार केवली भगवान् वृद्ध हैं और हम अज्ञानियों की आँख मिचौनी देखकर जानते रहते हैं कि ये अज्ञानी प्राणी आत्म तत्त्व को भूलकर घूम रहे हैं वास्तव में **तत्त्व ज्ञान का आकर्षण ही वैराग्य का कारण है। विषयों का अनुभव कभी वैराग्य का कारण नहीं हो सकता।** विषयों में आसक्ति होने से ताप-शान्ति कभी नहीं हो सकती। **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** कहते हैं**—"तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा"** विषय भोगते-भोगते भी तृष्णा होने से शान्ति को प्राप्त नहीं हुआ। तत्त्व ज्ञान होने पर विषयों के आवेग में एक सेकेण्ड के लिए भी ब्रेक लग जाए तो भी शान्ति मिल सकती है किन्तु संसारी प्राणी विषयों की तृष्णा के अतिरेक में विवेक को खो देता है। ब्रेक लगाना भूल जाता है तब गोलाटे खाकर तीव्र विषय कषाय का परिणाम होने से नरक में गिर जाता है। वहाँ जाकर फिर पश्चाताप करता है और यहाँ आते ही विषयों की हवा लगते ही सब भूल जाता है। नरक में जाने पर सम्यग्दर्शन हो सकता है लेकिन सातवें

नरक से यहाँ आता है तो सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता। नरकों में क्रोध और तिर्यञ्चों में माया की बारियाँ ज्यादा हैं। अगम्य स्थानों की तरह कुछ ऐसे विषय हैं जो तर्कणा से, न्याय से नहीं खुल पाते हैं स्पष्टीकरण नहीं हो पाता किन्तु तत्त्व ज्ञान होने पर इन्द्रिय विषय तजने में समय नहीं लगता। जैसे–गाड़ी गड्ढे की ओर गिरने को है तो वह उसी समय REVERSE में ले लेता है, ऐसे ही तत्त्व ज्ञान भी है। स्पर्शन इन्द्रिय पूर्ण शरीर में व्याप्त है, ध्यान के लिए स्पर्श ज्ञान शून्य हो जाए तो बहुत अच्छा है पर आसन लगाते समय ज्ञान को शून्य न बनाइये। आसन लगाने के उपरान्त स्पर्शन इन्द्रिय को शून्य कर दो, क्योंकि इसी के कारण आसन टूट जाता है, स्पर्शन और रसना इन्द्रिय कामेन्द्रिय हैं तथा अन्य शेष तीन भोगेन्द्रिय हैं। ध्यान में, आसनसिद्धि में स्पर्शेन्द्रिय ही बाधक होती है अन्य इन्द्रियाँ नहीं। इस शरीर को एक बार पड़ोसी बना लो, फिर तो आसन सिद्ध हो जायेगा, शरीर खड़ा है या बैठा, स्पर्श का भी संवेदन नहीं होगा। जब तक शरीर के स्पर्शादि से ऊपर नहीं उठते हैं तब तक ध्यान का सही आनन्द नहीं आ सकता। शरीर को पुष्ट करने का अनन्तकाल का संस्कार है, उसी में लगा रहता है, सोचता है कि ध्यान तो फिर कर लेंगे और वह अपने आपको ही भूल जाता है साधक श्वाँस का निरोध आदि सब साधना के बल से करते हैं। "**तू नित पौखे यह सूखे ज्यों धोवे त्यों मैली**" इस प्रकार का चिंतन चलता रहता है। अविरत सम्यग्दृष्टि का त्याग गजस्नानवत् कहा है अपने आपकी पहचान स्पर्श, रूप, रस, गंधादि से नहीं हो सकती, लेकिन व्यवहार में शब्दादि के माध्यम से ही जीव की पहचान होती है। ५० वर्ष बाद भी मिलें तो उसके शब्द से, बोली से पहचान लेता है। दूसरे भव में भी जातिस्मरण से उसी प्रसंग को याद कराके उसे बता देता है। जन्मान्तर में जाने के उपरान्त जाति–स्मरण पूर्व की घटनाओं का ही होता है, आत्म जागृति का स्मरण कभी नहीं होता।

अवधिज्ञान इन्द्रिय और मन से नहीं होता। श्री धवला ग्रन्थ की अपेक्षा सर्वावधि का विषय शुद्ध परमाणु बन जाता है और दूसरे आचार्य के अनुसार शुद्ध परमाणु नहीं, कार्मण स्कन्ध बनता है। जो शुद्ध परमाणु मानते हैं वे मनःपर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान का अनन्तवाँ अविभागी प्रतिच्छेद मानते हैं और जो कार्मण स्कन्ध को मानते हैं, उनके अनुसार मनःपर्ययज्ञान का विषय कार्मण स्कन्ध का अनन्तवाँ भाग बनेगा। आगम में भविष्यत् काल को भव्य कहा है, अतीत काल को अभव्य कहा, क्योंकि अतीत कभी लौटकर आने वाला नहीं है, इसलिए अतीत को अभव्य समझकर छोड़ दो। स्मरण, स्मृति, भूतकाल से सम्बन्ध रखते हैं। स्मृति वर्तमान में तो हो रही है, लेकिन अतीत की घटना को लेकर हो रही है, ज्ञेय को ज्ञान में आरोपित करके अतीत में भेज देते हैं, इससे ज्ञेयों से ममत्व हो जाता है, ज्ञान से नहीं। दृष्टा से ममत्व नहीं हुआ दृश्य से ममत्व हो जाता है। ऐसा वर्तमान को भूलने के कारण होता है जब ज्ञान अतीत–अनागत में चला जाता है तब अशुद्ध ऋजुसूत्र नय हो जाता है, घटनाओं से चिपको नहीं।

"**अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्चज्ञान फलम्**" पैसों को छोड़ दिया टिकट को ग्रहण कर

लिया और गाड़ी में बैठ गया। फिर दोनों को भूल गया। अब गाड़ी की रफ्तार के अनुसार ही मंजिल आने वाली है इसलिए गाड़ी में सो जाते हैं। प्रतिक्रमण में उपादान दृष्टि होने से आप सो नहीं सकते, दोषों के प्रति 'हान' दृष्टि होने से दोषों की हानि हो गई और फिर उसके बाद उपेक्षा अर्थात् सामायिक में बैठ गये, इसी प्रकार सभी में घटित कर सकते हैं।

हम सिद्ध परमेष्ठी को नहीं देख सकते, लेकिन वे सबको देखते हैं। जैसे–आकाश में स्थित सभी चीजें दिखती हैं किन्तु आकाश नहीं दिखता, क्योंकि आकाश अमूर्त है। यह जो नीला–नीला दिख रहा है, वह पौद्‌गलिक है। इन्द्रक विमान जो कि नीलम का है, वह दिख रहा है। सफेद वस्त्र पर जैसी लाइट होती है, वैसा कलर दिखता है, उसी प्रकार वह नीला दिखता है। आकाश अमूर्त है, रंग रहित है, उसे वैज्ञानिक नीला कहते हैं। रूप, रसादि से रहित है, फिर भी उसी रूपादि में अटकना कहाँ तक ठीक है ? **समयसार** में कहा है कि–शरीर की बनावट रूप, रंगादि को लेकर भगवान् की स्तुति करना व्यवहारनय का विषय है। उनका रूप दिव्य था, यह बताने के लिए वर्णों का वर्णन है। वस्तुतः तो आत्मा अमूर्त है, यह समझाने की बात नहीं विश्वास करने की बात है, मानने की बात है। जैसे–अपना संवेदन दूसरों के सामने रखा नहीं जाता है, पर का संवेदन हो नहीं सकता और थोपा भी नहीं जा सकता। अन्य मत वालों की संख्या ज्यादा है, उन्हें हम आत्मा दिखा नहीं सकते, समझा नहीं सकते और मनाना ठीक नहीं। **यदि मोक्षमार्ग दिखने लग जाए तो मोक्षमार्ग के उपदेश देने की कोई आवश्यकता ही न पड़े। मोक्षमार्ग आँखों का विषय नहीं, यह मानने का विषय है, जानने का नहीं पुरुषार्थ का विषय है।** मोक्षमार्ग में मतिज्ञान काम नहीं करता, श्रुतज्ञान का विश्वास ही कार्य करता है, इसमें मान्यता बहुत काम करती है। दूसरों को मनाने में अपना समय व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। नमक की डली में शक्कर की डली की मान्यता, मट्ठा को ही दूध मानने रूप मान्यता जिसकी है, उसे समझाना व्यर्थ है, क्योंकि वह नमक की डली जो अनन्तकाल से ग्रहण की है, उसे छोड़ नहीं सकता है।

M.A.का शिक्षण लेने के उपरान्त शोध के लिए किसी एक विषय का चयन कर लेते हैं, वह दूसरे के लिए कठिन हो सकता है किन्तु उसके लिए नहीं। तैली तिल में से तेल निकाल लेता है और जो भूसा है, उसमें से भी वह तेल निकाल लेता है, उसकी प्रक्रिया अलग है किन्तु वह भूसा नीरस नहीं है, वह भी काम का होता है, इसी प्रकार शोध वालों के लिए जो उन्होंने विषय लिया है, वह नीरस नहीं होता है। ठीक वैसे ही इन्द्रिय, मन सम्बन्धी २८ जो विषय बताये हैं, आत्मा उससे भी रहित है। वह नीरस नहीं है, उसका शोध करना है। कहा है–

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्ननपि न पश्यति ॥४१॥ (इष्टोपदेश)

अर्थात् जिसने आत्म तत्त्व को विषय बना लिया, वह अन्य बातों को नहीं करेगा। विषयी व्यक्ति

आत्मा को भी विषय बनाकर विषयों की ही पुष्टि कर लेता है। अभव्य ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त करके भी समवसरण में प्रवेश नहीं कर पाता। यह आस्था का विषय ज्ञान पर निर्भर नहीं है, निरक्षर व्यक्ति भी आस्था को विषय बनाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। अभव्य का ज्ञान और विश्वास –''खोदा पहाड़ निकली चुहिया'' के समान है, क्योंकि ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर भी आत्मा अमूर्त है इसका विश्वास रूप स्वाद नहीं आता। भले ही दूसरों को समझाने रूप ज्ञान हो गया है।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणोवि फासेदि य।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२९३॥ (स० सा०)

इससे नव ग्रैवेयक तक वह पहुँच जाता है लेकिन उसका यह सारा का सारा ज्ञान बोझ है बोध नहीं, क्योंकि **''रोके न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय''** मोक्ष निराकुलता रूप है, यह उसे श्रद्धान नहीं हो पाता है। बीज को यदि खाद पानी मिल जाता है तो वृक्ष रूप हो जाता है और बीज जला दिया जाए तो उसमें ऊगने की क्षमता समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार राग–द्वेष रूपी पानी मिलने पर मूर्त का अमूर्त के साथ बन्ध होने से जीव की परिभ्रमण पद्धति बढ़ती जाती है। कर्म अनादि से बँधा हुआ है, इसकी आदि नहीं है, इसको स्वीकार करने में भी लोगों को पसीना आता है। आज विज्ञान के पास सिद्धान्त न होने से कई समस्यायें ज्यों की त्यों खड़ी हैं। शारीरिक संरचना का निर्माण तो वैज्ञानिक मानता है, लेकिन कर्म और शब्द का निर्माण आज तक विज्ञान नहीं जान पाया। शब्दों का संग्रह करना अलग है और निर्माण करना अलग है। विज्ञान ने शब्दों का निर्माण नहीं किया। वचन वर्गणा के बिना शब्दों की संयोजना नहीं हो सकती। कर्म सिद्धान्त में शरीर की उत्पत्ति के लिए वेद और आंगोपांग नामकर्म बताया है। भीतर उन कर्मों के पास ऐसी क्षमता रहती है कि द्रव्य, कालादि के निमित्त से कर्म अपना फल देते रहते हैं, उसका नाम उदय है, ऐसा **सर्वार्थसिद्धि** में कहा है। सन्निकर्ष प्रकरण पढ़ते हैं, उससे ज्ञात होता है कि भोगभूमि में पल्योपम आयु तक वे युगल रहते हैं और अन्त–अन्त में ही गर्भ धारण करते हैं। तिर्यञ्च में ३–४ महीने तक, मनुष्य में ९–१० महीने तक ऐसा क्यों ? मनुष्य में आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के बाद ही सम्यग्दर्शन होता है और तिर्यञ्चों में मुहूर्त पृथक्त्व में ऐसा क्यों ? तिर्यञ्चों में बुद्धि की उन्नति इतनी जल्दी क्यों होती है? तो यही कहना होगा कि इस प्रकार की उनमें भिन्न CAPACITY है यह सन्निकर्ष का परिणाम है कि आज ज्वार, गेहूँ, चना आदि जल्दी आ जाते हैं अर्थात् उस पेड़ में सन्निकर्ष के माध्यम से जल्दी–जल्दी बीजोत्पत्ति हो गई। पहले गेहूँ ३ महीने में आते थे, आज २ महीने में ही आने लगे। आज २ वर्ष का आम का छोटा–सा पेड़ है, उसमें आम लग रहे हैं। आज तो एक ही पेड़ में आम, अमरूद, टमाटर सब लग रहे हैं तो यह उस पेड़ में इस प्रकार की क्षमता आ गई है। उसी प्रकार यह शरीर भी एक वृक्ष है, जिसके माध्यम से नोकर्म में इस ढंग से परिवर्तन लाया जा सकता है। जैसा चाहो वैसा परिवर्तन हो सकता है। जैसे–सुना है अब आलू ऊपर पैदा होने वाला है। वृक्ष में कलम आदि के द्वारा भी अन्य रूप

परिवर्तन किया जा सकता है। लेकिन आगम की जो मान्यता है वह विज्ञान से पृथक् है। संतुष्टि ज्ञान से होती है। एक साथ पूरी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, टुकड़े में ही संतोष करो और मानो। कृत्रिम वस्तु को देखकर ही अभिमान होता है पर अकृत्रिम वस्तुओं को देखने से मद चूर-चूर हो जायेगा। उसके बारे में पूर्ण ज्ञान है कहाँ? जब चीज नहीं दिखती तो उसका ध्यान करो और जब चीज दिखती है तो उसको देखो, जानो और मानो।

कर्म यद्यपि मूर्त है, फिर भी हमारी बुद्धि का विषय नहीं होने से मान्यता का ही विषय बनता है। आकाश को किसी ने देखा नहीं है, वह अमूर्त है लेकिन कुछ है यह तो स्वीकारना होगा। शरीर अन्न ग्रहण करने की क्षमता से टिका है, कथञ्चित् जीव मूर्त है, कथञ्चित् अमूर्त है। जैसे-आधा तोला सोना और आधा तोला ताँबा से कड़ा बना, अब उसे आप क्या कहोगे ? सोने का या ताँबे का, लक्षण से दोनों भिन्न हैं, लेकिन अभी एकमेक हो गये हैं। ''**जलपय ज्यों जिय तन मेला, पै भिन्न -भिन्न नहीं भेला**'' इसी प्रकार कर्म और जीव भी लक्षण की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। हाथ में लड्डू है तब तक उसका स्वाद नहीं आ सकता, लड्डू देखने मात्र से भी स्वाद नहीं आता। उसी प्रकार अमूर्त आत्म तत्त्व की प्राप्ति बिना उसका अनुभव नहीं। अनन्त चले गये समझाने वाले, फिर भी सामने वाला समझ ही जाए यह कोई जरूरी नहीं। १२ वें गुणस्थान तक सब परोक्ष रहता है तथा परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन केवलज्ञान के साथ उत्पन्न होता है जो कि मूर्तामूर्त सबको प्रत्यक्ष देखता है। धन और ऋण मिलते हैं तो लाइट जल जाती है और इनमें थोड़ा-सा भी अन्तर हुआ तो लाइट गोल। इस प्रकार १३ वें गुणस्थान में धन-ऋण पूर्णतया मिल गये। यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो गई ऐसा जानना चाहिए। यह आगम का विषय है इसका श्रद्धान मजबूत होना चाहिए। जिस प्रकार दूध में घी है यह विश्वास जिसे है वही दूध तपायेगा। दूध का लोभ करने वाला घी को प्राप्त नहीं कर पायेगा और फट जायेगा तो किसी काम का नहीं रहेगा इसलिए **यह मनुज पर्याय रूप दूध मिला है इसमें से परमात्मा रूपी घी निकाल लो।**

''कुम्भं करोति इति कुम्भकारः'' और स्वर्ण के आभूषण बनाने वाले को स्वर्णकार यह दोनों निमित्त कर्त्ता है। अपने यहाँ दो प्रकार के कर्म हैं-वैस्रसिक, प्रायोगिक। कर्म -नोकर्म यह वैस्रसिक नहीं, प्रायोगिक है। पुरुष के द्वारा जो किया जाता है उसे प्रायोगिक कहते हैं। तत्-वितत् घन आदि प्रायोगिक हैं तथा मेघ के गरजने आदि की आवाज वैस्रसिक है। ध्वनि को एकान्त से वैस्रसिक नहीं कह सकते क्योंकि यह अकेले पुरुष का कार्य नहीं। वाद्य पर वादक जैसे तर्जनी आदि चलाता है वैसे ही बोल निकलते हैं, इसी प्रकार पदार्थ की ओर जो ध्यान आकृष्ट हुआ है वह पुरुष के कारण हुआ, इस प्रकार का यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी समग्रता से होता है ''**तीव्रमंदज्ञाताज्ञात...।**'' जीव तीव्र-मन्द भावों के अनुसार कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करता है। समन्तभद्रस्वामी ने कहा है-''**उच्चैर्गोत्रंप्रणते**'' प्रणाम करने से उच्च गोत्र का बन्ध होता है किन्तु वह भी परिणामों के

अनुसार। जैसे–एक व्यक्ति ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेता है और दूसरा राजा का लड़का हो गया तो इस प्रकार उच्च गोत्र में भी असंख्यात भेद हो जाते हैं। कोई भी मिथ्यादृष्टि नव ग्रैवेयक में अहमिन्द्र बन सकता है, लेकिन इन्द्र–प्रतीन्द्र नहीं बन सकता। इन्द्र बनने के लिए बहुत–सी बातें और भी आपेक्षित होती हैं। यदि अभव्य है तो इन्द्राणी भी नहीं बन सकता इसलिए कर्म के असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं। अनुभाग अच्छा मिला है, लेकिन क्षेत्र अच्छा नहीं है तो वह कुछ काम का नहीं। जैसे–किसी ने डाक्टरेट कर ली लेकिन मिडिल में पढ़ा रहा है, क्योंकि सभी प्रकार से अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, कालादि का योग मिलना बहुत कठिन है। पाकशास्त्री भी क्यों न हो, वह भी पहली बार जब रोटी बनाता है तो कड़ी ही बनती है, वह पहली रोटी दिखाता नहीं है। किसी भी क्षेत्र में काम करिये, शुरुआत तो ऐसी ही होती है। बालक जब बोलना शुरू करता है तब भी तुतलाता है और बूढ़ा होता है तब भी दाँत टूट जाने पर तुतलाता है। बालक जब चलना सीखता है तब वह गिरता है और बूढ़ा होता है तब भी लड़खड़ाता है। बाह्य–आभ्यन्तर सामग्री की समष्टि होने पर ही कार्य सही होता है। किसी एक व्यक्ति को चार व्यक्तियों ने मिलकर मारा लेकिन उसमें भी एक ने बदला लेने की अपेक्षा से मारा, दूसरे ने देखा–देखी से मारा, तीसरे ने बिना रस लिए मारा और चौथे की उपस्थिति मात्र रही। यह मारने रूप कार्य एक ही समय में हो रहा है पर तीव्र–मन्द आदि–आदि जैसे–जैसे भाव होंगे वैसा ही अनुभाग बन्ध होगा। मैंने पूर्व में ऐसा क्या किया था, यह सोचेंगे तो माथा घूमने लगेगा इसलिए पूर्व का स्वयं के द्वारा ही बांधा हुआ वर्तमान में भोग रहे हैं, इतना ही सोचें।

व्यवहारनयापेक्षा जीव के कर्तापना

पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्ध भावाणं ॥८॥

अर्थ–आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है। निश्चयनय से चेतन कर्मों का और शुद्धनय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

पुद्गल कर्मादिक का कर्त्ता जीव रहा व्यवहार रहा।
रागादिक चेतन का कर्त्ता अशुद्धनय से क्षार रहा॥
विशुद्ध नय से शुद्धभाव का कर्त्ता कहते संत सभी।
शुद्धभाव का स्वागत करलो करलो भव का अंत अभी ॥८॥

व्याख्या–यहाँ का श्रावक बनना ठीक है किन्तु म्लेच्छखण्ड का राजा बनना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसका कोई मूल्य नहीं है, इसके लिए भीतरी उपादान की योग्यता भी भिन्न–भिन्न हुआ करती है, कर्म का जैसा अनुभाग पड़ा है, वैसा फल मिलता है, ऐसा भी एकान्त नहीं क्योंकि वर्तमान के परिणामों के अनुसार अनुभाग का अनुभव होता है। अनुभाग प्रशस्त प्रकृतियों में अच्छा पड़ा और उसका उदय भी हो गया किन्तु योग्य क्षेत्रादि यदि नहीं मिला तो उसका रस उस रूप में नहीं मिलेगा।

इसके साथ बहुत सारे निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध मिलेंगे, तभी वह कार्य होगा अन्यथा नहीं। जैसे–एक व्यक्ति मिठाई खा रहा है, एक टुकड़ा मुँह में डाला ही था कि दुख के समाचार मिले कि घाटा हो गया है तो मुँह में जो मिठाई है, वह भी कड़वी लगने लगती है और एक व्यक्ति परिश्रम करके रूखी रोटी खा रहा है, इतने में किसी ने उसे अच्छी खबर सुना दी कि लॉटरी खुलने वाली है तो वह रूखी–सूखी नीरस रोटी भी सरस भोजन जैसे लगने लगती है। अप्रशस्त प्रकृतियों का उदय होते हुए भी **यदि वर्तमान में हमारे परिणाम प्रशस्त होंगे तो वह तीव्रोदय भी कम रूप में फल देकर चला जायेगा।** वर्तमान का परिणाम भूत और भविष्यत् को सँभाल लेता है। वर्तमान परिणाम यदि अच्छे नहीं हैं तो भूत में जो अच्छा किया था वह प्रशस्त कर्म भी अप्रशस्त रूप हो जाता है, इससे भविष्य भी बिगड़ जाता है, इसलिए वर्तमान को सम्हालिए। कर्म के उदय में जागृति रखना चाहिए, परिणामों को सम्हालना चाहिए, अच्छी संगति करना चाहिए। आत्मा की बात तो कोई कहीं पर भी कर सकता है, किन्तु आत्मा से बात करने में कुछ अलग भूमिका चाहिए। इसमें इन्द्रियों का व्यापार रुक जाता है, परिग्रह का भार उपयोग से छूट जाता है। भले आप यहाँ पर बैठे हों पर सम्पर्क सूत्र तो कितनों से बना रहता है। इससे राग–द्वेष भी बना रहता है तो इस अवस्था में निर्विकल्प दशा कैसे हो सकती है ? अध्यवसाय अज्ञान का परिणाम है। जो व्यक्ति निज आत्मा का आश्रय नहीं लेता उसके अध्यवसाय होता है, एक समय के लिए भी अध्यवसाय होगा तो बंध होगा।

अध्यात्म ग्रन्थों में कहा है–प्रतिक्रमण करने वाला दो कार्य करता है–पूर्व के पापों का प्रायश्चित और आगामी के पापों का त्याग अर्थात् निर्जरा और संवर दोनों कार्य चलते रहते हैं। जैसे–चौराहे पर खड़ा हुआ पुलिस एक हाथ से रोकता है तो दूसरे हाथ से व्यक्तियों को उस तरफ चलने के लिए इशारा करता है। इस प्रकार चारों ओर से रास्तों की सावधानी होने से दुर्घटना से बच जाता है। इसी प्रकार हमारे कर्म भी चारों तरफ से उदय में आ रहे हैं, उसमें हमारे वर्तमान के शुभ परिणाम पुलिस का काम कर जाते हैं तो शान्ति से कर्मोदय भोग सकता है और उसका (कर्मों का) उदयाभावी क्षय हो जायेगा तथा आगे के कर्म भी कमजोर हो जायेंगे। पुलिस के समान वर्तमान को सम्हालिए हमारे भाव शुद्ध होना चाहिए। कर्मों के स्वभाव को नहीं बदल सकते हैं लेकिन वर्तमान के भावों को तो सुधार सकते हैं। मेरा यह स्वभाव नहीं है, यह मानकर कर्म भोगेंगे तो बहुत कम सत्त्व रह जायेगा इसी को उदयाभावी क्षय कहते हैं, आगामी भी ढीला पड़ जायेगा। सत्समागम से यह भाव सुधर सकते हैं, जागृति रखना चाहिए। आत्मा की बात करना और आत्मा से बात करना इसमें बहुत अन्तर है। मन–वचन–काय की प्रवृत्ति हो रही है और आत्मा की लहर आ रही है ऐसा कहते हैं–यह ठीक नहीं है। विकल्प में कमी होना और निर्विकल्प होना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। गृहस्थ अवस्था में चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने से स्वरूपाचरण चारित्र, निर्विकल्प समाधि, शुद्धोपयोग आदि–आदि थोड़े–थोड़े रूप में होते हैं। ऐसा मानते हैं लेकिन ऐसा नहीं है।

आचार्य कहते हैं–**परिग्रह का अंबार उपयोग से जब तक नहीं हटेगा तब तक उसके प्रति ममत्व रूपी आग अन्दर ही अन्दर सुलगती रहेगी, यह सर्वघाति प्रकृति है, वह बुझी-सी दिखती है, लेकिन बुझती नहीं है।** जैसे–मीटर में बाहर से देखने में नहीं आता कि चल रहा है या नहीं। लेकिन वह तो चलता ही रहता है परन्तु लाइट का जितना उपयोग करेंगे उतना ही बिल बनेगा।

समयसार में अध्यवसाय को लेकर एक बात आती है कि–अध्यवसाय परिणाम अज्ञान के कारण होते हैं, अज्ञान सो विपरीतता और विपरीतता सो बन्ध तथा बन्ध संसार का कारण है, जो व्यक्ति अपना आश्रय नहीं लेता है, उसे अध्यवसाय से बन्ध होता है। जो व्यक्ति अपना आश्रय लेता है तथा शुद्धात्म तत्त्व को विषय बनाता है उसको बन्ध नहीं होता है। बन्ध हो रहा है तो समझ लो कि विकल्प है। विकल्प में कमी हुई तो कषाय की कमी हुई उसे कथञ्चित् निर्विकल्प कह सकते हैं। विकल्प में कमी होना और निर्विकल्प होना इन दोनों में बहुत अन्तर है। जैसे–बुखार कम हो गया, होश आ गया, बोलने लगा इसलिए उसे स्वस्थ या निरोगी नहीं कह सकते हैं। कुछ कम हुआ है किन्तु स्वस्थ दशा अलग है। स्वस्थ होना उनका लक्ष्य हो सकता है, यह मान सकते हैं। स्वस्थ तथा स्वस्थता की ओर इसमें अन्तर है, विकल्प अभी छूटे नहीं है, अतः स्वस्थ नहीं कह सकते, फिर भी स्वस्थ मानते हैं। दूसरे गुणस्थान में दर्शन मोहनीय की एक भी प्रकृति का उदय नहीं तो वहाँ भी निर्विकल्प स्वस्थ कहना चाहिए दूसरे गुणस्थान में दर्शन मोहनीय की प्रकृति का उदय नहीं इसलिए पारिणामिक भाव कहा है, लेकिन चारित्र मोहनीय की प्रकृति अनन्तानुबन्धी का उदय होने से औदयिक भी कहा जाता है। विजय की ओर तथा विजय में जितना अन्तर है, उतना ही विकल्प में कमी और निर्विकल्प में अन्तर है। कुछ जीत मिल गयी इसलिए विजेता कह दें, यह ठीक नहीं। किसी को एक नम्बर मिल गया तो वह कहता है–मैं जीत गया। हाँ, एक-एक कदम रखने से उत्साह बढ़ जाता है। उत्साहवर्धन के लिए कहा जाता है कि तुम जीत गये लेकिन वह अपने को विजेता मानकर ही बैठ जायेगा तो हार जायेगा।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं–जब तक परिग्रह का त्याग नहीं करता है, नवमी प्रतिमा ग्रहण नहीं करता है तब तक उसे "**स्वस्थः संतोष परः**" संतोष स्वस्थ नहीं कह सकते हैं। परिचित्त–चित्त में, आत्मा में वह चुभता रहता है, उस परिग्रह की थोड़ी-सी वृद्धि से, विकास से आत्मा फूल जाता है, आत्मा में विषय की लहर आ जाती है ऐसा क्यों? क्योंकि वह उसका कर्त्ता, भोक्ता, स्वामी बना बैठा है, जब तक ये तीन प्रत्यय हैं, तब तक आत्मा की बात तो कर सकता है, परन्तु अनुभव नहीं कर सकता। जैसे–लक्ष्मण के शव को लेकर छह महीने तक बड़े भैया रामचन्द्रजी घूमते रहे। यह प्रथमानुयोग है इन्हीं की कथाओं को सुनने से ही बोधि, समाधि की निधि प्राप्त हो सकती है, यह अप्रत्याख्यानावरण कर्म का तीव्र उदय छह महीने तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि को भी छोटे बच्चा जैसा काम करा देता है और इसी के तीव्र उदय से क्षायिक सम्यग्दृष्टि भरत चक्रवर्ती ने भाई पर चक्र चला दिया था, कहाँ गया उनका क्षायिक सम्यग्दर्शन। कर्मों में ऐसी तीव्र शक्तियाँ पड़ी हैं, जिनका नाश

करना खेल नहीं है, यह क्षत्रियों का ही काम है, अपने को वा दूसरों को पापों से जो बचा देता है, वह क्षत्रिय है। वर्तमान में अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान का उपशम क्षय नहीं हो सकता है इसके लिए तो चतुर्थ काल ही आपेक्षित है। हाँ, आज उदयाभावी क्षय करने का पुरुषार्थ कर सकते हैं, इसलिए **वर्तमान में जो कुछ क्षयोपशम मिला है, उसके द्वारा अपने परिणामों को सँभालते हुए जितना कर सको उतना कर लो फिर कोई समझाने वाला नहीं मिलेगा, रात हो उसके पहले जितने कदम चल सको, चल लो।**

शलाका पुरुष महापुरुष कहलाते हैं, अभी भले ही नरक में चले गये, लेकिन मुक्ति के ही पात्र हैं, वे शलाका पुरुष प्रशंसनीय ही होते हैं, उनके शरीर में कीड़े आदि नहीं पड़ते हैं, शलाका पुरुषों का शरीर पवित्र सुगंधित होता है, वे वज्रवृषभनाराच संहनन वाले होते हैं। तीर्थंकर, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती ये शलाका पुरुषों में आते हैं। नारद और रुद्र हुण्डावसर्पिणी की देन है। भावकर्म के दो भेद हैं–एक भाव कर्म आत्मा में राग–द्वेष उत्पन्न करने में कारण होता है **''तस्सत्ती भावकम्मं तु''** दूसरा आत्मा के राग–द्वेषरूप भावकर्म हैं। प्रायः कर्मकाण्ड कहने से क्रिया की ओर दृष्टि चली जाती है, लेकिन भावकर्म राग–द्वेष आदि भी हैं, द्रव्यकर्म के निमित्त से भावकर्म और भावकर्म के निमित्त से पुनः द्रव्यकर्म होता है। जैसे–किसी ने आँख मींच करके चोरी कर ली लेकिन पुलिस आयेगी तो पकड़ेगी ही, उसी प्रकार राग–द्वेषरूप भाव किये तो पुलिसरूपी कर्म आकर पकड़ लेते हैं, उन कर्मों में ऐसी शक्ति है कि आप एक कोने में भी बैठ जाओ तो भी बच नहीं सकते हैं, आपको वे छोड़ ही नहीं सकते, आप आँख बन्द करके भी बैठ जाए तो भी स्मरण में वह विषय, वह व्यक्ति तो घूमेगा उससे बच नहीं सकते। **वे महान् माने जाते हैं जो कर्मोदय में भी तत्त्वज्ञान में अपना उपयोग लगा देते हैं, कर्मोदय में भी राग–द्वेष नहीं करते हुए कर्म फल चेतना का शान्ति के साथ अनुभव करते रहते हैं और यही सम्यक् पुरुषार्थ है कर्मोदय में वेदना के होने पर भी सहन करना, प्रतिकार का भाव नहीं करना यह परीषहजय माना जाता है। कर्मों के उदय को जानना यह भी तो भगवान् को याद करना है। आप भगवान् को क्यों याद करते हैं ? कर्म निर्जरा के लिए अथवा वेदना को कम करने के लिए ? अज्ञानी वेदना का प्रतिकार करना चाहता है और ज्ञानी कर्म के उदय में तीव्र वेदना होते हुए भी समता से निर्जरा करता है, कर्मोदय को मात्र देखता–जानता है। वेदना कम हो जाए इसलिए भगवान् का नाम ले रहे हैं, यह भी परीषहजय में कमी है।** परीषहविजय के साथ यदि प्रतिकार न करे तो उपेक्षा संयम चलता रहता है। कर्मों के उदय की ओर देखते हैं तो वेदना सामने आ जाती है और कर्मोदय की ओर न देखकर स्वभाव की ओर देखते हैं तो वेदना गौण हो जाती है और परीषहजयी हो जाता है।

कर्मोदय में कुछ भाव चाहें तो भी नहीं होते हैं और कुछ भाव नहीं चाहते हुए भी, हुये बिना नहीं रहते हैं। देवों में पलक नहीं झपकती और मनुष्य में नहीं चाहे तो भी झपकती है। भगवान् की

भी केवलज्ञान के उपरान्त पलकें नहीं झपकती हैं। सुनते हैं मरने के समय पलकें खुली रह जाती हैं, गोलक स्थिर होने लग जाते हैं। कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो वो आँखों को झपकाये बिना नहीं रह सकता। कुछ समय के लिए भले ही पुरुषार्थ कर लो, जब सूक्ष्म चीज को देखते हैं तो उतने समय के लिए आँखों की पलकों को संयमित कर लेते हैं। जैसे–सुई में धागा पिरोते समय भी आँखें स्थिर हो जाती हैं, इसी प्रकार धर्म में रुचि रखकर दृष्टि स्थिर रखें तो बहुत सारे अनर्थ कार्यों से बच सकते हैं। भगवान् की तो पहले से ही नासादृष्टि रहती है, झपकाने खोलने वाली बात ही नहीं है।

प्रायः करके रागादि को मोहनीय कर्म जन्य ही मानते हैं, लेकिन मोह से भावास्रव होता है, योग से भी भावास्रव होता है। योग अपेक्षा भावास्रव का कार्य १३ वें गुणस्थान तक है, ११ वें, १२ वें, १३ वें गुणस्थान में ईर्यापथ आस्रव कहा है, १० वें गुणस्थान तक कषाय से आबाधाकाल को लेकर स्थिति पड़ती है इसलिए वहाँ तक साम्परायिक आस्रव है। इसके आगे ११ वें से १३ वें गुणस्थान में एक समयवर्ती बन्ध है, इसलिए वहाँ प्रकृति, प्रदेश, बन्ध मानते हैं, लेकिन स्थिति, अनुभाग भी पड़ता है भले ही एक समयवर्ती हो। वीरसेनस्वामी ने श्री धवला की १३ वीं पुस्तक में ५–६ गाथाओं में इसके बारे में कहा–वहाँ पर अबन्ध और ईषत् बन्ध कहा है। आबाधा के साथ बन्ध नहीं है, इसलिए अबन्ध कहते हैं। स्थिति का अर्थ ठहरना जो लगाते हैं, वह ठीक नहीं है। फल देने तक का काल सो स्थिति है, उससे एक समय बाद दूसरा स्थिति बन्ध हो जाता है लेकिन बन्ध का अभाव नहीं, यह औदयिक, वैभाविक भाव में गिना है। "**कषायानुरंजित योगप्रवृत्ति लेश्या**:" जो कहा है–वह १०वें गुणस्थान तक तथा योग प्रवृत्ति लेश्या ११ से १३ वें गुणस्थान में है। वहाँ प्रकृति–प्रदेश बन्ध ही मानेंगे तो फिर असाता–साता रूप उदय में आता है, वह कैसे बनेगा? प्रकृति–प्रदेश बन्ध है तो स्थिति और उसका अनुभाग भी अवश्य होगा भले ही एक समयवर्ती हो वह आत्मा को स्पर्श तो करता है। कषाय सहित जो स्थिति है। उसका उदाहरण–एक व्यक्ति कलम के माध्यम से लिखना प्रारम्भ करता है, निब को गाढ़ी–गाढ़ी स्याही में डुबो देता है और चार लाइन पूरी कर लेता है, यह अनन्तानुबन्धी की चार लाइन हुई। फिर कलम रख देता है तो वह सूख जाती है, फिर उसे पानी में डुबोकर लिखना यह अप्रत्याख्यान की चार लाइन, पुनः स्वच्छ पानी में डुबोकर लिखना यह प्रत्याख्यान की चार लाइन। इसी प्रकार एक बार और डुबोकर लिखता है, इसमें सबसे ज्यादा फीकापन है यह संज्वलन कषाय की चार लाइन हुई। इन सोलह लाइनों में नीलापन सामान्य है, फिर भी नीलेपन में थोड़ी–थोड़ी कमी है, अब कषाय रहित अवस्था अर्थात् स्याही रहित कलम को पानी में डालकर लिखना है। उससे भी लेखन तो हुआ गीलापन तो हुआ लेकिन उन अक्षरों की अपेक्षा यह अक्षर ज्यादा नहीं टिकेंगे तथा पानी से लिखे होने से अक्षर सूखने पर नहीं दिखेंगे, अब इस पर पुनः स्याही से लिखेंगे तो वह कागज फटेगा ही। इसका अर्थ पानी का भी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य होता है अर्थात् योग द्वारा जो बन्ध हुआ है, वह भले ही एक समय का है, लेकिन अपना प्रभाव दिखाकर

जाता है। गीला मात्र हुआ परन्तु प्रभाव तो पड़ा यह भी आस्रव का कारण होता है, यह क्रम आठ वर्ष से पूर्व कोटि तक चलता रहता है, फिर अन्तर्मुहूर्त उपरान्त चौदहवें गुणस्थान में पहुँच गये। वहाँ पर चार लाइन बताता हूँ, वह पानी में नहीं डुबोना है इसमें पानी नहीं, स्याही नहीं, पर फिर भी कलम से लिखने से कागज पर दबाव तो अवश्य होता है, इस प्रकार १४ वें गुणस्थान में बन्ध तो नहीं लेकिन पुराना कर्म तो वेदन में आ रहा है, इस प्रकार ये २४ पंक्तियाँ हैं, २४ भगवान् के स्वरूप को जानो एक-एक को कम करते जाओ और १४ वें गुणस्थान से पार हो जाओ। चौदहवें गुणस्थान में कर्म नोकर्म का आना रुक जाता है। जब तक शरीर नामकर्म का उदय है तब तक योग का उदय है, और तभी तक यह कर्म और नोकर्म का संयोग होता रहता है, यदि सबसे पहले कोई योग समाप्त करना चाहे तो नहीं कर सकता। अनन्तानुबन्धी आदि क्रम से ही निकलेंगी।

कषायपाहुड ग्रन्थ में स्थिति डालने का कार्य सोलह कषायों को दिया है। इन कषायों के साथ आबाधा सहित आस्रव बंध होता है, लेकिन योग भी भावकर्म है, इस ओर भी दृष्टि जाना चाहिए, शुभ योग के साथ अशुभोपयोग और अशुभ योग के साथ शुभोपयोग भी हो सकता है लेकिन शुद्ध उपयोग के साथ शुद्ध योग ही होता है। संसारी प्राणी कुछ भी कार्य करता है तो उसका प्रयोजन होता है कुछ पाना। जैसे-कुम्भ को बनाने वाला कुम्भकार होता है, उससे वह आजीविका चलाता है कर्त्ता का फल भोक्ता के रूप में आता है, जो कर्त्ता होता है वही भोक्ता और स्वामी होता है ऐसा नियम है। हाँ, यह बात अलग है कि उसमें एक मुख्य दो गौण रहते हैं, हम वर्तमान में जो भाव करते हैं, वैसा ही सुख-दुख होता है। वर्तमान में भाव अच्छा है तो मानसिक, शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और यह विश्वास है कि देव, शास्त्र, गुरु ही सच्चे हैं वे किसी की ओर देखते नहीं हैं, हाथ पर हाथ रखे हैं अर्थात् इच्छा रहित हैं, उनसे कोई कुछ पूछता है तो कुछ भी बोलते नहीं हैं, इनसे अद्भुत भगवान् और कौन हो सकते हैं ? यह आदर्श (भगवान्) जो हमारे सामने हैं, इनको देखते ही व्यक्ति आकर्षित हो जाता है और सब कुछ भूल जाता है। गुरु-शिष्य मिलते हैं तो कुछ प्रश्नोत्तर हो जाते हैं, लेकिन भगवान् तो कुछ भी बोलते नहीं हैं। **आज जितनी भी समस्यायें हैं, वे सब दृढ़ता के अभाव के कारण हैं, विश्वास के बल पर आदर्श को सामने देखकर ही साधक अपनी साधना में दृढ़ता के साथ आगे बढ़ जाता है। ज्ञान बाहर आता है तो सक्रिय और भीतर जाता है तो निष्क्रिय हो जाता है।** जब निश्चय स्वरूप का बोध हो जाता है तो सुख-दुख अनुभूत नहीं होता। आज सभी ज्ञान को महत्ता दे रहे हैं जबकि आचार्य कहते हैं-मोक्षमार्ग में मूल सम्यग्दर्शन होता है।

मात्र भक्ति में सुख नहीं विश्वास में सुख होता है यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो फिर अक्षर ज्ञान न होने पर भी अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान की प्राप्ति किस बल पर होती है तो कहना होगा कि सम्यग्दर्शन पूर्वक जो भावश्रुत है उसके माध्यम से चारित्र अंगीकार कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, ज्ञान के माध्यम से भी आगे बढ़ सकते हैं, लेकिन कभी-कभी यह अटका भी देता है। जैसे-विषधर जब अपने

स्वरूप को भूलकर संगीत में लीन हो जाता है तब पकड़ लिया जाता है अतः भाषा को हम ज्ञान न समझें, भाषा के माध्यम से ज्ञान तक पहुँचा जा सकता है। शब्द, अर्थ, भाव ये तीन सीढ़ियाँ हैं–'मनुष्य' यह सुना, यह शब्द प्रत्यय है। मनुष्य सुनते ही दो हाथ, दो पैर आदि MIND में आ गये यह अर्थ प्रत्यय और मनुष्य को प्रत्यक्ष देख लेना यह भाव प्रत्यय है। भावभासना नहीं होने के कारण मानव तो है लेकिन मानवता नहीं। दूसरों की मानवता का अनुभव आपको नहीं होगा लेकिन मैं भी ऐसी मानवता धारूँगा तो सुख पाऊँगा ऐसे विचार का अनुभव कर सकता है। जिस व्यक्ति ने केवल मूर्ति को मूर्ति माना है मूर्तिमान को नहीं जाना उसने भाव प्रत्यय को नहीं पाया है, उस मूर्ति में वीतरागता का दर्शन करना यह भावभासना है।

नयापेक्षा जीव के भोक्तापना

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥

अर्थ–आत्मा व्यवहार नय से सुख-दुख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है और निश्चय से आत्मा अपने चेतन भावों को भोगता है।

आतम को कृत-कर्मों का फल सुख-दुःख मिलता रहता है।
जिसका वह व्यवहार भाव से भोक्ता बनता रहता है॥
किन्तु निजी शुचि चेतन भावों का भोक्ता यह आतम है।
निश्चयनय की यही दृष्टि है कहता यूँ परमागम है ॥९॥

व्याख्या–हमारे सुख-दुख का स्रोत बाह्य पदार्थ नहीं है, यह जानते ही सुख क्या है, यह ज्ञात हो जायेगा। इन्द्रिय सुख, सुख नहीं दुख है, सुखाभास है, क्योंकि दिन-रात इन्द्रिय भोग भोगते हुए भी आज तक तृप्ति नहीं हुई। ८० साल के वृद्ध कहते हैं–बेटा इसमें कुछ नहीं रखा अर्थात् इन्द्रिय विषयों में कुछ नहीं रखा तो बेटा कहता है–इसमें कुछ नहीं, रखा तो आपने अभी तक क्यों नहीं छोड़ा? जो शोध छात्र को अनुभव हो रहा है, वही अनुभव नौवीं कक्षा के छात्र को क्या हो सकता है? नहीं, लेकिन वह भी विश्वास के बल पर आगे बढ़ता है। शोध छात्र को लोग पागल समझते हैं, कोई उसके पीछे नहीं लगता और वह भी दुनिया के पीछे नहीं लगता है, क्योंकि वह भी जानता है कि मुझे जो अनुभव हुआ है, उसे ये नहीं समझ पायेंगे इसीलिए महावीर भगवान् अकेले ही निकल गये और निजात्मा में डूब गये। कर्म जीव नहीं है, यह तो "**स्निग्धरूक्षत्वाद् -बंधः**" "**बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च**" इसके द्वारा कर्म बन्ध होता है। जैसे–दो तत्त्व ऑक्सीजन + हाईड्रोजन मिलने पर जल तत्त्व का निर्माण हो जाता है और वह बूँद-बूँद से शीशी भर जाती है। अब उस जल को ही जिसने शरीर बना लिया वह जलकायिक है। जैनाचार्यों ने जल के भी चार भेद किये हैं। जल जब खारा बन जाता है तो नमक रूप पत्थर बन जाता है तो क्या जल ने बनाया? नहीं, पृथ्वीकायिक नामकर्म के

उदय से वह बना है। कार्माण वर्गणाएँ दिखती नहीं हैं। अन्तर्जगत् से ऊपर उठकर सोचिए। जैसे–किसी ने कहा–यह व्यक्ति बुद्धिमान है तो बुद्धि क्या है? यह अदृश्य कार्माण शरीर जो कर्म रूप है उसी का फल है, यह कर्म फल नोकर्म बिना फलता नहीं है। नोकषाय जैसे कषाय के बिना नहीं होती है, उसी प्रकार कर्म भी नोकर्म के बिना फल नहीं देता है। स्थिति डालने में सोलह कषाय अधिकारी हैं, नोकषाय नहीं। नोकषाय का अर्थ ईषत् कषाय है,वह कषाय नहीं है। आत्मा कभी अशुद्ध नहीं होती क्योंकि वह द्रव्य है और गुण भी अशुद्ध नहीं होते क्योंकि वे त्रैकालिक हैं। सुख–दुख पर्याय में होते हैं, ऐसा कई लोग कहते हैं, यदि ऐसा है तो उस सुख–दुख का अनुभव कर्त्ता कौन है? अधिकरण कौन है? करे कोई भोगे कोई ऐसा नहीं होता। निश्चयनय से जीव अपने भावों का ही भोक्ता है। शुद्धात्मा का अवलम्बन लेकर भले ही कोई सिद्ध का ध्यान करे लेकिन सिद्धत्व का अनुभव नहीं है। सिद्ध होने के उपरान्त तीनों काल का ज्ञान होने पर भी अपने वर्तमान का ही अनुभव करते हैं, नहीं तो अनन्त दुख आदि का भी अनुभव होना चाहिए जबकि दुख के प्रतिकार और सुख के लाभ के लिए यह संसारी प्राणी कार्य कर रहा है।

सर्वार्थसिद्धि में कहा है–''वेदना निवारणार्थं'' खाना सुख के लिए नहीं लेकिन मान लिया है सुख होता है, वस्तुतः क्षुधा रोग के निवारण के लिए भोजन करता है, यह दुख के प्रतिकार के लिए है, इसमें सुख मिलता तो ऊपर–ऊपर के स्वर्गों में सुख, लेश्या, आयु आदि बढ़ता हुआ है। एक सागर की आयु है तो एक हजार वर्ष बाद आहार लेते हैं और उतने ही पक्ष बाद श्वास लेते हैं तैंतीस सागर की आयु वाले देव साढ़े सोलह महीने में एक बार श्वास लेते हैं। स्वर्गों में उत्सेध का घटना अच्छा माना जाता है और यहाँ उत्सेध का बढ़ना अच्छा माना जाता है, यह अपनी मान्यता है। वस्तुतः सुख–दुख, अच्छा–बुरा यह मान्यता के ऊपर है, वास्तव में देखा जाए तो जो अतुल है, वह सुख है। उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि में हर्र, बहेड़ा, आँवला जितना आहार है, वह भी तीन दिन, दो दिन, एक दिन के बाद क्रमशः है, इतने से ही उनकी क्षुधा शान्त हो जाती है। उसी प्रकार यहाँ भी **जिसका जितना पुण्य होगा, उसे उतने कम भोजन से शान्ति होगी।** इसी प्रकार पलकों को ज्यादा झपकाना भी आकुलता का प्रतीक है। जिस प्रकार बच्चे एक जगह बैठकर नहीं खाते, घूम–घूमकर दिन में कई बार खाते हैं, वैसे बड़े लोग ऐसा नहीं करते हैं। कई लोग अपने घर में ही भोजन करते हैं, हर जगह नहीं और बार–बार भी नहीं करते, जो जितना संयमित होगा, उतना सुखी होगा। आज संसारी प्राणी को चित्र–विचित्रता ही अच्छी लगती है। एक ही शर्ट में पाँचों रंग आते हैं, थिगड़े जैसा लगता है। रंग का, वर्ण का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे–वस्त्र पहनते हैं, वैसे ही भाव होते हैं। लौकान्तिक देव सफेद वस्त्र पहनते हैं, वैसे ही उन्हें शुक्ल लेश्या के परिणाम भी होते हैं। वैसे पाँचवें स्वर्ग में शुक्ल लेश्या का कथन नहीं है, लेकिन देवर्षि, ब्रह्मर्षि, बाल ब्रह्मचारी इन देवों में हैं। ये हमेशा बारह भावनाओं का चिन्तन करते हैं, तीर्थंकरों के तप कल्याणक में अनुमोदना करने आते हैं। ये एक

भवावतारी होते हैं इत्यादि कई विशेषताएँ होती हैं। यहाँ मन नहीं लग रहा, यह कहना मन की कमजोरी है, एक जगह से दूसरी जगह चला जाता है यह तो मन को बहलाने की प्रक्रिया है अर्थात् जितनी इच्छा और परिग्रह होगा उतनी ही आकुलता होगी। जैसे–आप लोगों को शुद्ध चौके का भोजन करते–करते मन ऊब जाता है तो पिकनिक के लिए चले जाते हैं , वहीं अच्छा लगता है। धीरे–धीरे कषायों में, आसक्ति में कमी आनी चाहिए। परिहारविशुद्धि आदि ऋद्धिधारियों के लिए दिगम्बर आम्नाय के अनुसार चातुर्मास स्थापना का कथन नहीं आता है। तीर्थंकरों के पास भी सभी ऋद्धियाँ हैं उनके लिए भी स्थापना आवश्यक नहीं है, उनकी चर्या उत्कृष्ट होती है, मूलगुणों के साथ–साथ उत्तरगुणों को भी उत्कृष्टता से पालते हैं।

जिस दिन तीर्थंकर दीक्षा लेते हैं, उसी दिन उन्हें मोक्ष नहीं हो सकता, दूसरों को हो सकता है, उन्हें नहीं। जो अज्ञानी है वह बाहरी पदार्थों में सुख–दुख मानता है और तत्त्व ज्ञान होने पर ''**यह पुद्‌गल पर्याय उपजि विनसे थिर नाहिं**'' ऐसा सोचता है इसलिए कहा है–वेदनीय कर्म पुद्‌गल विपाकी व जीव विपाकी दोनों है, पुद्‌गल विपाकी इसलिए है कि वह साता–असाता के योग्य सामग्री का सम्पादन करता है और साता–असाता के उदय अपेक्षा जीव विपाकी है। **शुद्ध निश्चयनय से कर्म, कर्म में हैं। मैं अपने में हूँ ऐसा ज्ञानी सोचता है, अतः उसे सुख –दुख में हर्ष–विषाद नहीं होता है।** अध्यात्म यही काम करता है इस प्रकार सोचने से असाता की उदीरणा साता रूप हो जाती है। लाभान्तराय कर्म का उदय हो तो सामने वाला देना चाहता है और पात्र लेना भी चाहता है पर ले नहीं पाता, ये है कर्म का उदय। लोग कहते हैं–दाने–दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम। वर्णीजी ने लिखा है–उन्हें अंगूर खाने की इच्छा हुई चौके में पहुँच गए तो वहाँ अंगूर थे ही नहीं, इतने में एक शहरी व्यक्ति आया और अंगूर धोकर आहार में दे देता है तो वर्णीजी ने कहा–दाने–दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम।

दुख आ जाने पर व्यक्ति रोने लग जाता है लेकिन आचार्य कहते हैं–रोने से कुछ नहीं होगा। इस समय गलती नहीं की तो पूर्व में की होगी, किया तो स्वयं का ही है, ज्ञानी अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ पाने पर भी उपसर्ग करने वाले पर किसी भी प्रकार के अभिशाप आदि के भाव नहीं करते हैं, यद्यपि वे अतिशय शक्ति से युक्त हैं फिर भी कर्म का उदय मानकर समता रखते हैं। पुण्योदय में अग्नि भी जल और शूली भी सिंहासन बन जाता है, इस तरह वे ऋद्धिधारी मुनि अपने कर्म विपाक का चिन्तन करते हैं, नोकर्म को दोष नहीं देते हैं। **देव लोग भी कमाल करते हैं , जब तक उपसर्ग होता है तब तक पुलिस के समान देखते रहते हैं, फिर उपसर्ग दूर होते ही फूलमाला लेकर आ जाते हैं, वे कहते हैं–आपके असाता का साथ हम भी नहीं दे सकते, साता का तो दे सकते हैं।** ज्ञानी कहते हैं–कर्मोदय से कह दो कि हमने अज्ञान अवस्था में WELCOME कर दिया अब हम जागृत हैं आप WELL GO एक बार कर्म उदय में आ गया तो वह पुनः बंधन हुए बिना दुबारा उदय
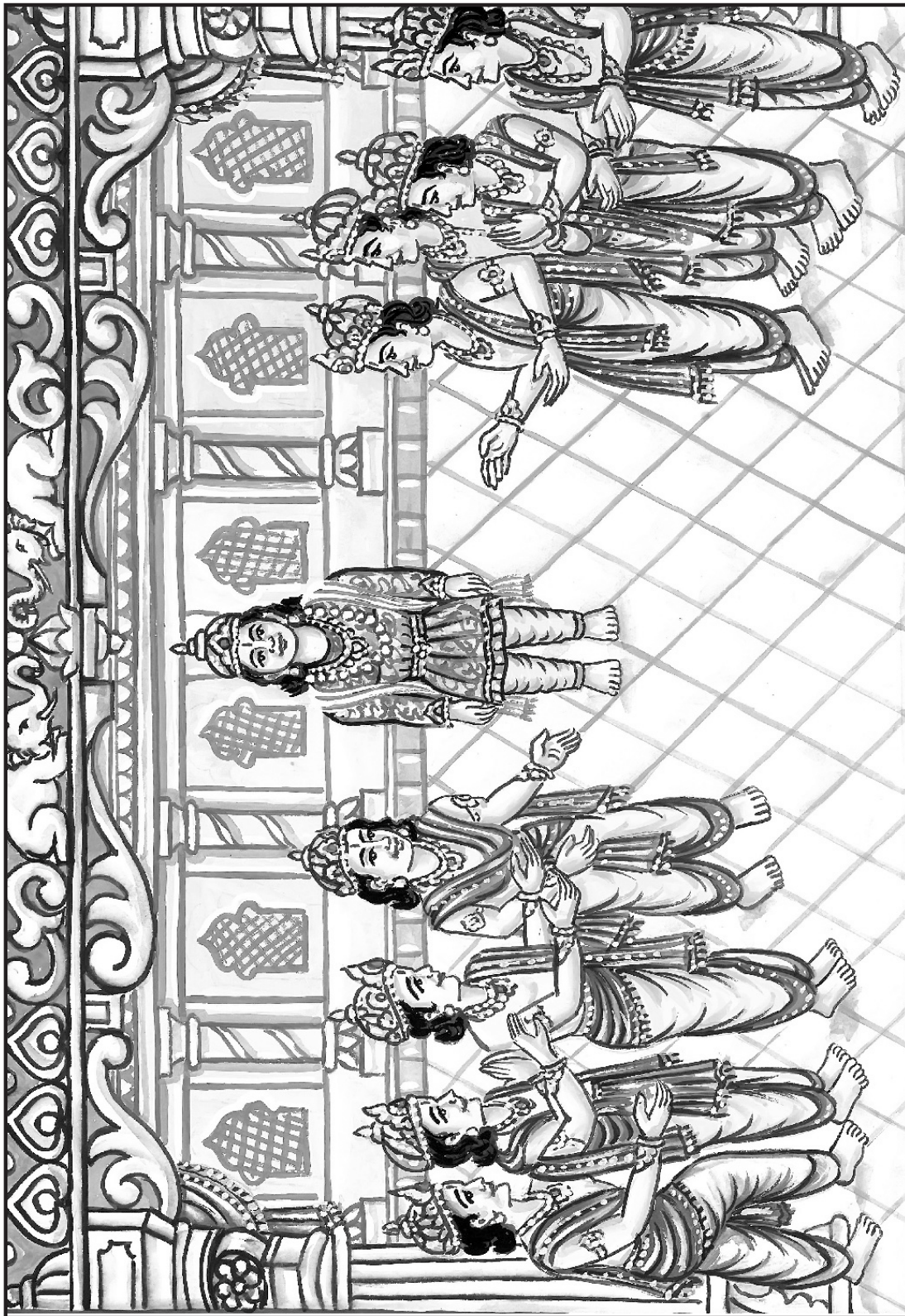
लौकान्तिक देव तपकल्याणक में आते हैं।

में नहीं आता, उसी प्रकार कर्मोदय को प्राप्त जीव के समता होने पर कर्म पुनः नहीं बँधते हैं। जैसे–वृक्ष से पत्ता अलग होने पर पुनः नहीं लगता लेकिन राग-द्वेष करने से कर्म पुनः बँधने लगते हैं। कर्मोदय में जब पुरुषार्थ करेगा तभी कर्म नष्ट हो सकेगा। कई लोगों की धारणा है कि क्षयोपशम होने पर चारित्र लेंगे लेकिन क्षयोपशम हो जाने पर अब क्या पुरुषार्थ? कसायपाहुड में कहा है–उपशान्त होने के बाद उपशमन नहीं होता है। उपशमन तो श्रेणी के ८ वें से १० वें गुणस्थान तक में है और ११ वें गुणस्थान में उपशान्त मोह संज्ञा हो जाती है। कषाय को मिटा नहीं सकते कषाय करने की विधि को मिटा सकते हैं।

व्यवहार निश्चयनय की अपेक्षा जीव का लक्षण

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥

अर्थ–जीव व्यवहार नय से समुद्घात अवस्था के बिना उपसंहार व प्रसर्पण अर्थात् संकोच तथा विस्तार शक्ति के कारण अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है तथा निश्चय से असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

समुद्घात बिन सिकुड़न-प्रसरण-स्वभाव को जो धार रहा।
लघु-गुरु तन के प्रमाण होता जीव यही व्यवहार रहा॥
स्वभाव से तो जीवात्मा में असंख्यात-परदेश रहे।
निश्चयनय का यही कथन है संतों के उपदेश रहे ॥१०॥

व्याख्या–अणुगुरुदेहपमाणो अर्थात् एक कटोरे में नीलममणि रखा और उसमें दूध डाल दिया तो वह पूरा का पूरा दूध भी नीला हो जाता है, उसी को भगोनी में डाल दो, उतने में उस नीलम की आभा फैल जाती है। उसी प्रकार संकोच-विस्तार वाला होने से जीव छोटे-बड़े शरीर प्रमाण हो जाता है। राघवमत्स्य की काया भरतक्षेत्र के विस्तार से दुगुनी है और लघुकायिक साधारण शरीर जिसमें एक के आश्रित अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं। लोकपूरण समुद्घात के समय केवली भगवान् के आत्मप्रदेश पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। मराठी में बाण का अर्थ आकार-प्रकार सहित और निर्वाण का अर्थ आकार-प्रकार रहित निराकार अवस्था। नमः सिद्धेभ्यः बोलने वाले बनारस में जिनने स्वात्म रस पाया ऐसे पार्श्वनाथ भगवान् ने जलते हुए नाग-नागिन को णमोकार मन्त्र सुनाया, लेकिन आज वह दया दिखाई नहीं देती, उनकी दया अपरम्पार थी। वे सम्यग्दृष्टि यह जानते थे कि जीव मरता नहीं तो कोई कह सकता है कि फिर जलते हुए जोड़े को क्यों णमोकार मंत्र सुनाया? तो यह अनुकम्पा सम्यग्दृष्टि का गुण है, अनुकम्पा के अभाव में स्व-पर की या रत्नत्रय की रक्षा सम्भव नहीं है। केवलज्ञान के १० अतिशय में एक अदया का अभाव बताया है। आज नीचे के गुणस्थान में ही दया का अभाव बताते हैं। रक्षा करो या न करो दया का भाव तो आयेगा "**धम्मो दया विसुद्धो**"

''**जीवाणं रक्खणो धम्मो**'' दया धर्म का मूल है आदि सूक्ति वाक्य है। सबका सार दया ही धर्म का मूल है। ''**काहू न सतायवे को**'' अपने लिए कठोर वृत्ति और पर के लिए नवनीत के समान होना चाहिए। कई लोग कहते हैं कि उन्हें ज्ञात था कि आगे मुझ पर उपसर्ग आने वाला है इसलिए नाग-नागिन को णमोकार मन्त्र सुनाया था, ताकि वे उनके सहायक हो सकें, वस्तुतः ऐसा नहीं है, नेमिनाथ भगवान् जीवों को बचाने के लिए रथ से उतर गये। इतिहास कभी भी अनुमान के द्वारा नहीं आँका जा सकता यदि उन्होंने णमोकार मन्त्र सुनाया है तो इसका मतलब महावीर भगवान् से पहले भी णमोकार मन्त्र था। नाग-नागिन ने जो प्रभु की भक्ति की, यह उनकी कृतज्ञता है कि उपसर्ग निवारण किया। अनुकम्पा के बिना दया नहीं हो सकती तभी तो नाग युगल ने मुनि के रत्नत्रय की रक्षा की। भूतकाल में तीर्थंकर भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था में करुणा, दया करके णमोकार मन्त्र सुनाया। भाषा के प्रवाह की ओर देखकर प्रभाव को भुला देना यह ठीक नहीं है। ''नमः सिद्धेभ्यः'' पद को छोड़कर णमोकार मन्त्र पढ़ा यह रहस्यपूर्ण है। जिनके पास तीन ज्ञान, क्षायिक सम्यग्दर्शन था, दो कल्याणक हो चुके थे, ऐसे पार्श्वकुमार ने नागयुगल को णमोकार मन्त्र सुनाया था।

जिन क्षेत्रों में समीचीन लक्ष्यपूर्वक निर्माण कार्य किये जाते हैं, वह विशेष पुण्य का कारण होता है। हजारों साल तक भव्य जीव वहाँ धर्म्यध्यान करते हैं। पञ्चमकाल में जिनालय एवं तीर्थक्षेत्र ही सम्यग्दृष्टि एवं व्रतियों की धर्म साधना के क्षेत्र बनेंगे। सम्मेदशिखर का एक-एक कण पवित्र है। जो सामायिक के लिए अनुकूल है, आत्म साधना का क्षेत्र है, यहाँ से अनन्तानन्त जीव मुक्त हुए हैं, तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि में व्यापार की दृष्टि नहीं, स्वाध्याय की दृष्टि रहना चाहिए, परमार्थ की दृष्टि होना चाहिए। अर्थ पुरुषार्थ यहाँ करो, वहाँ तो धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ किया जाता है। पवित्र भूमि के प्रति समर्पण भाव होना चाहिए।

जब छोटे थे तब शिखरजी के बारे में बहुत सुनते थे, लेकिन वन्दना करके आये तो वैसा नहीं मिला। सुनते हैं कि पहले पार्श्वनाथ भगवान् की टोंक पर बहुत मनोज्ञ पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति थी, लेकिन आज वहाँ देखने में नहीं आती। जहाँ मंदिर होते हैं वहाँ मूर्ति अवश्य होती है, वह किसने हटाई यह नहीं कहा जा सकता। यह आस्था का विषय है, उसे सुरक्षित रखना चाहिए। जैसे-आप खानदान की रक्षा कर्ज लेकर भी करते हैं। **परीषह और उपसर्ग मोक्षमार्ग में वरदान हैं , यह नहीं है तो सब फीका है।** भगवान् के जीवन का स्मरण करना चाहिए, उपसर्ग से डरना नहीं चाहिए। जैसे-कपड़ों के बिना आप लोगों को सर्दी लगती है, उसी प्रकार शरीर के बिना आत्मा को सर्दी नहीं लगती, इसलिए आत्मा के ऊपर से शरीर रूपी कपड़े उतार देना चाहिए। वीर पुरुषों की कथा सामने लाने पर स्वाभिमान जागृत होता है। निश्चय से यह आत्मा शरीर से पृथक् है लेकिन यह कर्म रूपी रसायन ऐसा है जो आत्मा से पृथक् दिखाई नहीं देता है, यह कर्म न पुद्गल के हैं न आत्मा के हैं तो फिर किसके हैं? यदि कर्म जड़ पदार्थ के होते तो जड़ पदार्थ में दिखना चाहिए और आत्मा के होते
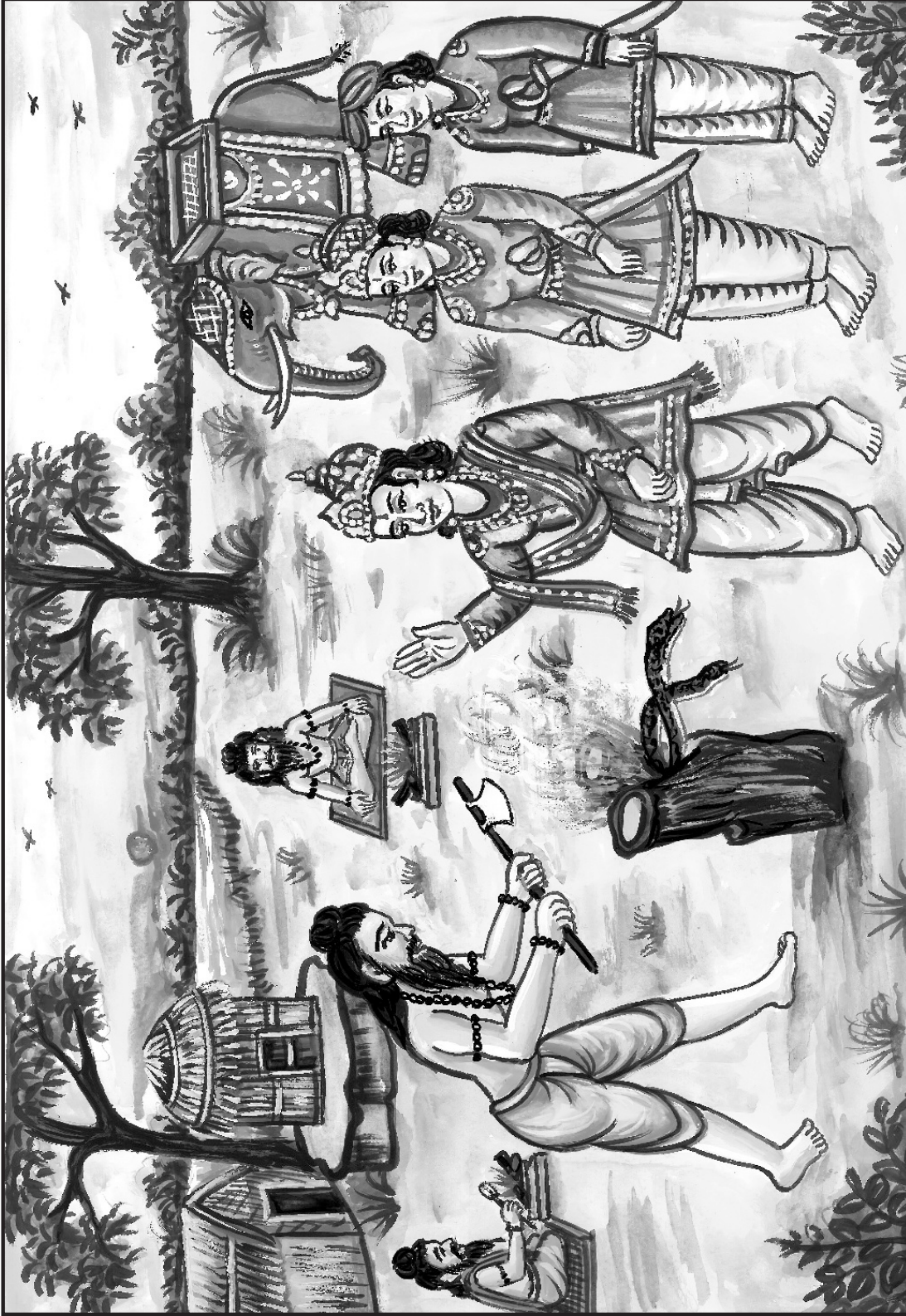
पार्श्वकुमार जलते हुए नाग-नागिन को णमोकार मंत्र सुनाते हुए।

तो फिर कभी समाप्त नहीं हो सकते थे। तो दोनों के हैं क्या? जैसे लड़का दुकान पर चला जाता है तो कहते हैं यह फलाने चन्द्र का लड़का है। किसी के घर माँ के साथ गया तो कहते हैं इस महिला का लड़का है वस्तुतः माता–पिता दोनों का लड़का है। दोनों के संयोग से होता है, फिर भी लक्षण के माध्यम से शरीर से आत्मा को पृथक् कर सकते हैं। आचार्यों ने कहा है कि–**स्वाध्याय ऐसी जगह होना चाहिए, जहाँ शोर–गुल न हो, जिससे स्वाध्याय, ध्यान, पूजा आदि में बाधा न हो, मन्दिर में आने पर केवल वीतरागी की पूजा होना चाहिए व्यर्थ वार्तालाप नहीं। इसी से सातिशय पुण्य बन्ध होता है, यह धर्म सभागृह है, धर्मशाला या भोजनशाला नहीं है।**

शरीर को अपना मानकर चलते हैं तो देह को जुदा करने में भय संज्ञा भी होती है। देह जुदी होगी और देह को जुदी करने में कितना अन्तर है। देह को पृथक् जानना मानना और अनुभव करने में ही सार्थकता है। ख्याति, पूजा, लाभ का मूल केन्द्र शरीर ही होता है। आत्मा में भावहिंसा यदि है तो वह भव–भव में द्रव्यहिंसा के लिए प्रेरित कराती रहती है। तीनों संज्ञाओं की पूर्ति के लिए चौथी परिग्रह संज्ञा होती है। चींटियाँ भी वर्षा से बचने के लिए भोज्य पदार्थ लेकर बिल में चली जाती हैं। पशु–पक्षी आदि को सब ज्ञात रहता है कि कब वर्षा होने वाली है, कब बाढ़ आने वाली है, इस प्रकार जानकर के वे वहाँ से दूर चले जाते हैं। यह रक्षा के भाव मोह, ममत्व के कारण होते हैं। पर आप लोग तो ज्ञान होते हुए भी मोह के कारण वहीं के वहीं पड़े हो। मन के लिए भय का विषय पास में हो या न हो तो भी भय बना रहता है। संवेद्य संवेदक भाव संवेदन में आ गया तो डर लग गया। कमरे में ज्यादा खिड़की या दरवाजे भी वास्तु विज्ञान की अपेक्षा दोष माना जाता है। आप दरवाजे खोलने का ज्ञान (आस्रव) तो रखते हैं, लेकिन बन्द करने का ज्ञान (संवर) नहीं रखते। दरवाजा खोलने से (आस्रव से) बन्ध होता है और बन्द करने से संवर होता है, उसी प्रकार राग–द्वेष का दरवाजा खुला रखने से आस्रव व बन्ध होता है और बन्द कर देने से संवर होता है। भोजन करने मात्र से ही संज्ञायें समाप्त हो जाती हैं, ऐसा नहीं है। सात्विक भोजन धर्म के लिए भूमिका का काम कर सकता है। भोगभूमि से देवगति में ही जाते हैं , फिर भी संज्ञा का अभाव नहीं है। भोगभूमि के सम्यग्दृष्टि सौधर्म–ईशान स्वर्ग तक जाते हैं, उसके आगे नहीं जा सकते और मिथ्यादृष्टि भवनत्रिक में उत्पन्न हो जाते हैं। थोड़ा–सा भी दुख का वातावरण हो जाता है तो असंतुष्ट हो जाता है, जीवन समाप्त हो जाता है। इसलिए सावधान हो जाइये। हाँ, आपने कर्म क्षय का उद्देश्य बनाया है तो सम्हलने का प्रयास करें, धर्म के बीज को सात्त्विक जीवन रूपी भूमि पर उचित खाद, हवा आदि मिलने पर बोया जाए तो प्रकृति कुपित भी हो जाए तो भी धर्म का वृक्ष उग सकता है।

कर्म का तीव्र उदय आने पर यदि हमारे भीतरी परिणाम फिसल गए तो जीवन भर की साधना फेल हो जायेगी। जिसने भी अपने भवन के प्रति ममत्व, परिग्रह संज्ञा रखी तो भूकम्प के समय वह कभी नहीं बच सकता, भवन से दूर होकर सोयेगा तो बच सकता है और अन्य को बचाने

का संकेत भी दे सकता है। अन्यथा वही भवन उसके ऊपर गिर सकता है। शरीर नामकर्म के उदय से जैसा शरीर मिलता है, उस प्रमाण प्रदेश संकोच विस्तार रूप हो जाते हैं। जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को सर्वथा भिन्न ही मानता है, वह जीवरक्षा तथा अहिंसा धर्म का पालन नहीं कर सकता मात्र चर्चा ही करता है। **कुन्दकुन्द स्वामी ने शरीर को छोड़ो, यह नहीं कहा, शरीर के प्रति जो राग है उसे छोड़ो**, यह कहा है और जो एकान्त से शरीर और आत्मा को अभिन्न ही मानता है, वह उसी के पोषण में लगा रहता है। शरीर के कारण ही आत्मा को नीच और उच्च कहा जाता है, चाहे किल्विषक जाति का देव हो या अहमिन्द्र हो दोनों उच्च गोत्र वाले हैं, फिर भी शरीर की अपेक्षा नीच व उच्च भेद हैं। गोत्र कर्म के पहले नामकर्म क्यों रखा ? ऐसा प्रश्न गोम्मटसार में उठाया है उसके समाधान में कहा– नामकर्म के कारण ही गोत्र कर्म का फल मिलता है नामकर्म की परिभाषा में कहा है–''**नमयति आत्मानं इति नाम:**''आत्मा को जो झुकाता है, वह नामकर्म है। चाहे तीर्थंकर ही क्यों न हों उपान्त्य समय तक नीच गोत्र की सत्ता रहती है। अन्तिम समय में तो मात्र उच्च गोत्र की सत्ता रह जाती है एवं उच्च गोत्र का ही उदय होता है। सोचिए, विचार कीजिए, मुक्त होने के पहले उपान्त्य समय तक तीर्थंकर ही क्यों न हो नीच गोत्र का सत्त्व रहता है, इसका कारण क्या है ? अज्ञान दशा में मिथ्यात्व के साथ बँधी हुई प्रकृतियों का सत्त्व यहाँ तक पीछा करता है, पिण्ड नहीं छूटता है। गोत्र कर्म की उदीरणा के लिए यह शरीर कारण है। शरीर के कारण अच्छा बुरा करता है और इसी से पहचान होती है कि यह वही व्यक्ति है, जिसने अच्छा किया था या परेशान किया था लेकिन जब शरीर से हटकर दिगम्बरत्व को देखते हैं तो छोटे–बड़े का कोई भेद नहीं बचता। जीव का संयम के क्षेत्र में गुणों के साथ और सांसारिक क्षेत्र में शरीर के साथ वर्णन होता है। शरीर के साथ गुणों का कथन तो हो सकता है कि यह पहले राजा थे आदि–आदि। शरीर नामकर्म का उदय १३ वें गुणस्थान के अन्त तक और सत्ता १४ वें गुणस्थान के अन्त तक रहती है शरीर नामकर्म के उदय के साथ अर्थात् योग के साथ ही संकोच–विस्तार होता है। अयोगी होते ही अन्तर्मुहूर्त में परिशातन क्रिया के माध्यम से शरीर रहित हो जाते हैं, मूलगुण निर्वर्तना में श्वासोच्छ्वास लेना व छोड़ना होता है, काय का सम्पादन, निष्पादन करना यह निर्वर्तना कहलाती है। १३ वें गुणस्थान तक मूलगुण निर्वर्तना है इसके बाद अयोग अवस्था में मात्र ध्यान से मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं, फूले हुए गुब्बारे की भाँति १० वें गुणस्थान तक (साम्परायिक आस्रव) पानी भरा रहता है। फिर ११ वें, १२ वें और १३ वें गुणस्थान तक गैस भरी रहती है १४वें गुणस्थान में आधे से ज्यादा कर्म सत्ता में रहते हैं। उसके बाद फिर गैस रहित अ, इ, उ, ऋ, ऌ बोलने में जितना समय लगता है फिर मुक्त हो जाते हैं। शरीर का आकार ''**किंचूणा चरम देहदो सिद्धा**'' हो जाता है। शरीर के अभाव से कर्म का भी अभाव हो जाता है।

(१) विक्रिया समुद्घात–औदारिक शरीर वाले जब विक्रिया समुद्घात करते हैं तो औदारिक वर्गणाएँ नहीं आती हैं। चक्रवर्ती तो ९६ हजार ही विक्रिया करता है, लेकिन स्वर्ग में एक–एक देव

करोड़ों–करोड़ों विक्रिया कर लेता है। विचित्र क्रिया, विशेष क्रिया विक्रिया है इन्द्र हजार–हजार नेत्रों को बना लेता है, यह वैक्रियिक शरीर वालों के बाँये हाथ का खेल है। नारकियों की अपृथक् विक्रिया होती है। चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया भी कर सकता है।

आदिनाथ भगवान् ने एक दूसरी नीलाञ्जना को अवधिज्ञान से जान लिया। जैसे जादूगर के हाथ की सफाई होती है, वैसे ही यह देवों के हाथ की सफाई है। विक्रिया मतिज्ञान का विषय नहीं बनता। जैसे–सुतारा अपने असली पति सुग्रीव को पहचान नहीं पायी पर अन्त में राजा की बुद्धिमानी से पत्नी को वास्तविक पति मिल जाता है यह विक्रिया की विचित्रता है। रुक्मणी को प्रद्युम्न की बालक्रीड़ा देखनी थी तब प्रद्युम्न कई रूप बनाकर क्रीड़ाएँ करता है।

(२) मारणान्तिक समुद्घात–जैसे–केवली समुद्घात सभी का नहीं होता है, उसी प्रकार यह भी सभी को नहीं होता है, जिसने आगे की आयु बाँध ली है अर्थात् बद्धायुष्क है, वही करता है, हर कोई करे ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि असंक्षेपाद्धा काल वाले के तो बनेगा ही नहीं।

(३) तैजस समुद्घात–जैसे–पिस्तौल की गोली जहाँ जाती है वहाँ अपना क्षेत्र बढ़ाती जाती है। इसी प्रकार यह समुद्घात है। द्वीपायन महान् मुनि संयम के निधान थे और जो ऋद्धि के निधान हैं उन्हीं को यह तैजस समुद्घात होता है लेकिन रत्नत्रय के बिना यह ऋद्धि नहीं।

करोति क्रिया–मोह से आवेष्टित राग या द्वेष रूप बुद्धिपूर्वक ६वें गुणस्थान तक होती है। बुद्धिपूर्वक राग का त्याग कर अबुद्धिपूर्वक राग को भी मिटाना चाहते हो तो बार–बार आत्मा का स्पर्श करो, यह समयसार में कहा है। एकाग्रता को बढ़ाने के लिए आलम्बन लेना आवश्यक है। जैसे–बार–बार मन अशुभ में न जाए इसलिए जोर–जोर से गृहस्थ णमोकार मन्त्र पढ़ना चालू कर देते हैं। षट् आवश्यक सभी मुनियों के होते हैं ऐसा नहीं, महामुनिराज ध्यानावस्था में एक ही आवश्यक का पूर्ण रूप से पालन करते हैं स्वाध्याय भी नहीं करते हैं क्या? नहीं, क्योंकि स्वाध्याय तो उनका प्रतिपल चल रहा है। गृहस्थ लोग मुनिराजों की अपेक्षा से कथञ्चित् ज्यादा एकाग्र होते हैं, क्योंकि उन्हें भूल करके भी भोजन के समय निद्रा नहीं आती है और यहाँ आकर कहते हैं–महाराज! कोई उपाय बता दो स्वाध्याय में बहुत नींद आती है, नोटों के बंडल गिनते समय नींद आज तक आयी क्या? अब देखो आप लोगों की नींद भी कितनी सयानी है। यह स्वाध्याय, ध्यान के समय ही आती है। आचार्यों ने कहा–जहाँ भय लगता है, वहीं पर भय संज्ञा को जीतने के लिए निषद्या, शय्या, ध्यान, आसन आदि करना चाहिए। वहीं पर सबसे ज्यादा कर्मों की निर्जरा होती है। २८ मूलगुण लेने के उपरान्त उसके पालन के लिए हमेशा जो जागृत रहते हैं तो मूलाचार प्रत्येक समय उनके साथ रहता है और जो मूलाचार को हाथ से नीचे नहीं रखते हैं, गाथा कण्ठस्थ कर लेते हैं लेकिन पालन करने में जागृत नहीं हैं , निर्दोष चर्या नहीं है तो क्या महत्त्व उस मूलाचार का? यह प्रारम्भ दशा में आगे बढ़ने के लिए साधन है, बिना आलम्बन के २४ घंटे जो सावधान रहता है, वह सबसे महान् होता

है। श्रेष्ठ साधक बिना आलम्बन के २४ घंटे निकाल सकता है। इस प्रकार ६ वें गुणस्थान तक राग–द्वेष करता है, प्रमाद करता है अतः ६ वें गुणस्थान तक करोति क्रिया है।

भवति क्रिया–यह करता है और यह होता है। इन दोनों में जितना अन्तर है, उतना ही करोति व भवति क्रिया में अन्तर है। ७ वें गुणस्थान से ९ वें गुणस्थान तक भवति क्रिया होती है। ६ वें गुणस्थान तक बन्ध करता है, ७ वें से ९ वें गुणस्थान तक मोह का बन्ध होता है, अस्ति क्रिया यह १० वें गुणस्थान में होती है। १० वें गुणस्थान में कृष्टिकरण होने से सूक्ष्म लोभ का उदय है लेकिन सूक्ष्म लोभ का बन्ध नहीं होता, इसलिए अस्ति क्रिया है। १० वें गुणस्थान से ११ वें में जाता है, उसके १६ प्रकृति का बन्ध नहीं होता है। मोहनीय की २१ या २८ प्रकृतियों का सत्त्व उसका ज्यों का त्यों है। उपशम करने के कारण यथाख्यात चारित्र है। लेकिन सत्त्व में मोहनीय की सभी प्रकृतियाँ होने से द्वितीय शुक्लध्यान नहीं हो सकता है, जिसको २८ का सत्त्व है, वह द्वितीय शुक्लध्यान का पात्र नहीं है और १० वें गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान में वही जाता है जिसके चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों का क्षय होता है और उसे ही द्वितीय शुक्लध्यान होता है, लेकिन उनकी क्रिया १२ वें गुणस्थान जैसी नहीं होती दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है। जिस प्रकार बुखार जिसके सत्त्व में है, वह भोजन के प्रति रुचि प्रकट नहीं कर पाता, भूख होते हुए भी खा नहीं पाता इसी प्रकार एकत्ववितर्क ध्यान के लिए आत्मा में सत्त्व रूपी बुखार बाधक बन रहा है, १३ वें गुणस्थान में मुक्ति क्रिया में लीन हैं, १२ वें तक अज्ञान है, १३ वें गुणस्थान में केवलज्ञान है, क्षायिक ज्ञान है, सर्वज्ञ हैं। जिसने मनुष्य आयु का बंध कर लिया वह संयम धारण नहीं कर सकता, क्योंकि आयु का सत्त्व भी भविष्य का मार्ग प्रशस्त करता है। जैसे–किसी ने अज्ञान दशा में कोई अपराध किया हो और बहुत वर्षों के बाद वोट जीत जाता है, उसे वोट देना है पर उसके अतीत को देखकर निरस्त कर दिया जाता है। अतः सत्त्व क्रिया बहुत भयानक होती है, जो भविष्य के लिए बाधक होती है, सूक्ष्म क्रिया होती है जो १३ वें गुणस्थान के अन्त में होती है। सूक्ष्म क्रिया का अर्थ–काय संकुचित नहीं है, बल्कि योग से रहित अवस्था में "**पूर्व प्रयोगादसङ्गत्वाद्-बंधच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्च**" आदि से आत्मिक क्रिया करता है, आत्मिक क्रिया के आधार बिना सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार योग को अयोग की ओर सर्वप्रथम लाता है। '**किंचूणा**' शब्द आत्मप्रदेशों की अपेक्षा है, शरीर की अपेक्षा नहीं। संकोच किसका? शरीर को संकुचित नहीं किया जा रहा है, वरन् आत्मप्रदेश जो योग के साथ फैले हुए हैं उनको संकुचित करते हैं। ५०० धनुष की अवगाहना है तो वह तो उतनी ही रहेगी, जो पोल है, उसकी अपेक्षा अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार आत्मप्रदेशों का रह जायेगा। अवगाहना उत्सेध अपेक्षा है तो उत्सेध में कमी नहीं आती। मोटाई में कमी आयेगी मोटाई में कमी हुई, इसलिए अवगाहना में भी कमी हो, ऐसा नहीं। जैसे–थर्मामीटर में बुखार नापा फिर धीरे–धीरे बुखार उतर जाता है,पारे का फैलना हुआ था, वह पुनः संकुचित हो गया, थर्मामीटर संकुचित नहीं हुआ।

दूसरा उदाहरण जैसे–एक भगोनी में दूध भरकर रख दिया और नीलमणि डाल दिया तो उसमें उसकी किरणें फैल गईं अब उसी को कटोरे में डाल दिया तो अब वहीं तक उसकी किरणें जायेंगी। योग से अयोग में जाता है तो आत्मा के प्रदेश संकुचित होते हैं, योग से यहाँ शरीर नहीं लेना।

क्रिया	**गुणस्थान**
करोति क्रिया	१ से ६ वें गुणस्थान तक
भवति क्रिया	७ से ९ वें गुणस्थान तक
अस्ति क्रिया	१० वें गुणस्थान में
सत्त्व क्रिया	११ वें गुणस्थान में
मुक्ति क्रिया	१२ वें गुणस्थान में
सूक्ष्मत्व क्रिया	१३ वें गुणस्थान के अंत में
आत्मिक क्रिया	१४ वें गुणस्थान में
स्वस्थ क्रिया	सिद्ध अवस्था में

(४) वेदना समुद्‌घात–आत्मा के प्रदेशों की स्थिति जुड़ी होने के कारण हमारी पकड़ में नहीं आती। जिस प्रकार छिपकली की पूँछ कट जाने पर वह छिपकली १५–२० कदम दूर भी चली जाए फिर भी वह आत्मा के प्रदेशों से जब तक जुड़ी रहती है, तब तक उछलती रहती है। जिस प्रकार दीपक कभी–कभी भभकता है, इसी प्रकार समुद्‌घात में भी आत्मप्रदेशों की दशा रहती है।

वेदनाग्रस्त व्यक्तियों को देखकर जिस व्यक्ति के अन्दर दया के अंकुर नहीं फूटते, उस व्यक्ति का सम्यग्दर्शन का मैदान अभी साफ है, जिसकी दृष्टि पवित्र है, वह वेदना को पहचान लेता है। दया के लिए जीवों का परिज्ञान होना आवश्यक है। जैसे–राम–लक्ष्मण दोनों भाई थे। राम किसी भी परिस्थिति में नहीं उबलते थे, वे अपने शीतल स्वभाव को नहीं छोड़ते थे और लक्ष्मण बहुत जल्दी उबलते थे, यद्यपि राम न चक्री थे न अर्धचक्री, उनके पास तो शान्ति का चक्र था। छोटा बच्चा, जवान, प्रौढ़, नादान और समझदार सभी की वेदना अलग–अलग होती है, जो शान्त स्वभाव वाला होता है, वो ही वेदना को समझ सकता है। स्वार्थ युक्त व्यक्ति कभी भी वेदना को नहीं समझ सकता। अंजना की वेदना को २२ वर्ष तक नहीं समझा यह व्यवहार कुशलता का अभाव था। अंतर्दृष्टि होने के उपरान्त भी संयम की आवश्यकता है। दवाई प्राप्त करने मात्र से काम नहीं चल सकता, उसको अनुपात से ग्रहण करने की आवश्यकता है। विवेक के बिना इस संसार रूपी कूप से बच नहीं सकते। **आगम तो शब्द देता है, किन्तु गुरु शब्द के साथ–साथ अर्थ भी दे देते हैं और अनुभव भी दे देते हैं।** दीक्षा के जो अभिमुख होते हैं, उसकी भी वैय्यावृत्ति करो ऐसा वीरसेन स्वामी ने कहा है। आज समाज में किसी भी प्रकार की कमी नहीं है, यदि कमी है तो वेदना को समझने की है। सब लोग नेता बनना चाहते हैं पर कहाँ ले जाना चाहते हैं यह पता नहीं है। मोक्षमार्ग के नेता बन जाओ फिर दूसरों

का नेतृत्व सँभालो। साता को भोगना भी खेल नहीं है। रोना बुरा नहीं है, लेकिन रोते ही रहो यह बुरा है, यह वेदना भयंकर वस्तु है। जैसे–क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि में किस–किस प्रकार की वेदना होती है, यह आप ही समझ सकते हैं। नरक की वेदना का चिन्तन करने से निश्चित रूप से इस वेदना से छूट सकते हैं। नारकी को तो वेदना के द्वारा सम्यग्दर्शन हो सकता है, लेकिन यहाँ पर नहीं। धर्म की प्रभावना के लिए जो व्यक्ति वेदना की पहचान में कुशल है, वही उसकी वेदना को शान्त कर धर्म की प्रभावना कर सकता है।

(५) कषाय समुद्घात–मान से बहुत सारे कार्य बिगड़ जाते हैं। कभी–कभी देखा जाता है कि माँ की लाल आँखें देखकर बच्चा इतना डर जाता है कि पागल हो जाता है और रात में बचाओ–बचाओ चिल्लाता है। इस प्रकार से भी नहीं डराना चाहिए। ऐसे शब्द भी नहीं बोलना चाहिए कि जिससे डरकर वेदना हो। अच्छे–अच्छे वचन, क्षमा रूपी दवाई बहुत ही महँगी है। क्रोध की गोलियाँ इतनी सस्ती हैं पर इससे कुछ काम नहीं होता है, उल्टा बिगाड़ ही हो जाता है। सर्वार्थसिद्धि के देव, कैसे कषाय समुद्घात करते हैं ? तो कषाय के असंख्यात भेद प्रमाण अध्यवसान परिणाम बताये हैं, उसके एक भी प्रदेश बाहर आ जाने पर कषाय समुद्घात माना जाता है। इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि में भी कषाय समुद्घात होता है। वह समझ में नहीं आता है कि आपस के कारण होता है या समझाने के कारण होता है? भले यहाँ तक उनके प्रदेश न आ पाते हों। जिस प्रकार खिचड़ी को अग्नि पर से उतार दो फिर भी खदबद–खदबद करती रहती है उसी प्रकार भले ही सर्वार्थसिद्धि तक पहुँच जायें पर कषाय की खदबद तो मची रहती है। उसमें चारों ही कषाय कारण हैं, चारों की अलग–अलग QUALITY हैं। कषाय समुद्घात से गुणस्थान बदले ही ऐसा नहीं, पर संभावना बनी रहती है। अपनी–अपनी सीमा को समझो, पहचानो और रक्षा करो। जो अपनी रक्षा कर लेता है तो उससे दूसरे की भी रक्षा हो जाती है। दूसरों की कषाय शान्त करना चाहते हो तो उसके पहले अपनी कषाय को शान्त करो। शासन की अपेक्षा आत्मानुशासन कर लो। जो व्यक्ति अपनी आत्मा के अनुशासन में नहीं रहता वह दूसरों को कैसे अनुशासित करेगा? नो कषाय के द्वारा भी समुद्घात हो सकते हैं, होते हैं। कषाय के पास तीव्र मिथ्यात्व की उदीरणा करने की क्षमता होती है। कषाय समुद्घात अशुभ ही होता है। जो कषायों को कम करना चाहता है, उन्हें कषाय की QUALITY समझना आवश्यक है। इसके बिना वह कषाय समुद्घात से नहीं बच सकते। **सत्य का पक्ष नहीं लेना और असत्य का पक्ष लेना यह कृष्ण लेश्या का प्रतीक है।** बाहर कषाय के भाव न दिखते हुए भी भीतरी कषाय भाव से समुद्घात होता है। अपनी चेष्टाओं के द्वारा दूसरों को दुख पहुँचाना भी समुद्घात की कोटि में आता है। इस प्रकार समुद्घात बहुत प्रकार से अपना प्रभाव फैलाता है। प्रदर्शन से उपयोग को आकर्षित करना भी कषाय समुद्घात में आ जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। जैसे–फूल की भी मार होती है और शूल की भी मार होती है। स्वर्ण मृदु होता है, किन्तु उसे कठोर बनाकर ही आभूषण बनाते

हैं। सल्लेखना के समय निर्यापकाचार्य सम्यक्समाधि के लिए कठोर शब्द का प्रयोग करके भीतर की शल्य निकाल देते हैं। मन्त्र सिद्ध करना चाहें तो मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं, लेकिन ऋद्धियाँ चाहने पर नहीं मिलती। तीर्थंकर जैसे ही दीक्षा लेते हैं, केवलज्ञान को छोड़कर ६३ ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। विशुद्धि के प्रभाव से सर्प-नेवला, गाय-शेर, सभी जातिगत वैर विरोधों को भूलकर बैठ जाते हैं। तत्त्व चर्चा करते-करते वर्षों हो जाते हैं, फिर भी ऐसा वातावरण क्यों नहीं बनता? तो आचार्य कहते हैं-यही हुण्डावसर्पिणी का दुष्प्रभाव है। कुन्दकुन्द स्वामी जैसे अनेक साधक हो गये, जिन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त होने के उपरान्त भी चमत्कार दिखाने के भाव तक नहीं आये। मन्त्र सिद्धि आदि करने पर देवों को बाँधना पड़ता है। धरसेनाचार्य को स्वप्न में दो बैल दिखते हैं, तब उन्हें विश्वास हो गया कि अब मेरा काम हो जायेगा और एक-दो दिन में पुष्पदन्त, भूतबलि मुनिराज आ जाते हैं, उन दोनों को मन्त्र दिया और परीक्षा हेतु कहा कि-इसे दो उपवास के साथ सिद्ध करो। परीक्षा करने से विद्वानों को अधिक संतुष्टि होती है और विश्वास दृढ़ हो जाता है, वे दोनों पास हो गये वह मन्त्र ही गलत था। एक में अक्षर ज्यादा तथा एक में अक्षर कम था। दो देवी सामने आईं, एक तो बड़े दाँत वाली और दूसरी की एक आँख नहीं थी तो उन्होंने सोचा कि देवियाँ तो समचतुरस्र संस्थान वाली होती हैं और ये कुरूप कैसी हैं? तो मन्त्र को सुधारा और सिद्ध कर लिया। विशेष कार्य के लिए पात्रता अलग होती है। मन्त्र शास्त्र का ज्ञान दोनों को है या नहीं यह धरसेनाचार्य ने परीक्षा की थी। जो कोई व्यक्ति त्यागी तपस्वी के ऊपर मन्त्रों का प्रभाव डालना चाहता है तो उसका प्रभाव एकदम नहीं पड़ता है, क्योंकि वे प्रत्येक समय पुण्य का बन्ध एवं पाप कर्म की निर्जरा कर रहे हैं और उन्हें यशःकीर्ति का भी उदय रहता है। समन्तभद्रस्वामी महाराजजी ने स्वयंभूस्तोत्र की रचना कर दी। मानतुंगस्वामी ने भक्तामर की ४८ कड़ियाँ बनाईं और बाहर की कड़ियाँ तथा कर्म की बेड़ियाँ तोड़ दीं। ऐसे-ऐसे महान् आचार्य हो गये हैं। ऐसे निर्मल भाव होते हैं, तब कहीं तीर्थ रक्षा होती है। **गुरु के मुख से आज्ञा के वचन बहुत दुर्लभता से मिलते हैं। यदि उसका पालन करते हैं तो बहुत कर्मों की निर्जरा होती है।** धरसेनस्वामी के मुख से ज्यों ही निकला कि अब हमारा सल्लेखना का समय आ गया और चातुर्मास स्थापना का भी समय बहुत कम है, यहाँ से जल्दी विहार कर दो, इतना सुनते ही वे शीघ्र वहाँ से गुरु आज्ञा को पालन करके चले गये। ऐसे महान् आत्माओं का सान्निध्य हम जैसे लोगों को मिल जाए तो कहना ही क्या, निमित्त के बिना कर्म फलता भी नहीं है। कर्मरूपी बीज पानी, खाद, हवा आदि निमित्त मिलते ही फलेगा-फूलेगा। सम्यग्दर्शन के साथ ऋद्धियाँ कर्म बन्धन को तड़ातड़ तोड़कर निर्वाण की प्राप्ति करा देती हैं। जिससे अनेकों जीव सुख शान्ति का अनुभव कर लेते हैं। श्रुतकेवलित्व को जिसने प्राप्त कर लिया, वह सम्यग्दर्शन को छोड़कर मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है। "**शुक्लेचाद्येपूर्वविदः**" कहा है। ११ वें गुणस्थान से नीचे उतरकर निगोद तक चला जाता है यह कथन भी मिलता है तब तो उनको सम्यग्दर्शन भी छूट जाता है। मिथ्यादर्शन के होने पर जो विभूतियाँ सम्यक्त्व के साथ थीं,
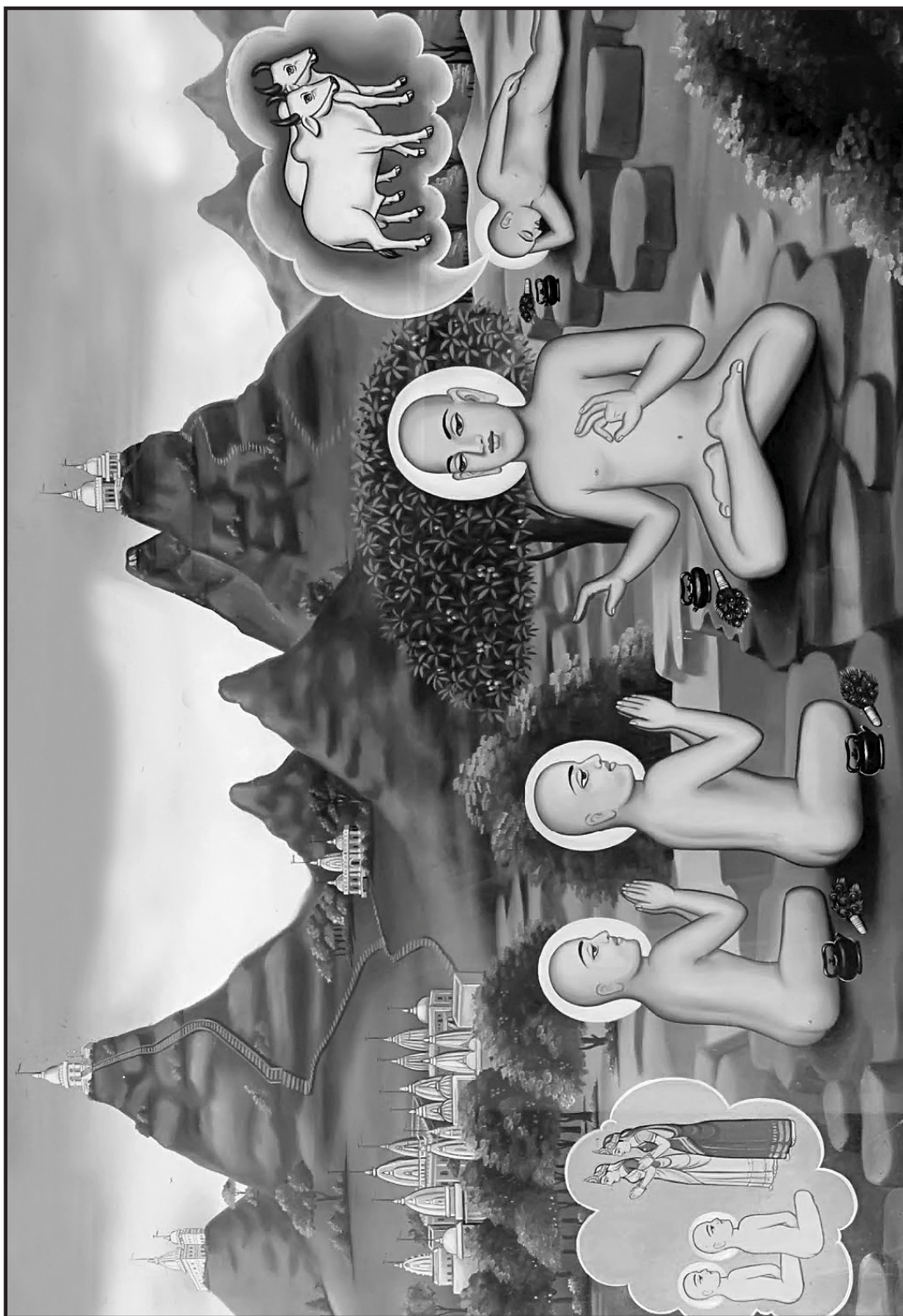
धरसेनाचार्य ने पुष्पदन्त और भूतबली मुनि की परीक्षा ली।

उनका वह दुरुपयोग करने लगता है। ज्ञान का उपयोग हमेशा मोक्षमार्ग में ही करना चाहिए अन्यत्र नहीं। विद्यानुवाद में कितने प्रवीण हैं, इसकी परीक्षा के लिए एक साथ छोटी–बड़ी१२०० विद्याएँ आ जाती हैं। प्रलोभन में आ जाते हैं तो भिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं। जैसे–पेपर देते समय कोई पानी लेकर घूमता है पानी चाहिए? जिसे उत्तर नहीं आता है वह उसी में समय गँवाता है, दूसरा जो प्रतिभाशाली है वह उस तरफ देखता ही नहीं है। लोभ के कारण बड़े–बड़े मुनिराज भी अपने व्यक्तित्व को खो देते हैं जैसे–जैसे आगे बढ़ते हैं, उतनी कठिन–कठिन परीक्षाएँ होती हैं। जिनका वैराग्य दृढ़ होता है, वे आगे बढ़ जाते हैं।

(६) आहारक समुद्घात–मुख्य रूप से मोक्षमार्ग मान्यताओं पर आधारित होता है। भ्राँति या संदेह का अर्थ–संशय मिथ्यात्व नहीं है, इसमें जो श्रद्धा का विषय होता है, उसमें यदि बुद्धि काम नहीं करती तो वहाँ दिमाग चकराने लगता है और इतने में मस्तक से आहारक शरीर निकल कर केवली, श्रुत केवली के पास पहुँच जाता है। इस प्रकार आहारक शरीर में से पुनः आहारक शरीर भी निकल सकता है किन्तु अन्तर्मुहूर्त के बाद ही निकल सकता है। आहारक शरीर का अढ़ाईद्वीप के बाद कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके द्वारा कोई भी अनर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यह शुभ है विशुद्धि वाला है, शुभ कर्म के उदय से ही होता है और इससे शुभ कार्य ही होते हैं, यह किसी से बाधित भी नहीं होता है, किन्तु अन्य वैक्रियिक, औदारिक, तैजस शरीर से अनर्थ भी हो सकता है क्योंकि यह असंयम के साथ भी सम्भव है, इनसे हिंसा के कार्य भी हो सकते हैं।

(७) केवली समुद्घात–जैसे–एक घड़े में ३/४ दही भरा है, उसे बिलौने के लिए बीचों–बीच मथानी रख दी तो वह दण्डाकार हुआ और एक तरफ मथानी चलाई तो वह कपाट हुआ, दूसरी तरफ मथानी चलाने पर प्रतर हो गया और फिर कई बार ऐसा किया तो पूरी मटकी में दही के कण फैल जाते हैं, यह है लोकपूरण। प्रतर में पूरे वातवलयों में आत्मप्रदेश नहीं फैलते यह केवली समुद्घात विशेष रूप से कर्म निर्जरा का कारण है। जैसे–एक गीली धोती को निचोड़ देते हैं, फिर तह बनाकर टाँग देते हैं तो जल्दी नहीं सूखेगी लेकिन पूरी फैला देने पर जल्दी सूख जाती है। अतः गीली धोती को जितनी–जितनी खोलते जाओगे उतनी–उतनी सूखती जायेगी अर्थात् निर्जरा होती जायेगी, जैसे उदाहरण में सूर्य किरण की अपेक्षा है। वैसे वहाँ ज्ञान किरण की अपेक्षा है। पहले आत्मा के प्रदेशों को दण्ड रूप फैलाते हैं, जिससे असंख्यात गुणी निर्जरा बढ़ जाती है आगे–आगे कपाट, प्रतर, लोकपूरण में आठ समयों में अधिक–अधिक निर्जरा होती है। निर्जरा के लिए यह कार्य करते हैं, ऐसा उल्लेख मिलता है। जैसे–उपशम श्रेणी में उतरते समय क्रम से गुणस्थानों में गिरता है, उसी प्रकार समुद्घात में क्रम से आत्मप्रदेश पुनः शरीर में आयेंगे। आत्मा में ऐसी अनन्त शक्ति है कि उदयावली में ही सबको नष्ट कर दे, लेकिन नहीं कर सकते। लोकपूरण में समयोगी संज्ञा दी है, तीन अघाति कर्मों की स्थिति आयु के बराबर करने पर चारों कर्म समान हो जाते हैं। इसीलिए अघातिया कर्मों को

सुव्यवस्थित करने की यह प्रक्रिया है। दौड़ जो होती है, वह गाँव में नहीं गाँव के बाहर होती है, गति वहीं पर आती है। उसी प्रकार समुद्घात से ही विशेष कर्म निर्जरा होती है। **केवलज्ञानरूपी आकाश में ऐसे अनन्त लोकाकाश-अलोकाकाश हों तो भी आकाश में तारे के समान समा जाते हैं।** जैसे—अलोकाकाश में लोकाकाश तारे के समान टिमटिमाते हैं, इस प्रकार यह केवली भगवान् के ज्ञान की विशेषता है। सांख्यमत आत्मा को ज्ञान से शून्य मानता है, लेकिन यहाँ बाहरी विषयों में जो उपयोग जा रहा है उसे शून्य करो वो सबसे महान् साधक माना जाता है, जो भरता कम है, निकालता ज्यादा है। कमजोर व्यक्ति श्वास कम लेता है और जल्दी ही छोड़ देता है, इसी प्रकार विकल्प जो कम करता है वह शारीरिक दृष्टि से भी स्वस्थ माना जाता है। जो अच्छी तरह श्वास लेकर भरते हैं और धीरे-धीरे श्वास को छोड़ते हैं, वे स्वस्थ निरोगी माने जाते हैं। सामायिक के समय मेरुदण्ड को सीधा करके बैठेंगे तो पिरामिड का आकार बन जायेगा, फिर शरीर खड़ा है या बैठा है यह भी ध्यान नहीं रहता है। संयम लेने के साथ उदीरणा के स्रोत खुलते हैं। ध्यान में सबसे पहले शरीर में दर्द होता है फिर कर्म को दर्द होता है यदि शरीर के दर्द को सहन किया तो कर्म ही भाग जायेंगे। यदि ध्यान नहीं लगता है तो बारह भावनाओं का चिन्तन करिये, कायोत्सर्ग तो हो ही जायेगा। अणुदेह प्रमाण से सूक्ष्म निगोदिया शरीर लेना है, परमाणु नहीं।

संसारी जीव के भेद

पुढविजलतेउवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिग चदु पञ्चक्खा तस जीवा होंति संखादी ॥११॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, इन भेदों से स्थावर जीव विविध प्रकार के हैं और सभी एकेन्द्रिय स्पर्शनेन्द्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदिक त्रस जीव दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों के धारक होते हैं।

पृथिवीजलअगनीकायिक औ वायु-वृक्ष-कायिक सारे।
बहु-विध स्थावर कहलाते हैं मात्र एक इन्द्रिय धारे॥
द्वयतियचउपञ्चेन्द्रिय-धारक त्रसकायिक प्राणी जाने।
भवसागर में भ्रमण कर रहे कीट पतंगे मनमाने ॥११॥

व्याख्या—लौकिक में पाँच तत्त्व से बना हुआ शरीर होता है, पाँच तत्त्व सो काया नहीं, पाँच तत्त्व से काया बनती है। जैसे—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। कर्म की व्यवस्था भावों के द्वारा आत्मा स्वयं करता है और यह भावों की टिकट लेकर परभव में जाता है, वहाँ जाकर उसी योग्य नोकर्म उसे मिल जाते हैं। जैसे—राशनकार्ड से शक्कर, गेहूँ आदि मिल जाते हैं, उसी प्रकार कर्म रूपी राशनकार्ड में जो लिखा है, उसी के अनुसार नोकर्म मिलता है। यदि एकेन्द्रिय लिखा है तो एकेन्द्रिय ही मिलेगी, जितनी आयु लिखी है उतनी ही आयु मिलेगी। रिश्वत वाला काम नहीं। कर्म का

सुव्यवस्थित काम चलता है कुछ भी यहाँ का वहाँ नहीं हो सकता। शरीर नामकर्म से जैसा एक बार बन गया वह परिवर्तित नहीं होगा। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक तिर्यञ्च ही होते हैं संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते ही नारकी, मनुष्य, देव आदि भेद होते हैं, यह दण्ड नहीं कर्म का फल है। दरिद्र, एकेन्द्रिय आदि बनने से पहले सोचते अब सोचने से क्या? सम्यग्दृष्टि वहीं पर जन्म लेता है, जहाँ पर चारों तरफ से मुक्ति का द्वार खुला रहता है। सम्यग्दृष्टि देव होगा तो विदेह में जायेगा, भरत–ऐरावत में नहीं आयेगा। इन्द्र होगा तो उसके पास हुकूमत और ऐश्वर्य दो विशेषताएँ रहती हैं। कुछ ऐसे भी जीव हैं, जो पर्याप्ति पूर्ण भी नहीं कर पाते और मर जाते हैं। उन्होंने क्या देखा? यह सब नामकर्म की देन है। जाति नामकर्म के कारण यह सब विभाजन होता है। क्रम–क्रम से इन्द्रियाँ मिलती जाती हैं। तो छुओ, चखो, सूँघो, देखो, सुनो और सोचो। मन मिला है तो क्या भला, क्या बुरा यह सोचो इधर–उधर की बात मत सोचो। सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त जीव सोते हुए भी जागृत ही रहता है। जैसे–तार के ऊपर चलने वाला व्यक्ति एक हाथ में लकड़ी लेकर चलता है, उसे दोनों हाथों से पकड़ता है, जिधर से संतुलन बिगड़ता है, उधर उससे वह जल्दी से सँभाल लेता है। मतलब दो पैर, दो हाथ, दो आँख और मन इन सभी पर संयम रखते हुए लक्ष्य की ओर दृष्टि रखता है। वह मनोयोगपूर्वक चलता है। मोक्षमार्ग में मन लगाया तो विकास हो जाता है, यदि मन नहीं लगाया और तन–धन सभी कुछ लगाया तो उसका विकास सम्भव नहीं। जैसे–रोटी खा ली का मतलब–मात्र रोटी ही नहीं चावल, दाल, सब्जी आदि भी हैं, उसी प्रकार मात्र एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय ही होता है ऐसा नहीं, उसके निर्माण, स्थावर पर्याप्ति नामकर्म आदि भी होते हैं, जैसे कॉलेज में पढ़ने वाला भी विद्यार्थी है और प्रायमरी में पढ़ने वाला भी विद्यार्थी है, पर दोनों में भेद है, उसी प्रकार त्रस नामकर्म का उदय होते हुए भी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय भी त्रस हैं और पञ्चेन्द्रिय भी त्रस हैं। **आत्म तत्त्व की भावना करेगा तो त्रस-स्थावर पर्याय नहीं मिलेगी सिद्धपर्याय मिलेगी।** आत्मा का स्वभाव इन्द्रिय नहीं है, इन्द्रिय के कारण ज्ञान को जानने में तकलीफ होती है, इसलिए इन्द्रिय व्यापार बन्द कर दो और मन के द्वारा सोचने का प्रयत्न भी बहुत हो चुका। दुख का कारण हमारा इन्द्रिय ज्ञान और मन है। **हे प्रभो! आपके मत में दया, दम, त्याग, सम्यग्ज्ञान और समाधि के प्रति निष्ठा है इसलिए आपके मत को ही तीर्थ कहा अन्य मतों को नहीं।** ऐसा समन्तभद्रस्वामी ने आप्त की स्तुति करते हुए कहा है–समाधि सुख का निमित्त है और सुख आत्मा के लिए है। इन्द्रियों के दमन से कषाय अपने आप शमन हो जाती है। पाँच इन्द्रिय और मन ने मिलकर आत्मा को दिवालिया बना दिया। दिन में ही दीपक को देहरी के ऊपर रख देते हैं तो लोग समझेंगे कि दिवालिया हो गये। सुख–दुख मिलते रहते हैं तो चहल–पहल बनी रहती है। **लिङ्गं गमयति इति इन्द्रियाणि** लिंग अर्थात् जो आत्मा को जानने में सहयोग देती हैं, वे इन्द्रियाँ हैं। जिस किसी को जानने सोचने के लिए कभी ज्ञान का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यही ज्ञान का सदुपयोग है। यह वीर्यान्तराय

कर्म के क्षयोपशम से मिला है। जैसे–ऋषियों को जहर डालने की क्षमता है तो जहर समाप्त करने की भी क्षमता है। जिससे आत्मा खतरे में आ जाए उससे दूर रहना चाहिए। ख–इन्द्रिय, तरे–तर गये। अर्थात् इन्द्रियों से जिन्हें खतरा था वह उनसे तर गये तो खतरा टल गया। आत्मा का वर्तमान में जो ज्ञान उपयोग है, वह अन्तर्मुहूर्त के बाद नियम से परिवर्तित होता रहता है। दर्शनोपयोग की बारियाँ कम होती हैं और ज्ञानोपयोग की अधिक होती हैं। जैसे–दर्शन के समय बोलना बन्द हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञान बिना बोले ही दर्शन-सा अनुभव करने लगे तो कर्म बन्धन तड़ातड़ टूटने लगेंगे। **ज्ञानावरण-दर्शनावरण में जो स्थित है, वह छद्मस्थ है** और जो स्वस्थ है, उनको ज्ञान दर्शन एक साथ होता है किन्तु जो अस्वस्थ है उनका ज्ञान-दर्शन बारी-बारी से होता है।

भक्ति उपासना का उपदेश देने से भगवान् सावद्य के भागी नहीं होते क्योंकि जीवों को धर्माभिमुख करने का प्रयोजन था दूसरी ओर मुनियों के लिए तप,ध्यानादि का उपदेश दिया, जिससे जीवन आकिञ्चन्य बन जाता है। भगवान् का जब परम औदारिक शरीर हो जाता है तो उनके शरीर में धातु तो होती है, पर उपधातु रूप परिणत नहीं होती, क्योंकि सड़न-गलन ही निगोदिया जीव की उत्पत्ति का कारण है। आज ऐसे भी जीव हैं कि जो हमेशा-हमेशा A.C. में रहते हैं उनकी आगे चलकर क्या स्थिति होगी, हम यह नहीं कह सकते। लाइट का प्रयोग करने वाले निश्चित रूप से जीव हिंसा से बच ही नहीं सकते। पूजा में तो सावद्य से बचने की बात कहते हैं, किन्तु हमारा कहना है कि स्वाध्याय करते समय भी महान् सावद्य से बचना चाहिए। जहाँ चलाकर रात्रि में प्रवचन रखा जाता है, अनेक बिजलियाँ लगायी जाती हैं, पंखा चालू रहता है, जिनवाणी के ऊपर कीड़े-मच्छर आदि पड़ते रहते हैं, इसे तो हम सावद्य स्वाध्याय कहेंगे। आज विज्ञान के युग में दिन-रात का अन्तर ही मालूम नहीं पड़ता। अतः हित-अहित का विचार नहीं करने वाला अपने जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता है।

चौदह जीवसमास

समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादर सुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥१२॥

अर्थ–पञ्चेन्द्रिय जीव समनस्क और अमनस्क के भेद रूप जानने चाहिए और शेष जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय मन रहित ही होते हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं वे मन रहित ही होते हैं, इस प्रकार सभी सात प्रकार के जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त के भेद से चौदह जीवसमास जानना चाहिए।

द्विविध रहे हैं पञ्चेन्द्रिय भी, रहित मना और सहित-मना ।
शेष जीव सब रहित-मना हैं कहते इस विध विजितमना॥

स्थावर, बादर सूक्ष्म द्विविध हैं दुख से पीड़ित हैं भारी।
फिर सब ये पर्याप्त तथा हैं पर्याप्तेतर संसारी ॥१२॥

व्याख्या–''नमयति आत्मानं इति नामकर्म'' नामकर्म के कारण आत्मा को झुकना ही पड़ता है, अपना शासन नहीं चल सकता है। जो कुछ भी विकल्प है, उसको करने वाला मन है। योग विशेष से विसदृश बंध हो जाता है। **''विसदृशो योग विशेषात्''** मनोयोग हो जाने से स्थिति अनुभाग में भी विशेषता हो जाती है। मन शुभ-अशुभ विकल्पों का जाल है। मन आते ही चाल ही बदल जाती है, विशेष मान, मन का विषय है, मन के द्वारा ही मानी को देख सकते हैं। मन के द्वारा ही पञ्चेन्द्रियों के विषयों में छटनी और चुनाव होता रहता है। **जैसे–सब इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय का निग्रह कठिन है, वैसे ही सब योगों में मनोयोग का निग्रह बड़ा कठिन है और सब व्रतों में आकिञ्चन्य होना बड़ा कठिन है मन को जीतना चाहते हो तो आकिञ्चन्य हो जाओ।** मन को जीतने के लिए आकिञ्चन्य बनना आवश्यक है।

मन ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व इन तीन प्रत्ययों को पुष्ट करता है, आकिञ्चन्य बने बिना मन को कीलित नहीं किया जा सकता। मन के सरोवर में चिन्ता रूपी तरंगें उठती रहती हैं। पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्च्छन मनुष्य भी मन सहित होते हैं। मन अनंग है, अतीन्द्रिय है। मन और बुद्धि में क्या अन्तर है? मन को आचार्यों ने क्षयोपशम ज्ञान की परिणति माना है और प्रकारान्तर से वह बुद्धि कही जाती है। मन और बुद्धि में शब्दों की अपेक्षा अन्तर है। केवलज्ञान होने पर मन अथवा बुद्धि का कार्य नहीं रहता है, ज्ञान का काम रहता है। सावधानीपूर्वक या मनोयोगपूर्वक जो कार्य किया जाता है, वह बुद्धिपूर्वक कार्य कहा जाता है और ध्यानादि के समय जो राग-द्वेष हो रहे हैं, वह अबुद्धिपूर्वक है, इसलिए ज्ञान भ्रष्ट हो गया, ऐसा नहीं कहा जाता किन्तु बुद्धि भ्रष्ट हो गई, ऐसा कहते हैं। वह बुद्धि ज्ञान की ही परिणति है। ज्ञान व्यापक है और बुद्धि अव्यापक है। ज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी में है। पर बुद्धि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में ही होती है। उसे मेधावी कुशाग्र बुद्धि, प्रज्ञावान, प्रत्युत्पन्नमति, प्रतिभा सम्पन्न आदि-आदि कहा जाता है। १२ वें गुणस्थान तक संज्ञी है, १३ वें गुणस्थान वाला न मन वाला है न अमन वाला है, अपने आप में चमन वाला है। १३ वें गुणस्थान में भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मार्गणा, भूत नैगमनय से है, मन को एकाग्र करने का उपाय आकिञ्चन्य है। परिग्रह आदि का त्याग होने पर मन बाहर जायेगा भी तो बछड़े की भाँति वापस वहीं माँ के पास आकर बैठ जायेगा। जो समनस्क होता है उसी में वैमनस्क होता है। प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हो जाते हैं–(१) सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, (२) अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति। इनमें संख्या की अपेक्षा असंख्यात भेद हो जाते हैं तथा साधारण वनस्पति में अनन्त भेद हो जाते हैं। आंगोपांग नामकर्म का उदय दो इन्द्रिय से प्रारम्भ होता है। संख्या को लेकर एक और विशेष है वह है निगोद। जिसकी संख्या अनन्तानन्त हैं। जिस जाति के जीवों का मांस है, उसी प्रकार के रंग वाले परमाणुओं

के शरीर व आकार वाले अनंत निगोद जीव निरंतर उसमें उत्पन्न होते रहते हैं, ऐसा पुरुषार्थसिद्धियुपाय में आता है। एकेन्द्रिय के आंगोपांग नामकर्म का उदय नहीं है। इसलिए इसको प्रासुक करने का विधान अलग से बताया है। दो इन्द्रिय से संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के मांस में भी फर्क होता है। चमड़े की मशक का जल नहीं पीना चाहिए, क्योंकि उसके सम्पर्क से हमेशा त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। किसी की शव यात्रा में जाकर आया है तो उसको भी एक दिन का सूतक लगता है क्योंकि वह अनन्तानन्त जीवों का दहन करके आया है। औदारिक से परम औदारिक शरीर होता है तो उसमें से अनन्तानन्त बादर निगोदिया जीव निष्कासित हो जाते हैं, ऐसा कहा है। कलंकला पृथ्वी में निगोद आदि पंच स्थावर जीव ही रहते हैं, निगोद जीवों को लेकर ही स्कन्ध, अंडर, आवास, पुलवी आदि भेद किये गए हैं। सप्रतिष्ठित की भी आप प्रतिष्ठा तोड़कर अप्रतिष्ठित कर देते हैं। इसलिए विवेकी लोग कम से कम वनस्पति का उपयोग करते हैं। म्लेच्छखण्ड के जीवों के शरीर में सम्मूर्च्छन जीव नहीं पाये जाते तो क्या आर्यखण्ड में आ जाने पर हो जाते हैं? हाँ, हो सकते हैं, क्योंकि गुणों के सम्पर्क से गुण तथा दोष के सम्पर्क से दोष उत्पन्न होते हैं। श्रुतज्ञानी को भी विकल्प वाला कहा है। विकल्प का ज्ञान नय है, यह नय एक अंश का ज्ञान कराता है और अंश का ज्ञान हमारे लिए संदेह उत्पन्न कर सकता है। यदि अंशी का ज्ञान करना चाहते हो तो मन को बाँधकर रखो। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक वैमनस्क नहीं होता है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय का भी अकेला वैमनस्क नहीं होता, साथ मिलने पर अपने अनुकूल नहीं मिला तो हो गया वैमनस्क। चिता और चिन्ता में अन्तर है। चिता शव को जलाती है, निर्जीव को जलाती है और चिन्ता सजीव को जलाती है और यह चिन्ता वर्तमान में होते हुए भी अतीत अनागत को लेकर ही होती है। संज्ञी से असंज्ञी ज्यादा हैं और क्रम-क्रम से चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, एकेन्द्रिय अधिक-अधिक हैं।

मार्गणा व गुणस्थान की अपेक्षा जीव के भेद

मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

अर्थ—संसारी जीव अशुद्धनय से चौदह मार्गणा स्थानों व चौदह गुणस्थानों के भेद से १४-१४ प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं।

तथा मार्गणाओं में चौदह गुणस्थानों में मिलते हैं।
अशुद्ध-नय से प्राणी-भव में युगों-युगों से फिरते हैं॥
किन्तु सिद्ध-सम विशुद्ध-तम हैं सभी जीव ये अविकारी।
विशुद्धनय का विषय यही है विषय-त्याग दे अघकारी ॥१३॥

व्याख्या—एक ही लड़का स्कूल जाता है तब विद्यार्थी, परीक्षा देता है तब परीक्षार्थी, घर में आता है तो घर का सदस्य रूप स्वीकारा जाता है। उसी प्रकार जीव के साथ जब अशुद्ध निश्चयनय

की विवक्षा होती है तो मार्गणा या गुणस्थान में स्थित कहलाता है और शुद्धनय से शुद्ध जीव कहा जाता है। जब सामान्य गुण की मुख्यता रहती है तब विशेष गुण गौण हो जाते हैं। संसारी दशा में एकेन्द्रिय से १२ वें गुणस्थान तक अशुद्ध कहा जाता है। एक व्यक्ति अपेक्षा, दूसरा शक्ति अपेक्षा से कथन है। अब इसमें कौन अच्छा, कौन बुरा ? भोजन कौन–सा अच्छा, कौन–सा बुरा यह मोह के कारण विभाजन होता है। विश्व के किसी भी कोने में चले जाओ यदि दृष्टि में शुद्धता है तो वह कहीं भी किसी को अशुद्ध या बुरी दृष्टि से नहीं देखेगा। **जब दृष्टि में श्रद्धा आ जाती है तो एक छोटे क्षुद्र जीव में भी केवलज्ञान दिखने लगता है। पर यदि आपकी दृष्टि में अशुद्धता है तो आपको हर जगह अशुद्धता नजर आयेगी और यदि आपकी दृष्टि में शुद्धता है तो अशुद्धता में भी शुद्धता नजर आयेगी।** दृष्टि का फेर है। ''**एयत्त णिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे**'' संसारी जीव को अपनी हर चीज अच्छी लगती है और पराये की अच्छी भी चीज बुरी ही लगती है सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में वीतरागता आ जाती है तो अच्छी बुरी कोई वस्तु नहीं होती है, उसे वस्तु जैसी की तैसी नजर आती है। जिस प्रकार स्वर्णकार के सामने स्वर्ण पाषाण आते ही उसकी दृष्टि में पाषाण समाप्त हो जाता है और स्वर्ण सामने आ जाता है। बस उसी प्रकार की दृष्टि प्राप्त करना है, फिर हेय को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने में परेशानी नहीं होगी। जिसको अपने आत्म तत्त्व की पहचान हो जाए तो समझो उसको सब कुछ मिल गया। मार्गणा और गुणस्थान ये पौद्गलिक परिणतियाँ नहीं हैं, किन्तु मार्गणा और गुणस्थान रूप परिणति आत्मा की विभाव रूप परिणति है, क्योंकि ये आत्मा में पुद्गल के बिना नहीं होती। **करणानुयोग परिणामों को देखने के लिए यन्त्र के समान है।** गति नामकर्म के साथ असिद्धत्व की व्याप्ति है। जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि से सूर्य के दूर रहने पर भी सूर्य की किरणों के संयोग से अग्नि प्रस्फुटित हो जाती है, उसी प्रकार से असिद्धत्व की व्याप्ति हो जाती है। श्रद्धा के माध्यम से चारित्र के क्षेत्र में कदम बढ़ाते हैं। गतिनामकर्म जीव विपाकी है। सभी जीव शक्ति अपेक्षा शुद्ध हैं। जैसे–दूध में घी, काष्ठ में अग्नि है, एक बालक का एडमिशन कराने स्कूल गए पिताजी ने कहा–यह बड़ा होशियार है। इसका एडमिशन कर लो, तो टीचर ने कहा–जब होशियार है तो क्या पढ़ाना ? होशियार का मतलब एक इशारे में समझने वाला है। एक बार समझा दो तो आगे–आगे बढ़ता जाता है, जिस प्रकार किसान के बच्चे को गेंती दिखाने की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार आप लोगों को संकेत देखकर आगे बढ़ना चाहिए। गुणवान को इस प्रकार प्रोत्साहन देना कि वह आगे बढ़े; उसमें मान न बढ़े। कोई भी संसारी ऐसा नहीं जिसमें एक भी गुणस्थान न हो, एक समय में एक ही गुणस्थान होता है और दूसरा गुणस्थान गिरते या उतरते समय ही होता है। जैसे–शिखरजी की यात्रा करते हैं तो गणधर टोंक पहुँच कर जब उतरेंगे तभी लड्डू मिलेगा, चढ़ते समय नहीं। उसी प्रकार दूसरा गुणस्थान उतरते समय ही होता है। प्रथम गुणस्थान में छलांग के क्रम तीन हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि पहले गुणस्थान से ४–५–७ गुणस्थान में जा सकता है। सम्यग्दर्शन

की आसादना करने वाला सासादन गुणस्थान में आता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व काल में मृत्यु नहीं होती है। मिथ्यात्व के उपशम करण में मरण नहीं होता। उपशमना और उपशम में अन्तर है। उपशमना तो करण के समय होती है और उपशम मिथ्यात्व का होता है। आसादना का अर्थ–घात है और उपशम करण मिथ्यात्व का अन्तर्मुहूर्त के लिए होता है। सम्यग्दर्शन को चुराने वाली अनन्तानुबन्धी है। अनन्तानुबन्धी का विस्फोट हुआ कि सम्यग्दर्शन छूटा। मिथ्यात्व का उपशमकरण विद्यमान है और अनन्तानुबन्धी का उदय होने से सासादन गुणस्थान हो जाता है। दूसरे गुणस्थान में ज्ञान–कुज्ञान रहेगा, किसी ने कनक पाषाण को पाषाण ही समझा और सुनार ने देखते ही उसके अन्दर विद्यमान सोने का ज्ञान कर लिया क्योंकि वह सुनार है। स्वर्ण की पहचान नहीं होने से हमें पाषाण नजर आता है। संसार में किसी भी वस्तु का ज्ञान होने पर खरीदने में समय नहीं लगता है। उसी प्रकार **जिसे आत्म तत्त्व की पहचान हो जाती है उसे मुक्ति का पथ कठिन नहीं लगता है।** यह बात अलग है कि किसी को मोक्ष जाने में समय ज्यादा किसी को कम समय लगता है। जैसे–भरतजी को अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान और बाहुबली भगवान् को एक साल में हुआ। भिन्न–भिन्न कर्मों की शक्तियाँ रहती हैं। किसी को स्वर्ण अलग हो जाने पर स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण था इसका ज्ञान होता है, लेकिन दूसरा वह व्यक्ति है, जो स्वर्ण पाषाण को हाथ में लेते ही जान लेता है कि इसमें कितना स्वर्ण है। **''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया''** कुछ क्षण तो शुद्ध को देखने का प्रयास करो।

मिथ्यात्व गुणस्थान–ढूँढ़ने का नाम मार्गणा है। जैसे–कसौटी पर कसकर स्वर्ण की पहचान कर लेते हैं। वैसे सूक्ष्मता से सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि की पहचान नहीं कर सकते। चर्चा अलग वस्तु है और उस रूप चर्या अलग वस्तु है। लौकिक क्षेत्र में भी आप देख लीजिए विश्वास के बिना कोई भी कार्य प्रारम्भ नहीं होता है। जैसे–कोई श्रीफल खरीदने गया ४–५ रुपये मूल्य बताया तो वह व्यक्ति कहता है–३ रुपये में दे दो। खराब है कि अच्छा क्या पता? देखकर ले लो तो वह व्यक्ति उसे हिलाता है, बजाता है, फिर खरीदता है, तब वह दुकानदार कहता है कि–हम तो पूरा बोरा भगवान् भरोसे लेकर आये हैं और तुम एक नारियल खरीदने में ऐसा कर रहे हो। इसी प्रकार पहले विश्वास के साथ ही कार्य प्रारम्भ करना होता है। सब चीजों के SAMPLE नहीं हुआ करते। जैसे–आम, शक्कर आदि खरीदने जाते हैं तो पहले SAMPLE रूप में स्वाद लेते हैं किन्तु जहर खरीदने जाए तो SAMPLE बता दे, ऐसा नहीं कहता है। सायनाइड जहर का स्वाद चखकर नहीं बता सकते, यह भयंकर पदार्थ है, इसको तो देखकर विश्वास करके ही लिया जाता है। जो अनुभूत वस्तु है उसके SAMPLE की आवश्यकता नहीं है। जिन्होंने स्वाद लिया, अनुभव किया वे लौटकर नहीं आये, उसी प्रकार जिन–जिन ने अपनी आत्मा का स्वाद लिया वे पुनः लौटकर नहीं आये श्रद्धान हो गया तो चौथे गुणस्थान तक स्वयं चढ़ गये। **चढ़ने की अपेक्षा सात सीढ़ी हैं और चलने की अपेक्षा सात सीढ़ी हैं, चलने में सहारा दिया जाता है, चढ़ने में सहारा नहीं दिया जा सकता। सात सीढ़ी बाह्य में दिखती हैं**

और सात सीढ़ी आभ्यन्तर में रहती हैं। जैसे–३६५ दिन पढ़ते हैं, उस समय पुस्तक आदि सब साथ रहते हैं, लेकिन जब पेपर देने बैठते हैं तो नोट बुक आदि ले ली जाती है। परीक्षा के समय विश्वास के बल पर काम होता है, रुचि, आस्था, विश्वास न हो तो यह काम नहीं हो सकता आप विश्वास के साथ ही दुकान में पैसा लगा देते हैं, किसान खेत में बीज विश्वास के साथ ही बोता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी तत्त्वार्थ श्रद्धान से होता है।

सासादन गुणस्थान–इस गुणस्थान वाला जीव अधर में है लेकिन बीच अधर में वह लटक नहीं सकता, भटक नहीं सकता वापस नीचे आ ही जायेगा। चौथे गुणस्थान से गिर चुका है तो निश्चित रूप से नीचे ही आयेगा। **आस्था को हिलाने वाली कषाय है**, कषाय में स्थिति, अनुभाग डालने की शक्ति है। इसी प्रकार कषाय का तीव्र उद्रेक व्यक्ति को ऊपर से नीचे पटक देता है। भरत चक्रवर्ती का उदाहरण सामने है, उन्हें यह ज्ञात नहीं रहा कि चक्र अपने वंश पर नहीं चलता है और चक्र को कषाय के उद्रेक में फेंक दिया यह सत्य घटना है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि को मारने के भाव हो सकते हैं क्या? तो उन्हें कौन सा संयम था वह तो असंयमी थे, असंयम गुणस्थान में किसी को भी मारने का भाव कर सकता है। सामने जब सत्ता, हुकूमत आ जाती है तो कुछ नहीं दिखता हुकूमत, आज्ञा और वित्त ये तीन मिल जाए तो मैदान साफ, फिर कुछ नहीं दिखता। छह–छह महीने तक बेहोशी में कंधे पर लेकर घूम रहे हैं। प्रथम सम्यग्दर्शन में अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि का उदय होने से सासादन गुणस्थान हो जाता है। सासादन गुणस्थान में मरण करके नौवें ग्रैवेयक तक जा सकता है। सम्यग्दर्शन छूट गया इसलिए एकेन्द्रिय हो सकता है किन्तु सासादन गुणस्थानवर्ती नरकों में नहीं जाता है, ऊपर जा सकता है एकेन्द्रिय भी हो सकता है। उसके मिथ्यादर्शन का उदय नहीं है, लेकिन अनन्तानुबन्धी का उदय है यह अनन्तानुबन्धी द्विमुखी है, सम्यग्दर्शन व चारित्र दोनों का घात करती है, किसी ने अध्ययन तो किया पर पेपर नहीं दिया इसका क्या कारण है? या तो फेल होने का डर है या सप्लीमेंट्री का डर है या पास के योग्य नम्बर मिले ऐसी उसने तैयारी नहीं की लेकिन उसे एकदम फेल तो नहीं कह सकते, पर उत्तीर्ण भी नहीं कह सकते। प्रथमोपशम और करणोपशम सम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है? करण के साथ किया जाता है वह करणोपशम माना जाता है, करणोपशम में उदय उदीरणा नहीं है। मंगल में दंगल पैदा कर दे, वही अप्रशस्तोपशम है। करण में अनिवृत्तिकरण के समय तीन प्रकृति का उपशम हुआ है। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि जो हैं उनका उपशम नहीं होता है, जब लोकसभा या विधानसभा भंग होती है तो मध्यवर्ती चुनाव होते हैं लेकिन राष्ट्रपति के चुनाव तो पाँच साल में ही होंगे। इसी प्रकार मिथ्यात्व की उदीरणा उपशम काल में नहीं होती जो कि राष्ट्रपति चुनाव के समान है, किन्तु अनन्तानुबन्धी के उपशम होने पर भी उदय–उदीरणा हो जाती है, वह प्रधानमन्त्री के समान है। अनन्तानुबन्धी में जब त्रि और चतु:स्थानीय की उदीरणा हो जाती है तो वह प्रथम गुणस्थान में आ जाता है, इसलिए कहा है–अनन्तानुबन्धी के साथ अन्य कषायें भी काम कर जाती हैं। जैसे–रावण

जब तक है, तब तक सेना लड़ती है, उसके गिरते या मरते ही सेना सामने वाले को अपना राजा मान लेती है। मिथ्यात्व ऐसा कटुक पदार्थ है जिसके ऊपर सम्यक् रूपी मिठास का घन पटकने से तीन टुकड़े रूप हो जाता है।

तृतीय गुणस्थान—सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति यह सर्वघाति है इसके उदय में सम्यक् प्रकृति का एक अंश भी प्रकट नहीं हो सकता। दही–गुड़ के मिश्रण के समान या खिचड़ी के स्वाद के समान इसकी दशा है। तीसरे गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्व को लेकर नहीं जाता। तीसरे गुणस्थान में क्षयोपशमिक भाव है। इस गुणस्थान में औदयिक भाव इसलिए नहीं कहा क्योंकि मिथ्यात्व का अभी उदय आया नहीं है, और अनन्तानुबन्धी का भी उदय नहीं है, इस अपेक्षा से क्षयोपशमिक भाव कहा है, यहाँ जात्यन्तर सर्वघाति मिश्र प्रकृति होने से तीसरे गुणस्थान में मिश्र परिणाम होते हैं। जैसे—रोग और दवाई का निर्णय होने के उपरान्त भी शरीर की शक्ति और सामर्थ्य देखी जाती है अन्यथा वह दवाई भी विपरीत प्रभाव डाल सकती है।

निगोद से निकलकर निसर्गज सम्यग्दर्शन हो सकता है, इसमें कोई बाधा नहीं है। मिश्र की संज्ञा दो गुणस्थान को प्राप्त है, तृतीय और पञ्चम गुणस्थान, पञ्चम गुणस्थान में संयम और असंयम दोनों दशाएँ बनती हैं तथा तीसरे में सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन ये दो दशायें बनती हैं।

शंका—क्या सम्यक्मिथ्यादृष्टि वैनयिक और संशय मिथ्यादृष्टि जैसा ही नहीं है?

समाधान—नहीं। वैनयिक और संशय में कोई निर्णय नहीं है इसलिए मिथ्यादृष्टि है और यह सम्यक् और मिथ्यात्व का मिश्रण होने से मिश्र कहा है, इसे जात्यन्तर सर्वघाति भी कहा है। आचार्यों ने कर्मों की उदीरणा के लिए नोकर्म की व्यवस्था बतायी है। कर्म सिद्धान्त में एक–एक बात के लिए उत्तर दिया गया है, इसमें जो होना था सो हो गया ऐसा उत्तर नहीं चलता। भावों में निमित्त अपेक्षा लहर आयी, भले आपकी दृष्टि में नहीं आयी, किन्तु उस कर्म के योग्य नोकर्म वहाँ हैं, तभी तो उदीरणा हो गई, नोकर्म के कारण कर्म फलीभूत हो जाते हैं, यह कर्म सिद्धान्त है। नोकर्म की व्यवस्था मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी दोनों की एक है। द्विस्थान वाला ही सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान वाला होगा, द्वितीय गुणस्थान से अष्टम गुणस्थान के अन्तिम तक द्विस्थानीय ही उदय रहेगा। गोम्मटसार में नेमिचन्द्राचार्य ने तृतीय गुणस्थान में अवधिदर्शन माना है, किन्तु श्री धवलाकार ने नहीं माना है। इस व्यवहार के रहस्य को आज तक सही दृष्टि से परखने का प्रयास नहीं किया, जो व्यवहार पहले होता है वह साधन रूप होता है, लेकिन जिसके द्वारा भूतार्थ प्राप्त नहीं होता, वह अभूतार्थ व्यवहार है।

चतुर्थ गुणस्थान—जहाँ अपनत्व आया वहाँ सम्यक् प्रकृति की उदीरणा हो जाती है। जैसे—मेरे भगवान्, मेरे महाराज, मेरा समयसार आदि। **कर्म के उदय से आत्मा में भाव होते हैं कर्म में भाव नहीं होते हैं।** निश्चय साध्य तथा व्यवहार साधन है, मंजिल की छत साध्य है, सीढ़ियाँ व्यवहार हैं, साधन हैं। पूर्वोत्तर क्षणवर्ती पर्याय में कार्य–कारण भाव, साध्य–साधन भाव घटित होता है। व्यवहार

एक वह है जो पराश्रित होता है उसे अभूतार्थ कहा है। जैसे–दही से नवनीत को प्राप्त करना है तो नवनीत रूप कार्य के लिए मटकी, मथानी, रस्सी आदि भी कारण हैं, पर इसमें नवनीत नहीं होता। दही से नवनीत प्राप्त होता है, मंथन क्रिया दही की हुई लेकिन मटकी, मथानी, रस्सी आदि के द्वारा हुई।''**हेतु नियत को होई**'' मोक्षमार्ग निश्चय व्यवहार की अपेक्षा से दो प्रकार का है। जेल में कितना भी प्रबन्ध हो या खुली जेल हो तो भी उस जेल में कोई जाना पसन्द नहीं करता है। कुछ मन्त्री या विशेष व्यक्तियों के लिए विशेष प्रबन्ध होता है। स्वर्ग भी एक तरह से संसार की जेल है। नीचे भी जेल है सागरोपम की। यहाँ की जेल में तो कुछ छुट्टी भी मिल सकती है लेकिन नरकों की जेल से छुट्टी भी नहीं मिलती वहाँ सूचीभेद्य अन्धकार होता है, फिर भी आप वहाँ पर कहीं छिप नहीं सकते। क्षमा और दण्ड में अन्तर भी तो है। वहाँ किसी की सल्लेखना समाधि नहीं होती, यहाँ तो एक दूसरे को सुनाकर दुख का भार कम कर लेते हैं लेकिन उस देश (नरक) की ऐसी प्रथा है कि वहाँ मित्रता ही नहीं होती है, वहाँ हास्य कर्म की उदीरणा (एक मुस्कान) तक नहीं होती वहाँ इतनी उष्णता है कि छाया की माँग तो करता है किन्तु छाया मिलती नहीं है, दण्ड देने के लिए पुलिस जैसे चोर को पकड़कर ले जाती है, लेकिन वह चोर जाना नहीं चाहता है, वैसे ही आत्मा की निन्दा, गर्हा करता हुआ पञ्चेन्द्रिय विषय सुख को भोगता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

पाँचवाँ गुणस्थान–पहली प्रतिमा में भी पञ्चम गुणस्थानवर्ती होता है ऐसा कुछ आचार्यों का उल्लेख है, क्योंकि पहली प्रतिमा में भी पाँच पापों का एकदेश त्याग करके पञ्चाणुव्रत ग्रहण करते हैं तथा अणुव्रत की निर्दोषता के लिए सात शीलों को कहा है आज सप्त व्यसन आदि के त्याग की बात तो करते हैं, किन्तु पाँच अणुव्रत की बात तो करते ही नहीं हैं। अन्य ग्रन्थों में पहली प्रतिमा वाले को नैष्ठिक श्रावक कहा है। आज तो सिर्फ चर्चा तक ही सम्यग्दर्शन सीमित हो गया किन्तु सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त चारित्र की ओर न बढ़ने से जीवन नीरस–सा लगता है, चारित्र के बिना रस नहीं आता। तीर्थंकर आदि महापुरुष आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के होते ही देशसंयमवत् पालन करते हैं, ऐसी वृत्ति अपने आप बन जाती है। भूमि रेखा के समान कषाय होने से शुभ लेश्या होती है। पञ्चम गुणस्थानवर्ती के देशघाति स्पर्धक का उदय होता है, ज्यों ही पञ्चम गुणस्थान होता है, त्यों ही संज्वलन के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय नहीं होता है।

सर्वघाति और देशघाति प्रकृति में अन्तर होता है। जैसे–दूध को तपाया गया तो उसमें जो स्निग्ध कण थे, वे मलाई रूप हो जाते हैं लेकिन जिसका लीवर कमजोर होता है, उसे मलाई नहीं दी जाती है, उसे एक अंगुली से मलाई रोककर दूध दिया जाता है, मलाई दूध का अंश होते हुए भी सर्वघाति स्पर्धक रूप है और मलाई रहित दूध जो अंगुली लगाकर दिया जाता है, वह देशघाति स्पर्धक जैसा है। अब उदयावली में मलाई है और वह असावधानी से चली जाए तो गड़बड़ हो सकता है इसलिए सावधानी रखी जाती है कि मलाई का कण न चला जाए यह है सद्वस्था रूप उपशम। जब

तक वह गुणस्थान है तब तक यह व्यवस्था रहती है, यह कर्म की व्यवस्था नहीं, उपयोग की एकाग्रता की विशेषता है। बुद्धिपूर्वक संकल्प ले लेने पर सोते समय भी असावधानी नहीं हो सकती, मुनिराज की सोते समय भी असावधानी नहीं रहती है। कषाय जब उदय उदयावली में हो तो अप्रमत्त होकर सावधानीपूर्वक एक-एक पग रखेगा तब बच पायेगा। नहीं तो ''**काजल की कोठरी में कैसो भी सयानो जाए....।**'' असावधानी होते ही कर्म बन्ध से बच नहीं सकते। संयमी अपने संकल्प को थोड़ा भी कमजोर नहीं करना चाहता, यदि संयमी अपने से कमजोर असंयमी व्यक्ति के पास जायेगा तो गड़बड़ हो सकता है। संयम लेने के बाद अपने परिणामों को जो नहीं सँभालता वह स्वयं तो गिरा ही है और जो उनके पास जायेगा उसे भी गिरायेगा। जिसके अंदर वैराग्य की छटा है वह लौकिक सम्पर्क से बचकर संयमासंयम या संयम को सुरक्षित रख सकता है। सबके देशघाति स्पर्धक एक से हों ऐसा नहीं। देशघाति स्पर्धकों की तारतम्यता के कारण परिणाम ऊपर नीचे होते रहते हैं। यदि एक अंश भी सर्वघाति का उदय में आ गया तो संयम नहीं रहेगा। पाँचवें गुणस्थान में पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा वाले के भिन्न-भिन्न भावों से असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। दोनों की एक समान प्रतिमा है लेकिन एक उत्कृष्टता से और एक जघन्य रूप से पालन कर रहा है, एक निर्दोष व्रतों का पालन कर रहा है, विशुद्धि के साथ क्रिया कर रहा है और दूसरा वह व्यक्ति है, जो खाना पूर्ति कर रहा है तो इन दोनों की निर्जरा में भी अन्तर है। परिणामों की परिगणना हम कर नहीं सकते हैं, जिस प्रकार कक्षा और विषय एक होते हुए भी प्रत्येक विद्यार्थी अपने भिन्न-भिन्न नम्बरों से निकल रहे हैं। व्रतों के पालने में अनादर अनुत्साह नहीं होना चाहिए। अपने योग्य व्रतों के पालने में ही संतुष्ट नहीं होना चाहिए यह व्रत भगवान् की वाणी है, जिनवाणी का आदर करना है उनकी आज्ञा है, यह सोचकर उत्साह हमेशा बढ़ाना चाहिए। जो व्यक्ति आगे बढ़ना चाहता है, उसी का उत्साह वृद्धिंगत रहता है। जो संयम पालन नहीं करना चाहते वे, जो संयम पालन कर रहे हैं उनके लिए बाधक न बनें। कर्म का क्षयोपशम होने पर गुणस्थान परिवर्तित नहीं होता किन्तु उसके लिए पुरुषार्थ भी करना पड़ता है, आज कुछ लोग कहते हैं कि इतनी ही प्रतिमा पल सकती है, इसके आगे नहीं तो इस प्रकार की धारणा बनाने से जो व्यक्ति आगे बढ़ना चाहते हैं, वे रुक जाते हैं, इसलिए चारित्र के मार्ग में कभी बाधक नहीं बनना चाहिए।

असंख्यात तिर्यञ्च एक साथ सम्यग्दर्शन सहित पञ्चम गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। ''**राग-द्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु**'' राग-द्वेष जाता है तो संयम आ जाता है और संयम आते ही असंयम चला जाता है। ''**अनपेक्षितार्थ वृत्तिः**'' कहा है। संयमासंयम और संयम को आज औदयिक भाव कह करके ''**ओदइया बंधयरा**'' ऐसे प्रवचन किये जा रहे हैं और इसे सुनकर कई लोगों ने प्रतिमाएँ लेकर छोड़ दीं, यह ठीक नहीं है। इस प्रकार की बातें कहने वाले शास्त्र नहीं हैं। संयमासंयम को क्षयोपशम भाव कहा है, इसके द्वारा असंख्यातगुणी निर्जरा होती है तो क्या वह

औदयिक के कारण होती है? नहीं, इस प्रकार की बातें कह करके धर्म एवं शास्त्र का अवर्णवाद कर रहे हैं जो कि ठीक नहीं है। फिर तो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन भी औदयिक भाव होना चाहिए क्योंकि सम्यक् प्रकृति का उदय है। संयमासंयम से संवर और निर्जरा नहीं होती, ऐसे जो कहते हैं, उन्हें श्री धवला में वीरसेनस्वामी ने कहा–प्रत्याख्यान का देशसंयम के क्षेत्र में कोई हाथ नहीं है, वह सकल संयम की घातक है। संयमासंयम को इसलिए क्षयोपशम भाव में लिया है। क्षयोपशम भाव में देशघाति स्पर्धकों का उदय नियम से होता है। प्रत्याख्यानावरण के उदय से देशसंयमी को औदयिक भाव नहीं होता, किन्तु क्षयोपशमिक भाव होता है, उससे संवर–निर्जरा भी होती है। जैसे–एक सिंह है, उसने व्रत ले लिया। अब हरी घास पत्ती नहीं खाता है, सूखी पत्ती को खाता है तो परिवार के जीवों को भी चिन्ता हो जाती है, वे उसे सूखे पत्ते व घास दिखाते हैं तो वह खाने लग जाता है। इससे ज्ञात होता है कि तिर्यञ्च भी इस प्रकार से अपने व्रतों का पालन दृढ़ता से करते हैं तो यह भीतरी परिणामों का वैचित्र्य है। इसलिए जानबूझ करके आगम के विरुद्ध कहना यह समाज के लिए अभिशाप है। **जहाँ संयम और संयमी के प्रति बहुमान नहीं है, ऐसे ग्रन्थों को जीवन भर भी पढ़ें तो भी पुण्य बन्ध तो हो सकता है किन्तु असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा नहीं होगी।** एक अविरत क्षायिक सम्यग्दृष्टि से पञ्चम गुणस्थानवर्ती के देशसंयम के संकल्प से असंख्यातगुणी कर्म की निर्जरा शास्त्र में बताई है। एक पशु सूखे घास पत्ते खाते हुए भी असंख्यात गुणी अधिक कर्म की निर्जरा कर रहा है और एक असंयमी सामायिक, पूजा आदि करते हुए भी निर्जरा नहीं कर पाता है। **वीरसेनाचार्य** ने लिखा है–यदि णमोकार मन्त्र कोई बोलता है तो **''संपहियबंधादो असंखेज्जगुण-णिज्जरा णमोक्कारो''**(श्री धवला) कहा है तो स्वाध्याय करना अच्छा है, पर कैसा स्वाध्याय करना यह भी सीख लेना चाहिए। यदि विपरीत स्वाध्याय जिन्दगी भर भी करेंगे तो गुणस्थान आगे बढ़ने वाला ही नहीं है। आचार्यों ने कहा है कि–जिस व्यक्ति को परिग्रह के प्रति निस्पृहता है, वही आरम्भ त्याग कर सकता है, आरम्भ त्याग प्रतिमा वाला उसके पास जो वित्त है, उसी का उपयोग करेगा, अब आय नहीं करेगा। यदि ब्याज लेकर किसी को देते हैं तो वह ठीक नहीं है। उसकी वह प्रतिमा खण्डित कहलायेगी, क्योंकि जिस धन को दिया वह व्यक्ति मुर्गीपालन, मत्स्यपालन आदि रूप पाप के कार्यों में उपयोग कर सकता है जो ठीक नहीं है। एक से ग्यारह प्रतिमा का जितनी शुद्ध दृष्टि से निरतिचार पालन करता है, उतनी ही कर्म निर्जरा करता है जैसे–प्रतिमा (मूर्ति) से आत्मा का ज्ञान होता है। इस प्रकार दोनों प्रकार की प्रतिमाओं का बहुत महत्त्व है। परिचित व्यक्ति से सम्बन्ध छुड़ाने का प्रयास करते हैं, क्योंकि वह चित्त में बैठ जायेगा तो चित्त सो जायेगा। राजा और मुनिराज कभी चित्त होकर नहीं सोते, करवट से सोते हैं क्योंकि जो चित्त सोता है, वह उठ ही नहीं सकता। इसलिए सज्जनों को चित्त सोने को नहीं कहा सावधान रहिए। चित्त सोने वाले अपनी रक्षा नहीं कर सकते।

अनन्तानुबन्धी कषाय–पाषाण रेखा के समान, अप्रत्याख्यान कषाय भूमि रेखावत्, प्रत्याख्यान
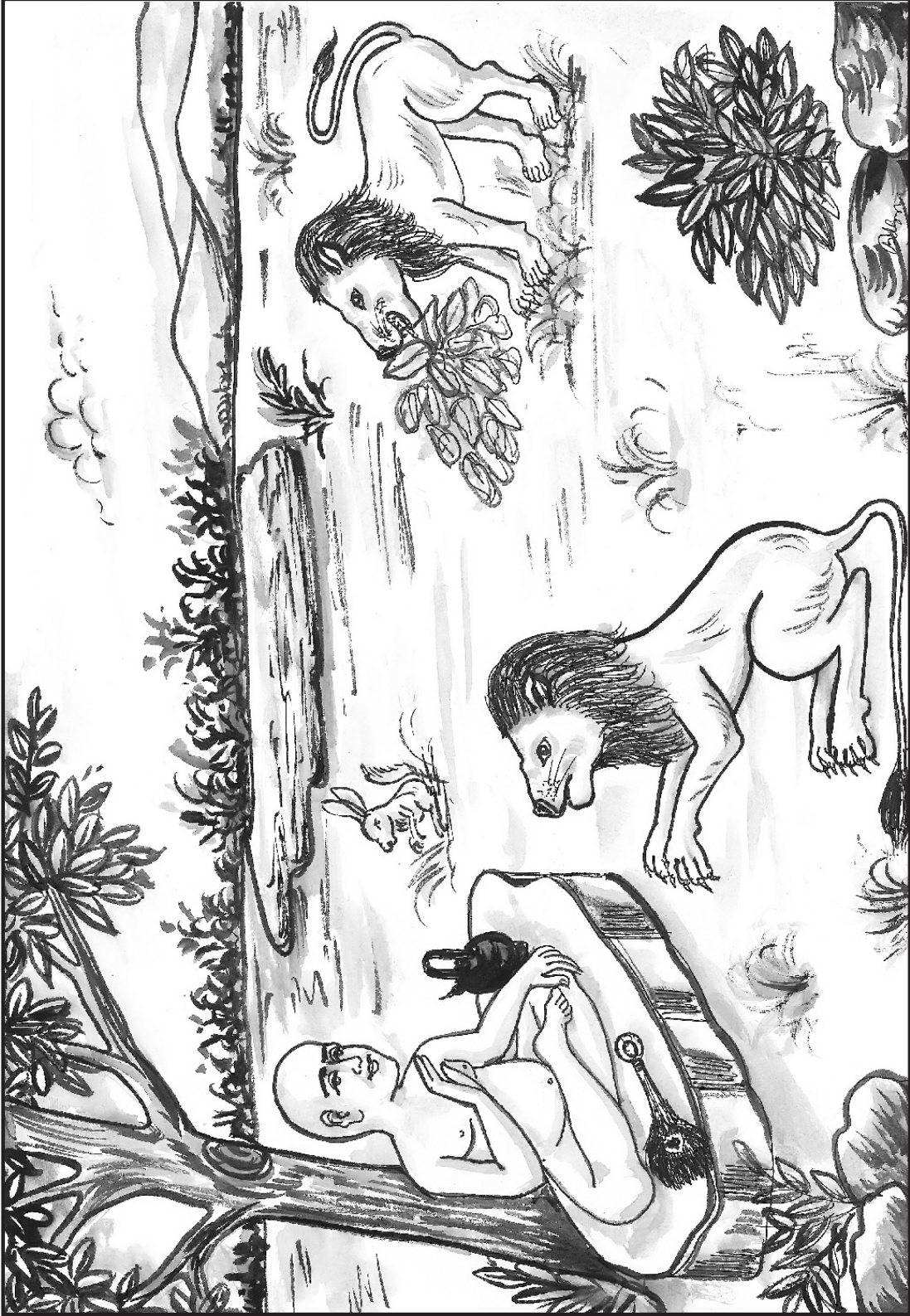
मुनिराज से सिंह ने पंचम गुणस्थान के व्रत लिए।

कषाय–धूली रेखावत्, संज्वलन कषाय–जल रेखावत् है। मुनि होने के लिए तीन रेखाओं को पार करना पड़ता है सिर्फ जल रेखा बचती है। जो आगे–आगे बढ़ते जाते हैं, उनकी ये रेखाएँ पीछे–पीछे छूटती हैं। मुनि बनने में ग्रहण नहीं हिंसादि पाँच पापों का त्याग होता है। जो ग्रहण लगा था, उसको छोड़ते हैं।

छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान–असंयमी इस शरीर के कारण पाँच पापों को कर लेता है। सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त भी दूसरों को पीड़ित करके अपने रक्षा के भाव कर सकता है। देखो कैसी विचित्र बात है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि भरतजी अपने भाई बाहुबली पर चक्र चलाते हैं, उस समय वह कैसे भूल गए कि वंश पर चक्र का प्रभाव नहीं पड़ता। माता–पिता ९६,००० रानियाँ, समवसरण आदि कुछ भी नहीं दिख रहा है अवधिज्ञान का उपयोग तक भी नहीं किया। असंयम में यह सब घटित हो सकता है। तीन कषाय के अभाव होने पर ऐसे काम नहीं हो सकते लेकिन संज्वलन कषाय का मंदोदय भी यथाख्यात चारित्र नहीं होने देता है। पाँचों पापों को त्यागने का नाम सप्तम गुणस्थान है। **सम्यक्त्वसारशतक** में कहा है–भगवान् को याद करते समय ६ वाँ गुणस्थान और ध्यान के समय ७ वाँ गुणस्थान। भोजन की इच्छा में ६ वाँ और शोधन करते समय ७ वाँ और दोनों के त्याग से ऊपर की अवस्था होती है। जितना घटाते जाओगे उतने ऊपर उठते जाओगे। इसलिए आगम यह कहता है कि–सिद्ध परमेष्ठी को याद करना भी सचित्त परिग्रह है। पहले भोजन सम्बन्धी सचित्त का त्याग किया, अब भजन की बात है। स्व का भजन अचित्त परिग्रह है। स्व का अवलम्बन करने में ही हित है सिद्ध और अरिहंत का आलम्बन लेते हैं तो ये भी पर हैं। मुनिराजों ने गुफाओं में बैठकर इन ग्रन्थों का रहस्य लिखा है जो केवलज्ञान का सम्पादक है।

आज के विषम वातावरण में भी जो कषायों को घटा रहे हैं तथा विशुद्धि की ओर जिसका उपयोग है, वे धन्य हैं। **उपयोग को सँभालना ही सबसे बड़ी साधना है।** संवर–निर्जरा के लिए सजग रहना चाहिए। सामायिक के समय उन्हीं केवली, ऋद्धिधारी आदि को याद करके बैठें ताकि वैसे बन सकें। **योगी नहीं बन सकते तो योगी भक्ति तो पढ़ो।**

प्रत्याख्यान चतुष्क का जब अनुदय होता है, तब महाव्रत को धारण करते हैं। प्रमाद के कारण छट्ठा गुणस्थान नष्ट तो नहीं होता, किन्तु प्रमाद रहता है, जो शोभा नहीं देता है। जिस प्रकार व्यक्ति को जम्हाई आना शोभास्पद नहीं है, उसी प्रकार मुनि दशा में प्रमाद भी शोभास्पद नहीं है पर इससे तीर्थंकर भी नहीं बच पाते। शुद्धात्मा से विचलित करने वाला भीतरी प्रमाद है। मूलगुण व उत्तरगुण से विचलित करने वाला बाहरी प्रमाद माना जाता है। बाहुबली महाराज को भीतरी प्रमाद विचलित करता रहा है। मुनिराज द्वारा आशीर्वाद देना आप लोगों को अच्छा लगता है किन्तु वह भी प्रमाद रागमूलक होता है। चर्चा में घंटों समय निकल जाए तो यह अध्यात्म नहीं, प्रमाद माना जाता है। इसका अर्थ अभीक्ष्ण–ज्ञानोपयोग नहीं है। आज इसकी होड़ लगी है किन्तु अभीक्ष्ण–संवेग बहुत
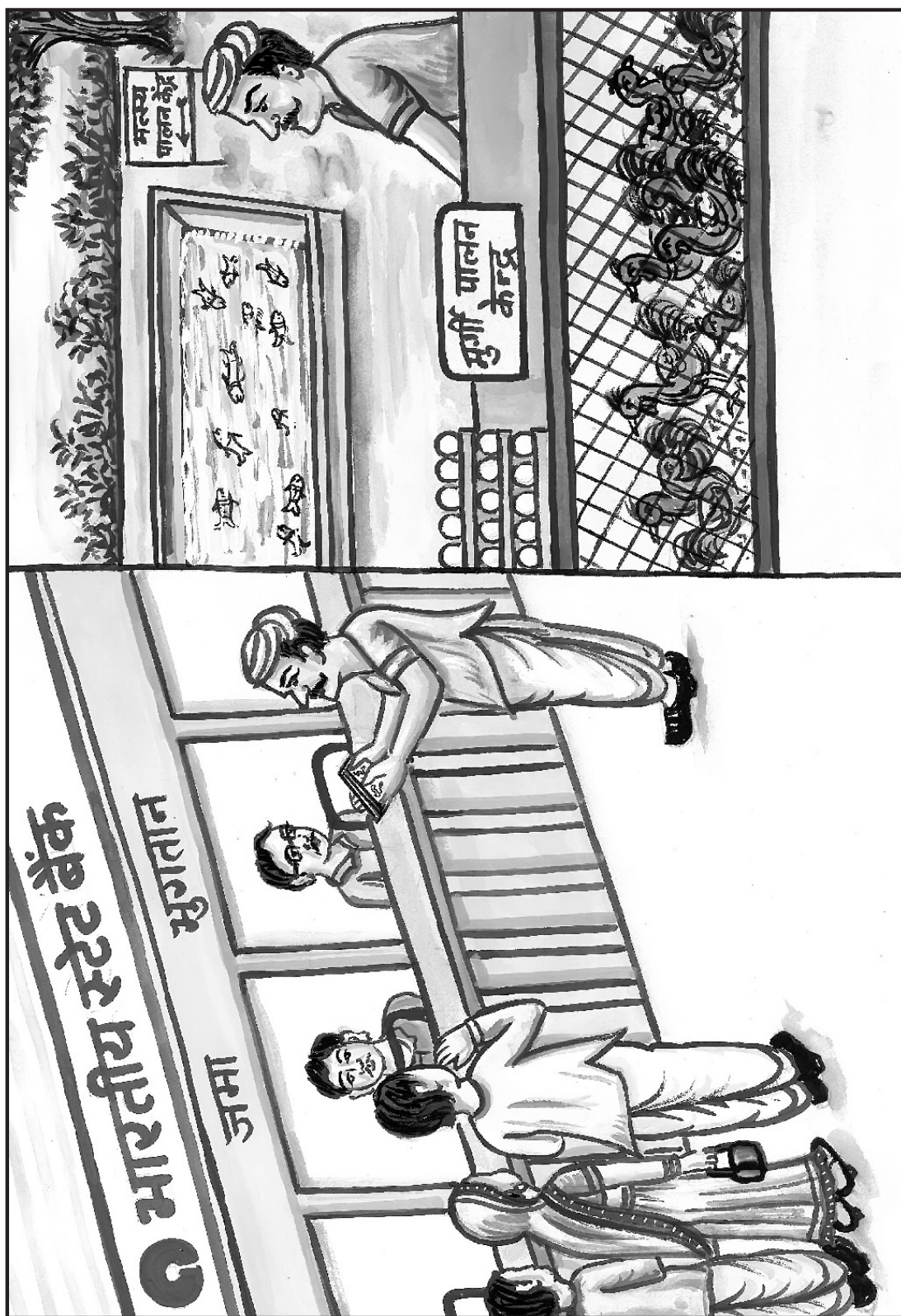
बैंक से कर्ज लेकर मुर्गी पालन एवं मत्स्यपालन केन्द्र खोलकर घोर हिंसा करता है,
इसका पाप बैंक में रुपये जमा करने वाले व्यक्ति को भी लगेगा।

दुर्लभ है। **अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग के लिए तो अलमारी भरी पड़ी हैं किन्तु अभीक्ष्ण-संवेग के लिए आज एक खिड़की भी नहीं है,** पर यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। आत्मानुभूति को छुड़ाने वाला प्रमाद है।

परिग्रह रहित होने के उपरान्त भी ये पन्द्रह प्रमाद आ धमकते हैं। कभी-कभी ये आर्तध्यान का रूप ले लेते हैं, किन्तु तीर्थंकरों में यह देखने में नहीं आता। सिद्धान्त में इसे प्रमाद कहते हैं, जिसे आप लोग बावला कहते हो। जैसे-बच्चों का पालना होता है, उसी प्रकार मुनि वृषभनाथ एक हजार वर्ष तक छठवें, सातवें गुणस्थानरूपी पालने में झूलते रहे। यह अभूतपूर्व और अनिवार्य घटना है, फिर बाद में श्रेणी पर चढ़ने के लिए गति होती है।

आत्मा की बात बार-बार करते रहना चाहिए, तभी अप्रमत्त दशा को प्राप्त कर सकते हैं। अप्रमत्त दशा में ध्यान हो ही ऐसा नहीं है लेकिन ध्यान के समय वह अप्रमत्त ही रहेगा। पढ़ते समय भी प्रमत्त-अप्रमत्त होते रहते हैं और यदि परिग्रह को रख लिया तो समझो छठवें-सातवें दोनों से चला गया। **जिसने ब्रह्मचर्य व्रत को धारण कर लिया किन्तु धन संग्रह करना नहीं छोड़ा तो वह मुर्दे को सजाने के बराबर है। इसको पण्डित आशाधरजी ने भूत कहा है।** मोह माया का रिश्ता बहुत बड़ा है, यह छूटता नहीं है अभी तो बच्चा गर्भ में है, पर उसके नाम से भी जमा कर दिया जाता है। इस संग्रह परिग्रह के कारण व्यक्ति पागल बन जाता है। जो घर बसाता है उसमें बहुत मेहनत करनी पड़ती है, अपनी एक चीज भी बाहर न जाए और दूसरे की वस्तु आ जाए तो उसे वह रख लेता है, दूसरे की वस्तु बहुत अच्छी लगती है। इस प्रकार परिग्रह का सञ्चय करता रहता है। कर्म चिपकने के लिए स्निग्धता चाहिए, हमारे भगवान् धन से चार अंगुल ऊपर रहते हैं, उसको छूते तक नहीं और आप लोग चार अंगुल और ऊपर तक रख लेते हैं। आज धन ऊपर और आत्मा नीचे दब रहा है। जैनों के मुनि आकिञ्चन्य होते हैं, इसी को अप्रमत्त दशा कहते हैं। श्रमण की वृत्ति जल रेखा के समान होती है, रत्नत्रय रहेगा तो अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा प्रमाद में रह नहीं सकता, पुनः वह अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त निज घर में आ जाता है यही मुनि की दशा है। दीक्षा लेने के उपरान्त ही अन्तराय का कार्यक्रम प्रारम्भ होता है, **आहार के समय इष्टोपदेश याद आना चाहिए कि यह आत्मा खाते हुए भी नहीं खा रहा है।** इस प्रकार मुनिराज आहार लेते हुए भी असंख्यातगुणी कर्म की निर्जरा कर रहे हैं किन्तु दाता आहार देते हुए भी उतनी निर्जरा नहीं कर पाते। सभी बातों का कथन नहीं किया जा सकता। यदि स्वप्न में भी रात्रि भोजन कर लेते हैं तो तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग कर लेते हैं।

आठवाँ नवमाँ गुणस्थान—अपूर्वकरण के पहले द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन होता है और क्षपक श्रेणी वाले के क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है, ९ वें गुणस्थान में मोह सम्बन्धी परिणाम सदृश्य ही होते हैं। ११ वें गुणस्थानवर्ती से ८ वें या ९ वें गुणस्थानवर्ती क्षपक श्रेणी वाले मुनिराज की विशुद्धि अधिक पायी जाती है। यह चढ़ते समय के परिणामों की बात है ऐसा वीरसेनस्वामी ने कहा है। यथाख्यात

चारित्र से ज्यादा क्षयोपशमिक चारित्र–सामायिक छेदोपस्थापना वाले के असंख्यात गुणी निर्जरा है, क्योंकि एक क्षपक है और दूसरा ११ वें गुणस्थान वाला उपशामक है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन व्यक्ति हैं। प्रथम–उपशम सम्यक्त्व के लिए अपूर्वकरण करने वाला। द्वितीय–संयमासंयम को प्राप्त करने वाला। तृतीय–संयम को प्राप्त करने वाला। अतः मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले १ से ४, १ से ५, १ से ७ में जो जा रहे हैं तीनों का अपूर्वकरण है, किन्तु "**जात्यन्तर अपूर्वकरणत्वाद्**" कार्य भेद से कारण भेद होता है। १ से ७ वें में जो जा रहे हैं, उनके अपूर्वकरण में सबसे ज्यादा विशुद्धि है, ये परिणाम मति–श्रुतज्ञान के विषय नहीं है, यह केवलज्ञान का विषय है। अनन्तानुबन्धी चार और दर्शनमोहनीय की तीन इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम अविरत दशा में भी कर लेता है पर २१ प्रकृतियों का उपशम या क्षय महाव्रत बिना सम्भव नहीं है और इस काल में भी सम्भव नहीं। क्षपक श्रेणी तो तद्भव मोक्षगामी ही चढ़ते हैं। मिथ्यात्व के नाश के लिए जितनी विशुद्धि की आवश्यकता है उससे अप्रत्याख्यान के नाश के लिए और अधिक विशुद्धि चाहिए। जबकि अनुभाग मिथ्यात्व का ज्यादा था अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना सप्तम नरक में भी की जा सकती है। बात ऐसी है कि बड़ी घड़ी बनाने की अपेक्षा छोटी घड़ी बनाने में मेहनत ज्यादा है। चार प्रकार की गाँठ लगाना क्रमशः–मोटी रस्सी, पतली रस्सी, पेरासूट का धागा और बाल में गाँठ लगाना उत्तरोत्तर कठिन है इसी प्रकार कषायों का उपशम या क्षय करना कठिन है। इसका अनुभाग तो क्रम से कम–कम है लेकिन प्रकृति जो पड़ी है, वह अदृश्य है, पकड़ में नहीं आती है। ये प्रकृतियाँ बड़ी विचित्र हैं। कोई छोटा–बड़ा नहीं होता भूमिका की अपेक्षा इनका विनाश किया जाता है। उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तीन करण के माध्यम से पुनः वह अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करता है ऐसा श्रीजयधवल की टीका में कहा है। ९ वें गुणस्थान में परिणाम तो सदृश होते हैं किन्तु उपयोग सदृश नहीं। परिणाम सदृश होने पर ज्ञान भी सदृश हो ऐसा नहीं है। ९ वें गुणस्थान में किसी के पास जघन्य श्रुतज्ञान तो किसी को पूर्व का ज्ञान हो सकता है, अतः परिणाम की सादृश्यता से ज्ञान सदृश नहीं लेना। समान रूप से कर्मों की निर्जरा जिन परिणामों से हो रही है, वह सदृशता है। जैसे–एक उपशम कर रहा है वह श्रुतकेवली है और एक क्षपक श्रेणी चढ़ रहा है किन्तु मात्र अष्ट प्रवचन मातृका का ज्ञानी है। फिर भी निर्जरा अधिक है अतः ज्ञान के द्वारा कर्म निर्जरा अधिक होती है यह बात इसके माध्यम से खण्डित होती है। दोनों ९ वें गुणस्थान में हैं, इनमें किसी को चक्षु दर्शनोपयोग है किसी को अचक्षु दर्शनोपयोग है, इस प्रकार भिन्न–भिन्न कथन आचार्यों के मिलते हैं। एक आचार्य १० वें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान मानते हैं क्योंकि कषाय के अभाव में ही शुक्लध्यान होता है। यथाख्यात के साथ शुक्लध्यान व निर्विकल्प समाधि का अन्वय मानते हैं और दूसरे आचार्य ८ वें गुणस्थान से शुक्लध्यान मानते हैं। **आज लोगों के मत विशाल है और मन संकीर्ण है।** पहले के आचार्यों में मतैक्य न होकर भी मन विशाल थे। शुक्लध्यान के अधिकारी श्रुतकेवली पूर्वविद होते हैं उनके सम्यग्दर्शन का

अभाव नहीं होता और दूसरा मत यह मिलता है कि वह नरक-निगोद तक चले जाते हैं। यह दो मत प्राप्त हैं। भगवान् महावीर का जीव मारीचि बनने के भी अनेक भव धारण करता है, इससे यह ज्ञात होता है कि मोह से आत्मा की कितनी दुर्दशा होती है। मोह को दबाकर यथाख्यात चारित्र प्राप्त कर वीतरागी बनने के उपरान्त भी मोह का सत्त्व रहता है तो नरक निगोद तक भी यात्रा हो सकती है। कषाय को अल्प समझ कर मत बैठिए, उसे समाप्त करना चाहिए। ऋण, वृण, अग्नि की चिंगारी और कषाय को अल्प समझ कर प्रमाद नहीं करना। दो-दो बार एक जीवन में उपशम श्रेणी चढ़कर भी यह गति हो सकती है। यह सब मोह के कारण दशा हो रही है। शरीर जब काम नहीं करता तो कहते हैं इसको वेतन (खाना) मत दो। कम खाकर ज्यादा करना या यथायोग्य करना तो ठीक है, लेकिन ज्यादा खाकर काम नहीं करना यह अच्छा नहीं है। मुनिराज आहार क्यों करते हैं? इसके अनेक कारण बताए हैं—धर्म्यध्यान के लिए, कर्म निर्जरा के लिए, तपादि के लिए, वैय्यावृत्ति के लिए आदि-आदि। धर्म्यध्यान के लिए शरीर का विमोचन "**धर्मायतनुविमोचन**" करना पड़े तो कर दीजिए। आचार्यों ने सल्लेखना का अर्थ काय तथा कषाय को कृश करना कहा है, **वह समाधि आचरण (चारित्र) रूपी प्रासाद का शिखर ही है।** हमारे आचार्यों ने काय प्रत्याख्यान न कहकर भक्त प्रत्याख्यान कहकर बहुत सजग कर दिया है। काय तो छूटेगा, छोड़ना नहीं पड़ता। भक्त प्रत्याख्यान के लिए निमित्त दिए-आँखों की रोशनी कम हो गई हो,जठराग्नि काम नहीं करती हो तो वह भक्त प्रत्याख्यान के निमित्त "**खरपानहापनामपि**" आदि क्रम से णमोकारमन्त्ररूपी जलपान करना चाहिए। इसी का नाम भक्त प्रत्याख्यान है। यह एकदम नहीं, क्रम-क्रम से त्याग में वृद्धिरूप होता है। इस क्रिया के लिए पूर्व साधना की बहुत आवश्यकता है। इसके लिए १२-१२ वर्ष तक की तैयारी बतायी है। उत्कृष्ट से १२ वर्ष का भक्त प्रत्याख्यान कहा है। **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में कहा है-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनु-विमोचन माहुः सल्लेखनामार्या ॥१२२॥

जब ऐसी स्थिति हो तब सल्लेखना होती है। भद्रबाहु स्वामी ने भक्त प्रत्याख्यान के लिए श्रेष्ठ आत्म साधना अपनाई थी। तपस्या करने के लिए साधक विशेष रसों का त्याग करते हैं तथा सल्लेखना के स्थान की गवेषणा करते हैं और फिर जहाँ निर्यापकाचार्य होते हैं, वहाँ विहार करते-करते पहुँच जाते हैं और इस सल्लेखना का निष्ठापन कर लेते हैं। बालपना, युवापना आता है और चला जाता है लेकिन वृद्धापन आता है तो व्यक्ति को लेकर जाता है। **रिष्टसमुच्चय** ग्रन्थ में मृत्यु सूचक चिह्न बताये हैं, उससे अपने आप ज्ञात हो जाता है कि इसकी मृत्यु अब निश्चित होने वाली है। इस कारण वह सजग हो जाता है। **अन्त में जो णमोकार मन्त्र का उच्चारण करें तो समझो वह बड़ा सौभाग्यशाली है।** जीवनपर्यन्त उपाध्याय परमेष्ठी का कार्य करने वाले भी अन्त समय में 'हाय रे' कह सकते हैं। सल्लेखना अकालमरण नहीं है, आत्महत्या भी नहीं है, आयु कर्म की उदीरणा तो सभी
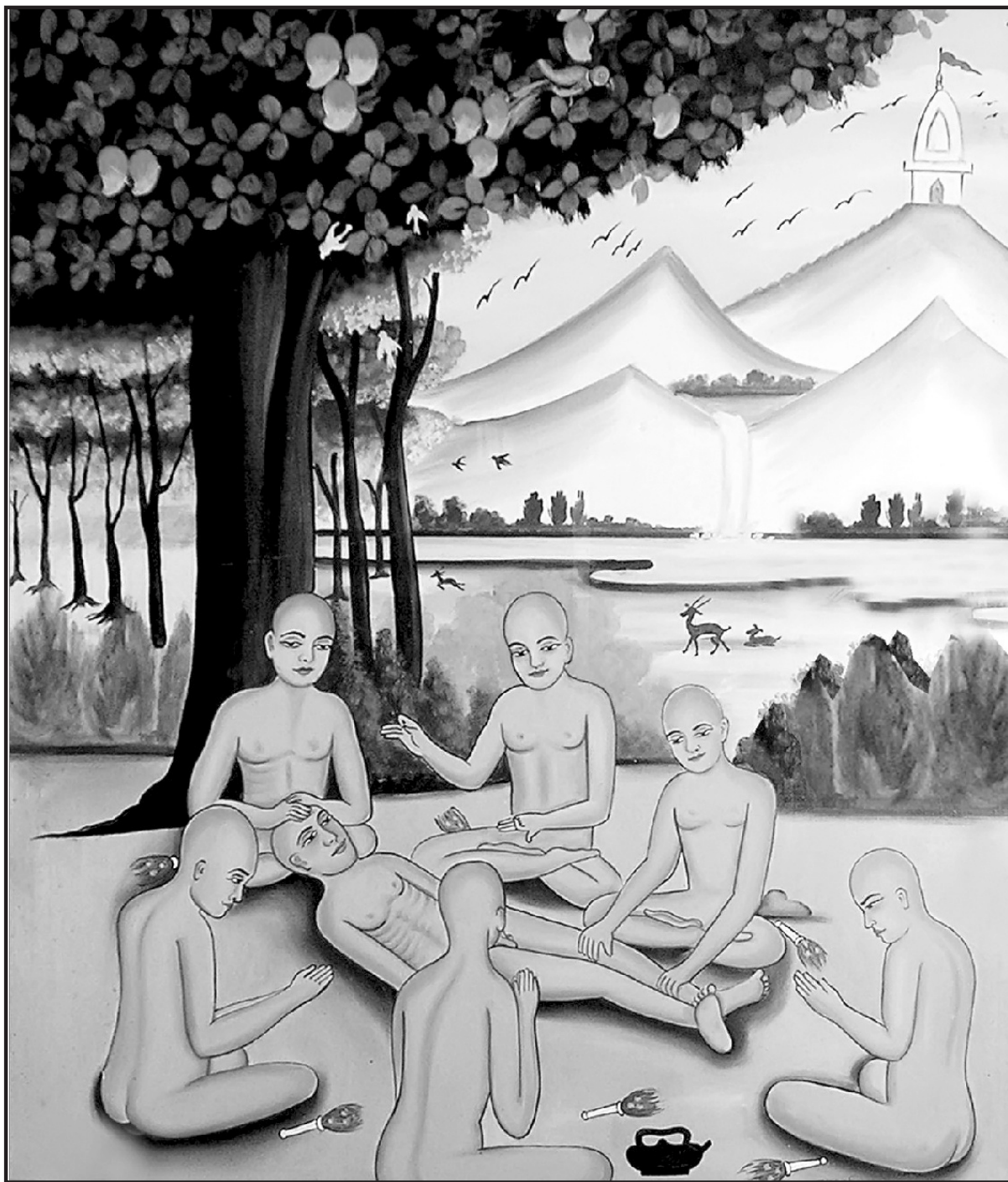
क्षपक की सल्लेखना कराते हुए मुनि गण

को हो रही है, होती रहती है। 'त्यक्त' ही मांगलिक मरण माना जाता है, 'च्युत' तो मरण की कोटि में आता है, पण्डित आशाधरजी ने ११० गाथाएँ सल्लेखना के बारे में लिखी हैं। हमेशा-हमेशा सल्लेखना के प्रति आदर बना रहे। सल्लेखना की दृढ़ता भावना भाने से आती है। जब से व्रती बना है, तभी से वह सल्लेखना व्रत के बारे में सोचना प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार कुन्दकुन्द स्वामी ने चार शिक्षाव्रतों में सल्लेखना व्रत को रखा है। कई लोगों के मुख से सुना है कि उत्कृष्ट सामायिक तो नहीं कर सकते, किन्तु केशलोंच के समय छह-छह घंटे एकासन से बैठ सकते हैं तो उसमें क्षमता तो जरूर है, ये भी मूलगुणों के प्रति निष्ठा और जागृति का प्रमाण है। व्रती का परम कर्त्तव्य है कि वह अपने व्रतों को हमेशा-हमेशा याद रखे। एक विद्यार्थी पेपर के समय पढ़ाई करता है और दूसरा वह है जो जुलाई से ही परीक्षा को सामने रखकर पढ़ाई करता है उसी प्रकार व्रती भी व्रत लेने के समय से ही सल्लेखना की ओर दृष्टि रखता है। **जन्म लेते समय तो आँखें बंद रहती हैं और मरण के समय भी आँखें बंद हो जाए तो क्या लाभ? ऐसी साधना करो कि मृत्यु को अपनी आँखों से जाते हुए भी देख सको।** मूलाचार में लिखा है कि-" प्रतिदिन णमोकार मन्त्र का कायोत्सर्ग करने वाला मरण के समय इस मन्त्र को अपने कण्ठ में रख सकता है।" '**प्राणप्रयाणक्षणे, त्वन्नाम-प्रतिबद्ध-वर्णपठने कण्ठोऽस्तव-कुण्ठोमम।**' अरिहंत सिद्ध-अरिहंत सिद्ध करते हुए मृत्यु का साक्षात्कार कर सकते हैं। यह मृत्युञ्जयी मन्त्र है। अष्टपाहुड में कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने कहा कि-**सुख के साथ अर्जन किया हुआ ज्ञान, दुख के आने पर विलीन हो जाता है।** इसलिए कायक्लेश को मूलगुण में भी रखा है और वह तप भी है। इस कायक्लेश तप की साधना भी होना चाहिए। जो साधक घुटनों में दर्द होने पर भी आसन लगाकर बैठ जाता है तो उस समय उसके असाता की उदीरणा हो जाती है। आरोग्य शास्त्र में लिखा है-आहार के उपरान्त सौ कदम चलना चाहिए। मूलाचार में भी कहा है-आहार-निहार का स्थान दूर होना चाहिए। यदि आहार करने निकट में गये हैं तो लौटते समय मंदिर की तीन प्रदक्षिणा (परिक्रमा) लगा लो तो सौ कदम हो जायेंगे। आज का मानव शौच का प्रबन्ध भी वहीं घर में कर रहा है। जबकि दूसरी प्रतिमा से सेप्टिक टेंक में जाने के लिए मना किया है, कितने असंख्यात जीव रहते हैं, इससे आरोग्य और वैराग्य भी समाप्त हो जाता है। आज मेहनत के काम समाप्त हो गये हैं। घर में ही नल है, **जिनवाणी तो पढ़ते हैं, लेकिन जीवानी नहीं करते हैं।**

दसवाँ गुणस्थान-संज्वलन लोभ नवम गुणस्थान तक सूक्ष्म नहीं होगा १० वें गुणस्थान में होगा। उसमें सूक्ष्म लोभ की कृष्टियाँ बनानी पड़ती हैं। कृष्टि अर्थात् गट्ठे। जिस प्रकार गन्ना तो सभी खाते हैं किन्तु छोटे बच्चे देखते रहते हैं तो उनके लिए पहले काण्डक बनाते हैं, छिलके उतारकर छोटी-छोटी गरेड़ी बना देते हैं। उसी प्रकार कर्मों की जटिलता को कम करने के लिए छोटी-छोटी कृष्टियाँ बना ली जाती हैं, जिससे उसको सूक्ष्म करने में कोई बाधा नहीं होगी। बादर साम्पराय में सभी परीषह

होते हैं। यह १० वाँ गुणस्थान उपशम और क्षपक श्रेणी इन दोनों की अपेक्षा से है। इस गुणस्थान में प्रविष्ट किये बिना आगे नहीं जा सकते। यहाँ पर सूक्ष्म लोभ की सूक्ष्म कृष्टियाँ की जाती हैं ताकि उपयोग में बंधक नहीं हो पाता और आगे बढ़ जाता है। कौस्तुभ फूल के समान या हल्दी के रंग जैसा सूक्ष्म लोभ रहता है। १० वें गुणस्थान से ११ वें में या १० वें गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान को प्राप्त होता है ये दो रास्ते हैं। जिस घड़ी में सेकेण्ड व मिनट का काँटा नहीं हो मात्र घंटे का काँटा हो, वह हिलता हुआ नहीं दिखता है, लेकिन स्पंदन तो होता रहता है। वह पकड़ में नहीं आता है। उसी प्रकार सूक्ष्म लोभ होता है। जैसे—एक कटोरा पानी में एक नीली कलम डुबो दी तो वह पानी नीला हो गया, उसी पानी को बाल्टी में डाल दो, कुँए में, नदी में, सागर में डाल दो इस प्रकार स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत डालते जाओ तो वह नीले रंग के अविभागी प्रतिच्छेद अनन्त तक पहुँच जाते हैं, ये सब जगह पाये जायेंगे। यह सूक्ष्मता केवलज्ञान का विषय है।

ग्यारहवाँ गुणस्थान—प्रशमता की मूर्ति है, अपने आत्म स्वभाव के संवेदन से सभी मोह को शमित कर दिया है, ऐसा वीतराग छद्मस्थ उपशान्त मोह नामक ११ वाँ गुणस्थान है। ११ वाँ गुणस्थान हो जाने पर पुनः कषाय क्यों होती है? तो कहते हैं कि उपशान्त मोह का काल ही इतना है अथवा उसका ऐसा ही स्वभाव है कि वह कषाय काल पूरा होने पर उदय में आ जाती है। जिस प्रकार गेंद का स्वभाव ऊपर जाने के बाद नीचे आना ही होता है।

मन्दाग्नि वालों को भूख सहन नहीं होती, एक अन्तराय आने पर आँखें फिरने लगती हैं किन्तु जिनकी जठराग्नि तीव्र है वह अन्तराय आ जाने पर भी भले अन्दर ज्वालामुखी उठ रही हो, सहन करते रहते हैं। चक्री, अर्धचक्री, तीर्थंकर का आहार होता है किन्तु निहार नहीं होता वे जो भी खाते हैं, वह भस्म हो जाता है। कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता है। तीर्थंकरों के लिए कहा है कि—उनका आहार शुक्र रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए उनका श्वेत खून होता है, उपशान्त मोह और उपशान्त कषाय में थोड़ा अन्तर है, उपशान्त मोह में दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों आ जाते हैं और उपशान्त कषाय में चारित्र मोह का ही उपशमन करता है। पर उपशान्त मोह को उपशान्त कषाय भी कहा है। इसमें गुण संक्रमण भी करता है।

बारह से चौदहवाँ गुणस्थान—जिस मतानुसार श्रेणी में ८, ९, १० वें गुणस्थान में धर्म्यध्यान मानते हैं तो ११ वें गुणस्थान में शुक्लध्यान माना जायेगा और क्षपक श्रेणी वाले के १२ वें गुणस्थान में शुक्लध्यान होगा तो प्रथम व द्वितीय दोनों शुक्लध्यान का विधान करना होगा। प्रश्न उठता है कि धर्म्यध्यान छूटते ही तत्काल शुक्लध्यान हो सकता है क्या? जिनके यहाँ श्रेणी में धर्म्यध्यान होता है, उनके यहाँ शुक्लध्यान की प्रणाली अलग होगी। वह १० वें से १२ वें गुणस्थान में छलांग लगायेगा तो प्रारम्भ में प्रथम शुक्लध्यान होगा इसके उपरान्त उसी गुणस्थान के अन्त में द्वितीय शुक्लध्यान होगा। संसारी प्राणी व्यर्थ कार्यों में उलझा रहता है और ये योगी दुनिया में रहकर भी निराले कार्य करते

रहते हैं और अन्तर्मुखी हो जाते हैं। रंग व तरंग से रहित जल में जैसे मुख आदि दिख जाता है उसी प्रकार स्वभाव का बार–बार स्पर्श करते रहने से रंग–तरंग रूप मोह कषाय आदि से रहित होने से दर्पण सम अपना स्वभाव देख लेते हैं। स्वभाव का बार–बार स्पर्श होना ही अबुद्धिपूर्वक राग मिटाने का एक रास्ता है लेकिन इसके पहले बुद्धिपूर्वक राग मिटाना आवश्यक है। ज्ञान की विशेषता है कि अस्थिर मन को भी स्थिर कर देता है। जो अपनी आत्मा के स्वभाव के बारे में बार–बार चिन्तन करेगा वह अचिन्त्य स्वाभाविक दशा को अवश्य पायेगा। कर्मों का आगमन १३ वें गुणस्थान तक ही होता है। बद्ध कर्मों में स्थिति अनुभाग के साथ–साथ आबाधा का पड़ना १० वें गुणस्थान तक होता है। मोह का प्रभाव उपयोग पर पड़ता है और उपयोग का प्रभाव आत्मा पर पड़ जाता है। आस्रव रहित शुद्ध कर्म निर्जरा १४ वें गुणस्थान में होती है। संघातन क्रिया के माध्यम से वे अविपाक निर्जरा करते हैं। सभी शक्तियाँ परसापेक्ष नहीं होती हैं। हाँ, शक्ति की व्यक्ति परसापेक्ष होती है। कर्मचारी जब रिटायर हो जाता है तो कार्य नहीं करता पर पेंशन तो मिलती है, उसी प्रकार योग का अभाव हुआ अर्थात् रिटायर अयोगी हो चुके हैं। जैसे–कटोरे में नीला पानी भर दो और पानी को फूँकते हैं तो जल स्पंदित होता है, नीलापन नहीं। उसी प्रकार आत्मप्रदेश स्पंदित होते हैं, गुण स्पंदित नहीं होते। योग एक प्रकार से आत्मा की वह निजी शक्ति है, जिसके माध्यम से कर्म–नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है, जिस समय यह कार्य रुक जायेगा, उस समय से वह अयोग दशा का अनुभव करेगा। १४ वें गुणस्थानवर्ती को कारण समयसार तथा सिद्धों को कार्य समयसार बताया है। सिद्धत्व का अनुभव १४ वें गुणस्थान में सम्भव नहीं, १४ वें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों की पूर्णता होने पर भी मुक्ति नहीं होती है, क्योंकि अभी परम यथाख्यात चारित्र की पूर्णता का अभाव है और चतुर्थ शुक्लध्यान का अभाव है। सिद्धत्व का ज्ञान संसार दशा में हो सकता है लेकिन सिद्धत्व की अनुभूति नहीं हो सकती है। सिद्धत्व का ध्यान और अनुभूति अलग वस्तु है। अभी तो लोगों को याद करने की पड़ी है चिन्तन और लेखन की पड़ी है, इसी परिकल्पना में सिद्धत्व का विस्मरण कर रहे हैं। अशुभ से बचने के लिए शुभ की प्रवृत्ति अवश्य करें, किन्तु उसको दैनिक चर्या का रूप न बना लें। जो आवश्यक है, उस आवश्यक को अच्छे से करें। आगे की न सोचें, सोचने में चंचलता रहती है। जैसे–**अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है, वैसे ही आवश्यकों को निर्दोष तथा समय पर करना भी तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण है।** लेकिन इस ओर ध्यान नहीं जाता। उपयोग तो ज्ञान की ओर जाता है, पर संयमित ज्ञान के साथ जो आवश्यक होते हैं, वे ही आवश्यक निर्जरा व शुभ बंध के लिए कारण होते हैं। छद्मस्थ अवस्था में जब तक ध्यान करता है तो एकाग्रता की आवश्यकता होती है। एकाग्रता दो प्रकार की होती है–एक तो उपयोग की व्यग्रता का अभाव और दूसरा योग की व्यग्रता का अभाव। उपयोग की व्यग्रता का अभाव होने पर एकत्व वितर्क नामक शुक्लध्यान हो जायेगा। आत्मा के प्रदेशों की व्यग्रता को समाप्त करने के लिए सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति को अपनाना पड़ता है। समुद्घात में केवल तीन समय के लिए नोकर्म वर्गणाओं

का ग्रहण नहीं होता है। योग दशा में केवल साता का ही ग्रहण करता है, यहाँ कर्म वर्गणाओं को साता के रूप में ग्रहण करने की स्थिति एक समय की पड़ती है, किन्तु नोकर्म वर्गणाएँ भी एक समय के लिए ही टिकती हो, ऐसा आगम का उल्लेख नहीं है। एक समय से अधिक भी टिक सकती है। कर्म और नोकर्म दोनों की समाप्ति के लिए जो क्रिया होती है, उसे परिशातन क्रिया कहते हैं। योगों की व्यग्रता समाप्त हो गई तो अयोगी बन गए। **प्रवचनसार** की **चारित्र चूलिका** में **कुन्दकुन्द स्वामी** ने कहा है—कभी कर्कश, कभी मृदु चर्या श्रमण को अपनाना चाहिए। श्रमण कभी उत्सर्ग तो कभी अपवाद मार्ग को अपनाता है। उत्सर्ग मार्ग का अर्थ—दूसरों का अवलम्बन नहीं लेना उसे शुद्धोपयोग की भूमिका कहते हैं। अपवाद मार्ग का अर्थ—यथोचित अवलम्बन ले लेना। पर यहाँ असंयम का समर्थन नहीं करना। जिस प्रकार गाड़ी चलाने के लिए उसको पेट्रोल या डीजल दिया जाता है, उसी प्रकार देह को भोजन आदि देकर उत्सर्ग मार्ग को अपना लेना चाहिए। अपवाद मार्ग में पात्र के अनुसार जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के अनुसार परिवर्तन हो सकता है, इस प्रकार अपनी शक्ति क्षेत्र, काल को देखकर अपवाद को अपनाना पड़ता है लेकिन जघन्य का उल्लंघन नहीं हो सकता और उत्कृष्ट को पार नहीं कर सकता। श्वेताम्बर परम्परा में अपवाद का अर्थ सवस्त्र लिया, यह गलत है। सहारा लेना और छोड़ देना इन दोनों में बहुत अन्तर है। जैसे—गर्मी लग रही है तो कुण्डलपुर के वर्धमान सागर के पास आकर बैठ सकते हैं किन्तु उसमें डुबकी नहीं लगा सकते। मूलगुणों को कम करना अलग है और उत्तर गुणों में परीषहजय आदि में कमी आना अलग बात है। उत्सर्ग और अपवाद मार्ग को जो नहीं मानते हैं तो समझो वो असंयम का प्रचार कर रहे हैं। संयम का माध्यम जो शरीर है, उसकी भी महत्ता है। १४ वें गुणस्थान में भले ही गुणश्रेणी निक्षेप का अभाव है किन्तु गुणश्रेणी निर्जरा का अभाव नहीं है अर्थात् अविपाक निर्जरा तो है १४ वें गुणस्थान के चरम समय से पहले अघातिया कर्मों का तीव्रोदय होने से चारित्र में दूषण लगता है। इसी के अन्तिम समय में जब मन्दोदय हो जाता है तब चारित्र में दोष का अभाव होने पर मोक्ष हो जाता है।

गति से वेद मार्गणा तक—जिसके द्वारा या जिसमें एकेन्द्रिय आदि जीव देखे जाते हैं या ढूँढ़े जाते हैं, उसे मार्गणा कहते हैं।

आयु और गति में क्या भेद है ? अपनी आत्मा से विलक्षण चार गतियाँ हैं। आयु के साथ तत्सम्बन्धी गति का उदय होना अनिवार्य है तो फिर आयु मार्गणा क्यों नहीं कही है? क्योंकि आयु के द्वारा उस जीव की पहचान नहीं होती है। आयु कभी देखने में नहीं आ सकती इसलिए ''**गम्यते इति गति**'' गति मार्गणा रखी है। गति जीव विपाकी, आयु भव विपाकी प्रकृति है। हम स्वयं को भी पहचानना चाहते हैं तो आयु के माध्यम से हम मनुष्य हैं, यह ज्ञान नहीं होता है गति से ही पहचान होती है इसलिए जिसके द्वारा जीव की पहचान होती है वह गति मार्गणा है। आयु कर्म के उदय से गत्यान्तर होता है तो गति नामकर्म के उदय से उस गति का संवेदन होता है। जैसे—करंट के माध्यम

से ही प्रकाश प्राप्त होता है लेकिन बल्ब के माध्यम से ही प्रकाश का ज्ञान होता है, बल्ब गति नामकर्म और करंट आयु कर्म समझ लेना चाहिए। सिद्ध परमेष्ठी तीनों योगों के व्यापार से रहित हैं। एकेन्द्रिय में काय का व्यापार, दो इन्द्रिय में काय और वचन दो प्रकार का व्यापार, पञ्चेन्द्रिय होने पर तीनों योग होने से तीन तरह के व्यापार करने वाला व्यापारी है। ९ वें गुणस्थान तक तीनों वेदों में से एक वेद का उदय रहता है, लेकिन सत्ता में तो तीनों वेद रहते हैं। जब तक अवेदी नहीं होगा तब तक यथाख्यात चारित्र नहीं होगा। वेद कर्म जीव विपाकी है क्योंकि अपने आप को उस वेद रूप अनुभव कराता है सर्वार्थसिद्धि में भी पुरुष वेद की उदीरणा होती है। ''**परेऽप्रवीचाराः**'' कहा है, परमार्थ के चिन्तन में तीनों वेद गौण हो जाते हैं तो उस समय कितनी शान्ति महसूस करते हैं। इसलिए वेद को गौण करके अपने आपको अवेदरूप अनुभव करने का प्रयास करना चाहिए।

कषाय मार्गणा—जीव को जो कष्ट देती है, वह कषाय है। श्री धवला के अनुसार ''**कृषि विलेखने**'' जिस प्रकार किसान खेती करके धान्य पैदा करता है तो निमित्त उसमें किसान होता है। उसी प्रकार जीव द्वारा कषाय रूपी खेती करने से कर्म रूपी धान्य (फसल) उगती है नो कषाय (ईषत् कषाय) नो इन्द्रिय और नोकर्म ये तीन हैं। नो कषाय के साथ जब कषाय जुड़ती है तो उसकी बुरी दशा हो जाती है। काया के लिए अन्न की तो आवश्यकता है किन्तु वह अन्न न ले जो उद्रेग पैदा कर दे। भोजन के उपरान्त कम से कम एक घंटे का अन्तराल सामायिक के लिए आवश्यक है क्योंकि भोजन के उपरान्त भी नशा चढ़ता है, आलस्य प्रमाद आता है। सामायिक आवश्यक वाले इसको अवश्य ध्यान में रखें। कषाय का उद्रेक नो कषाय के साथ सम्बन्धित होने पर भड़कता है। कर्मों में एक, द्वि, त्रि आदि स्थान डालने की क्षमता कषाय में है और कर्मों के उदय स्थान के अनुसार हमेशा हमारे भाव होते हैं। त्रि व चतुःस्थानीय कषाय का उदय आने पर पहला गुणस्थान हो जाता है। वृषभनाथ तीर्थंकर का संयोग सबको मिला लेकिन तीव्र कर्म स्थान होने से मारीचि का कल्याण नहीं हुआ। जिस प्रकार तपे हुए तवे पर दो तीन जल की बूँदें गिरती हैं तो कोई फर्क नहीं पड़ता, उसी प्रकार भगवान् की देशना का मारीचि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु शेर की पर्याय में ऋद्धिधारी मुनियों के सम्बोधन से ही सम्यग्दर्शन हो गया। नो कषाय कभी भी स्थान नहीं डालती है, इसलिए इसे नो कषाय कहा है, भले ही बन्ध में कारण है। जैसे—कम्पाउण्डर डॉक्टर जैसा करता हुआ भी डॉक्टर की उपाधि नहीं होने से डॉक्टर की सलाह के बिना कार्य नहीं करता। उसी प्रकार नो कषाय कषाय के साथ–साथ होती है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति अकेले नहीं होती है। हास्यादि नो कषाय सातवें आदि गुणस्थान में कार्य रूप में नहीं दिखती हैं। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थकार ने कषाय कुशील की व्याख्या करते हुए कहा है कि वहाँ कषाय तो होती है लेकिन नो कषाय का कार्य नहीं होता है। ६–७ वें गुणस्थान में भोजनादि प्रवृत्ति करते हुए भी नो कषाय की अभिव्यक्ति नहीं होती है। ''**संज्वलन मात्र तंत्र इति**'' कषाय कुशील कहा है। **हँसी मजाक करने वालों से जितना दूर रहोगे, जितनी गंभीरता**

रखोगे उतना तत्त्व चिन्तन बढ़ेगा। वे कभी हँसेंगे, रोयेंगे नहीं चेहरे पर शिकन नहीं आयेगी यह भी एक प्रकार का संयम है। जैसे—कोर्ट में जाते हैं तो किसी को देखकर गाली या हँसी आदि नहीं कर सकते यह कानून है। जितना पूछा उतना ही उत्तर देना होता है, बाहर आने पर हँसता है, कोर्ट में संयम रखता है बाहर आते ही असंयम हो जाता है। दैनिक कार्य, लौकिक कार्य भी संयम के साथ किए जाते हैं। उसी प्रकार पुरुषार्थ करने से स्वभाव बदल जाता है। जितनी आप हँसी मजाक करोगे उतनी मन की चंचलता होगी, नहीं करेंगे तो गंभीरता आयेगी थोड़ा-सा मनोरंजन तो ठीक है, लेकिन उसी में लग जाएँ आत्मा की बात ही नहीं करे तो ठीक नहीं है। जैसे—खेल बदल-बदल कर खेलते हैं तो मन लगता रहता है। तत्त्ववेत्ता को मनोरंजन आदि से दूर रहना चाहिए, जिससे चिन्तन की धारा बढ़ने लगती है। कषायों के द्वारा हमारा बहुत सारा समय नष्ट हो जाता है, इसलिए कषायों को कम करने का प्रयास करना चाहिए। पुरुषार्थ करने से अपना स्वभाव बदल सकते हैं। अपने-अपने कर्मों के अनुसार भावों का निर्माण होता है। तीर्थंकर गृहस्थ अवस्था में मात्र सिद्धों को नमस्कार करते हैं, लेकिन वे इतने गम्भीर होते हैं कि उनसे सभी प्रभावित हो जाते हैं। सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद आचार्य ने कहा है कि—तीर्थंकर प्रकृति का उदय तीनों लोक में तहलका मचाने वाला है, यह सब पुरुषार्थ और पुण्य का माहात्म्य है।

ज्ञान मार्गणा—आवरणी कर्म तो पाँच ही हैं और ज्ञान के आठ भेद हैं, इसका कारण तो मिथ्यात्व ही हैं। मिथ्यात्व के कारण मति आदि तीन ज्ञान 'कु' रूप हो जाते हैं। तीसरे गुणस्थान तक ये ज्ञान मिथ्यात्व से प्रभावित रहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से ये सम्यक् हो जाते हैं।

संयम मार्गणा—एक से चार गुणस्थान तक असंयम है, सम्यग्दर्शन होने पर अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिमा आदि धारण कर इन्द्रिय संयम पूर्ण न धार सके तो एकदेश अवश्य धारें। सातवें गुणस्थान में ध्यान ही हो ऐसा नहीं है, जब चलते समय अप्रमत्त दशा का अनुभव हो जाता है तो सप्तम गुणस्थान हो जाता है। इस प्रकार अप्रमत्त दशा में भी चलना सम्भव है। संयम मार्गणा के सात भेद हैं। मुख्य रूप से संयम दो प्रकार का है—प्राणी संयम, इन्द्रिय संयम। प्रतिमा धारण करने के उपरान्त एकदेश इन्द्रिय संयम भी आना चाहिए। सामायिक-छेदोपस्थापना ६ वें से ९ वें गुणस्थान तक, परिहार विशुद्धि ६-७ वें गुणस्थान में, सूक्ष्मसाम्पराय १० वें गुणस्थान में, यथाख्यात संयम ११ वें से १४ वें तक है। श्री धवला की पहली पुस्तक में संयम के चार भेद कहे हैं। छेदोपस्थापना संयम नहीं कहा है। "**पञ्चमचारित्रलाभाय**" ऐसा वीरभक्ति में आता है तो पञ्चम चारित्र यहाँ यथाख्यात चारित्र के लिए कहा है। जो केवलज्ञान का कारण है। श्री धवला में जो चार प्रकार का चारित्र कहा है, वह कैसे बनेगा ? कुन्दकुन्द स्वामी ने भी पाँच प्रकार का चारित्र कहा है किन्तु पाँचों चारित्र सबके लिए अनिवार्य नहीं हैं। छेदोपस्थापना तथा परिहारविशुद्धि ये सबके लिए अनिवार्य ही हो ऐसा नहीं, तीर्थंकरों को छेदोपस्थापना चारित्र का अभाव बताया है। आगम कहता है कि—मुक्तारूपी माला

छेदोपस्थापना के माध्यम से ही बनती है। पहले छेद किया फिर धागा रूपी उपस्थापना में पिरो दी, इसी से छेदोपस्थापना भेद परिकल्पना चरितार्थ हो जाती है अर्थात् मुक्ता जो प्राप्त होती है, वह पहले छेद रहित अभेद प्राप्त होती है, फिर उसमें छेद कर डोरी डाल कर उपस्थापना कर दी जाती है अर्थात् मूल में तो प्रथम अभेद ही होता है, संयम लेते ही पहले सप्तम गुणस्थान (अभेद) को प्राप्त करते हैं और ६ वाँ गुणस्थान गिरने का है उसे प्राप्त करता है। इस प्रकार अभेद भेद की कल्पना की।

दर्शन मार्गणा—पाँच निद्रायें भी दर्शनावरण की प्रकृतियाँ हैं। दर्शनोपयोग के बिना ज्ञानोपयोग सम्भव नहीं। सामान्य सत्ता अवलोकन में ये पाँच निद्रायें बाधक हैं। निद्रालु सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकता। सम्यग्दृष्टि को निद्रा आ सकती है, ऊँघ सकता है लेकिन ऊँघते-ऊँघते सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। पाँचों निद्राओं का स्वागत दिन में कभी भी नहीं करना चाहिए। दिन में मत सोइये क्योंकि इस समय दर्शनावरण कर्म का बन्ध विशेष रूप से पड़ता है। दिन में सोने से अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। रात में भी जब कम सोओ ऐसा कहा है तो फिर दिन में सोना तो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है ही। निद्रा कर्म के उदय में भी निद्रा को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। दिन अस्त होने के तीन घंटे तक (६ से ९) रौद्र प्रहर कहा है। इसमें कभी नहीं सोना चाहिए। फिर राक्षस प्रहर ३ घंटे तक (९ से १२ बजे) इसका एकाध घंटा बीतने पर अर्थात् १० बजे सोना चाहिए, फिर गंधर्व प्रहर ३ घंटे तक (१२ से ३ बजे तक) यदि इस प्रहर में सोते हैं तो ठीक है तथा मनोहर प्रहर ३ घंटे का (३ से ६ बजे तक) इस ब्रह्म मुहूर्त में भी नहीं सोना चाहिए। इस प्रहर में रोगी भी प्रशस्तता का अनुभव करता है तो फिर स्वस्थ व्यक्ति के लिए तो प्रशस्त समय का सदुपयोग करना चाहिए। सूर्योदय के पहले जो उठता है वह प्रशस्त मन वाला है। मनोहर प्रहर का परिचय त्यागी, तपस्वी को अवश्य होना चाहिए। उस प्रशस्त समय में सर्वप्रथम उठकर स्वाध्याय प्रतिक्रमण करने के उपरान्त सामायिक फिर स्तुति करना चाहिए। इस प्रकार चार आवश्यक प्रशस्त मन से हो जाते हैं क्योंकि प्रतिक्रमण और स्तुति आदि में स्वाध्याय गर्भित हो जाता है। **नियमसार** में कहा है—''**कृत दोषनिराकरणार्थं प्रतिक्रमणं**'' प्रतिक्रमण को अर्थ सहित अच्छे ढंग से बोलकर करना चाहिए। जो विशेष रूप से स्वाध्याय नहीं करते हैं उनका प्रतिक्रमण तथा कायोत्सर्ग करने में ही स्वाध्याय गर्भित हो जायेगा। स्वाध्याय भी कर्म निर्जरा व तत्त्व चिन्तन के लिए ही तो है, गृहस्थ लोग पूजा-विधान आदि से भी स्वाध्याय कर सकते हैं। तीनों संध्याओं में निद्रा को जीतने का प्रयास करें यदि फिर भी आती है तो दीवार छोड़कर बैठें, चटाई वगैरह अलग कर दें, आँखों पर छींटें लगा लो, आँखें धो लो, फिर सामायिक में बैठो। कल कर लेंगे यह नहीं होना चाहिए, कल के ऊपर भरोसा नहीं करना। कल भी करेंगे लेकिन आज करके ही छोड़ेंगे। आज का लाभ मत छोड़िए। आँख धोने पर भी निद्रा आती है तो थोड़ी देर जोर-जोर से णमोकार मन्त्र का उच्चारण करो या फिर दीवार के सामने मुँह करके खड़े हो जाइये, इस प्रकार निद्रा पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। मनोहर प्रहर में स्मरण

चिन्तन अच्छा होता है, मन प्रशस्त रहता है आधी निद्रा में सामायिक नहीं करना चाहिए। सभी दर्शनकारों का कहना है कि सोने के लिए जो काल निर्धारण किया है, उसी काल में शयन करें। प्रायः करके विद्यार्थी रात के १० से २-३ बजे के बीच में ही अध्ययन करता है, जबकि यह काल शयन का है। मनोहर प्रहर में ही विद्यार्थी को पढ़ना चाहिए, उस समय प्रशस्तता रहती है। दिन की अपेक्षा ब्रह्ममुहूर्त के ३ घंटे बहुत प्रशस्त रहते हैं। गृहस्थ भी पूजा पाठ करते समय पञ्चपरमेष्ठी का गुणानुवाद करते हैं। उसी के माध्यम से निर्जरा करते हैं। **सिद्धचक्र विधान तो पूरा समयसार पढ़ने जैसा है।** विधान करते समय एकाग्रता भी रहती है और असंयम का परिहार भी हो जाता है।

लेश्या मार्गणा—कर्म सिद्धान्तानुसार कृष्णादि तीन लेश्या चौथे गुणस्थान तक, पीत, पद्म लेश्या १ से ७ वें गुणस्थान तक, ८ वें से १३ वें गुणस्थान तक मात्र शुक्ल लेश्या है, यह गुणस्थान अपेक्षा है। संयम, संयमासंयम ज्यों ही धारण करते हैं तो षट्खण्डागम के अनुसार उनके तीन अशुभ लेश्याओं का अभाव होकर शुभ लेश्यायें हो जाती हैं।

पञ्चास्तिकाय में एक गाथा आती है—

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥१४०॥

अशुभ लेश्या का लक्षण बताते हुए कहा है कि—पाप का कारण पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होना, चार संज्ञा रूप परिणाम, आर्त-रौद्र रूप परिणाम, ज्ञान का दुरुपयोग करना आदि-आदि अशुभ लेश्या के लक्षण हैं। संयमासंयम लेने के उपरान्त अशुभ लेश्या के जो लक्षण बताये वह नहीं आने चाहिए। इसका ध्यान रखना चाहिए। जो अशुभ लेश्या से बचेगा उसके पापों का आस्रव नहीं होगा। जैसे—दूध में नमक की डली डल जाए तो क्या होता है ? न छेना बनेगा, न दही, न छाँछ कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। आर्त-रौद्रध्यान बुद्धिपूर्वक नहीं करना चाहिए। संरक्षणानंद आदि परिग्रह के कारण ही ये रौद्रध्यान होते हैं। पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान होता है और छठवें गुणस्थान तक आर्तध्यान होता है। विषयानंदरूप परिणाम तथा इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग होने पर ये छूट जाए इस प्रकार के परिणाम नहीं होना चाहिए। लेश्या के परिवर्तन होने से किया हुआ पुण्य भी पापरूप संक्रमित हो जाता है, जैसे कि दूध फट जाता है। ज्ञान का दुरुपयोग करेंगे तो पाप का बंध होगा। धर्म की प्रभावना में, संयम के विकास में तथा मोक्षमार्ग में ज्ञान का उपयोग करना चाहिए, मोह के कार्यों में नहीं। सांसारिक कार्यों के लिए सम्यग्ज्ञान का उपयोग करना ज्ञान का दुरुपयोग है, इसलिए जिनवाणी के माध्यम से संसार की पूर्ति करना गलत है। सभी लोग देव और गुरु मूढ़ता के बारे में तो पूछते हैं किन्तु शास्त्र मूढ़ता क्या है? यह नहीं पूछते हैं ? देव नहीं हैं उन्हें देव कहना देव मूढ़ता है तथा जो गुरु नहीं हैं, उन्हें गुरु मानना गुरुमूढ़ता है। उसी प्रकार जो कुशास्त्र विषयों की ओर ले जाने वाले हैं, उन्हें पढ़ना शास्त्र मूढ़ता है। **जैसे भगवान् से भक्ति का फल नहीं माँगना है, उसी प्रकार जिनवाणी के माध्यम से भी**

कुछ नहीं माँगना चाहिए। विद्वान् लोग कहते हैं कि भगवान् के सामने जाकर कुछ नहीं माँगना चाहिए और स्वयं जिनवाणी के माध्यम से माँगते हैं तो क्या अन्तर हुआ इन दोनों में? तीन अशुभ लेश्याओं से बचना चाहिए, शुभ लेश्या तो भगवान् को भी नहीं छोड़ती है। कुछ लोग कहते हैं कि १३ वें गुणस्थान में लेश्या उपचार से है लेकिन ऐसा मूल में कथन कहीं नहीं है, टीका में मिलता है। पुण्य और पाप से जो **आत्मानं लिप्यते इति लेश्या**: आत्मा में लेपन होता है वह लेश्या है।

भव्यादि मार्गणा—अभव्य का प्रथम गुणस्थान होता है तथा १ से १४ वें गुणस्थान तक भव्य होता है। अभव्य होकर भी ११ अंगों का ज्ञान कर सकता है, नौवें ग्रैवेयक तक पहुँच सकता है। पारिणामिक भाव की व्यवस्था किसी कर्म पर आधारित नहीं है। अशुद्ध पारिणामिक भाव कथञ्चित् अशुद्ध निश्चयनय का विषय बनता है। ध्यान आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु यह विभाव भाव के अन्तर्गत आता है। जितने वैभाविक परिणाम हैं, वे कर्म सापेक्ष ही होते हैं ऐसा नहीं, क्योंकि वैभाविक कहते ही कर्म की ओर दृष्टि चली जाती है और जो कर्म निरपेक्ष है, वे सभी पारिणामिक भाव ही होते हैं, ऐसा नहीं है। भावकर्म कहते ही मोह की ओर दृष्टि चली जाती है, लेकिन मोह के अभाव में भी योग के माध्यम से शरीर नाम कर्मोदय से विभाव भाव होता है, इसी प्रकार ध्यान भी किसी भी कर्मोदय से सम्बन्ध नहीं रखते हुए भी कर्म सहित जीव को होता है, वह अशुद्ध पारिणामिक भाव में आ जाता है। अशुद्ध निश्चयनय का विषय घूम फिर कर व्यवहार की कोटि में आ जाता है। व्यवहार से फिर निश्चय में पहुँच जाता है। लक्षण दो प्रकार के होते हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत। जो भाव अन्य द्रव्यों में नहीं है, जहाँ एकमेकपना होता है, वहाँ आत्मभूत घटता है। ध्यान आत्मभूत है या अनात्मभूत? पुद्गल में नहीं होता है, इसलिए अनात्मभूत नहीं है। जीव में होता है इसलिए आत्मभूत हुआ, फिर भी स्वाभाविक आत्मभूत लक्षण नहीं है, मतिज्ञानादि के साथ सम्बन्ध होने से वैभाविक आत्मभूत लक्षण है, यदि स्वाभाविक होता तो सिद्धों में भी ध्यान पाया जाना चाहिए लेकिन सिद्धों में नहीं होता है। उसी प्रकार भव्य-अभव्य भाव भी स्वाभाविक आत्मभूत लक्षण नहीं है, वह वैभाविक है, अशुद्ध पारिणामिक भाव है नहीं तो फिर भव्य-अभव्य भाव सिद्धों में भी होना चाहिए था। भव्य-अभव्य जीव के अशुद्ध पारिणामिक भाव हैं। यह जीव के ही भाव माने जाते हैं। "**सिद्धा: न जीवा**:" ऐसा आता है सिद्ध जीव नहीं है यह अर्थ नहीं लेना लेकिन दस प्राणों से अतीत हो गये '**पाणित्तमदिक्कंता**' इसलिए कथञ्चित् सिद्ध जीव नहीं हैं, परन्तु ज्ञान-दर्शन गुण कभी समाप्त नहीं होता जीवत्व भाव का भी अभाव नहीं होता है। मतिज्ञानादि नहीं हैं इसलिए शून्य और केवलज्ञान सामान्य गुण की अपेक्षा अशून्य है। अतीत पर्यायापेक्षा अभव्य और भावी पर्यायापेक्षा भव्य है। परचतुष्टयापेक्षा शून्य तथा स्वचतुष्टयापेक्षा अशून्य है। अपवाद और उत्सर्ग, विशेष-सामान्य, निश्चय-व्यवहार, शुद्ध-अशुद्ध यह सब अनेकान्त में घटित हो जाते हैं। १४ वें गुणस्थान में भी अपवाद व्याख्यान है, ध्यान भी अपवाद व्याख्यान से १४ वें गुणस्थान में घटित होता है। जब कभी

भी मंजिल मिलेगी चलने से ही मिलेगी। **मोक्षमार्ग पर विश्वास नहीं करने वालों की संख्या अनन्त हैं, अनन्त संसारी जीव ऐसे हैं, जो भगवान् को पहचानते ही नहीं हैं। मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने वाले जीव संख्यात हैं।** मुनिराज (संयमी) ३ कम ९ करोड़ ही होते हैं बाकी सभी विषय कषायों में ही फँसे हैं, यह संसार की दुकान कभी खाली नहीं होती है। शुद्ध चैतन्य रूप जीवत्व भी अविनश्वर होने से शुद्ध पारिणामिक भाव कहा है। जो सिद्धों में ही पाया जाता है और कर्म जनित दश प्राण रूप जीव, भव्य-अभव्य भाव विनश्वर भाव हैं, इस नश्वर शरीर के माध्यम से अविनश्वर जीवत्व भाव की भावना कर लो। अपनी शक्ति को छुपाये बिना इसको (जीवत्व भाव को) प्राप्त करने का प्रयास करो। ''**भवितुं योग्यं भव्यः**'' अर्थात् होने की योग्यता भव्य है। १० वें अध्याय में भी कहा है-''**औपशमिकादि भव्यत्वानां च**'' अर्थात् भव्यत्व का भी सिद्धों में अभाव है। आभरण रहित सोना-गिट्टी, बिस्कुट रूप में तथा आभरण सहित सोना, हार आदि रूप में हो तो स्वर्ण का इच्छुक उसे भी खरीद लेता है। आभरण सहित सोने में बट्टा भी खरीद लेते हैं, उतने पैसे काट लेते हैं, इसी प्रकार सिद्धों में भी जीवत्व है, लेकिन उसमें बट्टा नहीं है। जैसे-आप विदेश जाते हैं तो यहाँ का टिकट काम में नहीं आता वहाँ का टिकट दूसरा होता है। भव्यत्वरूपी टिकट लेकर १४ वें गुणस्थान तक की ट्रेन में बैठ जाते हैं लेकिन सिद्धालय में जाने के लिए वह टिकट काम में नहीं आयेगा। मुक्ति में पहुँचाने की क्षमता तो चतुर्थ शुक्लध्यान में ही है अन्य ध्यानों में नहीं। जैसे-ट्रेन सागर से जबलपुर तक पहुँचती है लेकिन वह स्टेशन तक ही पहुँचाती है, जबलपुर में नहीं। उसी प्रकार भव्यत्व भाव १४ वें गुणस्थानरूपी स्टेशन तक पहुँचाता है। अब तुम रिक्शा करके या पैदल अपने घर जाओ। शुद्ध पारिणामिक भाव १४ वें गुणस्थान में स्थित मुनिराज के ध्येयरूप होता है ध्यान रूप नहीं क्योंकि ध्यानमार्गरूप है, ध्येय मंजिल है, ध्यान विनश्वर है। ध्येय अविनश्वर है। अन्तर्मुहूर्त तक अनाहारक रहने वाला भव्य १४ वें गुणस्थानवर्ती ही होता है। १४ वें गुणस्थानवर्ती के गत्यानुपूर्वी का उदयावली में तो प्रवेश है किन्तु उदय नहीं है और कोई आचार्य उदय मानते हैं वैसे वहाँ गत्यानुपूर्वी का उदय मान लें तो कोई बाधा नहीं। आने जाने में ही गत्यानुपूर्वी नहीं मानना चाहिए। अपने में आना भी तो गत्यानुपूर्वी है, ऐसा मत आता है।

महाबन्ध यह टीका ग्रन्थ नहीं है। कई लोगों की शंका थी कि श्री धवला-जयधवल तो आता है किन्तु महाबन्ध की महाधवल रूप में कोई भी बात नहीं है तो यहाँ पर ब्रह्मदेवसूरि ने श्रीमहाधवल के नाम से अभिहित किया है। गुणस्थान और मार्गणा में केवलदर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहारक शुद्धात्म स्वरूप में साक्षात् उपादेय है।

सिद्ध भगवान् का स्वरूप

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किञ्चूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥

अर्थ—सिद्ध जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त हैं और चरम अर्थात् अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से संयुक्त हैं।

अष्ट कर्म से रहित हुए हैं अष्ट गुणों से सहित हुए।
अंतिम तन से कुछ कम आकृति ले अपने में निहित हुए॥
तीन लोक के अग्रभाग पर सहज रूप से निवस रहे।
उदय नाश-ध्रुव स्वभाव युत हो शुद्ध सिद्ध हो दिवस रहे ॥१४॥

व्याख्या—णिक्कम्मा अट्ठगुणा—जिनके बँधे हुए कर्म दूर हो गये हैं अथवा जिन्होंने करने योग्य कार्य को पूर्ण कर लिया है वे निष्कर्मा हैं, लौकिक में जो काम काज नहीं करे उसे निकम्मा कहते हैं निकम्मा कहना यह एक गाली मानी जाती है, किन्तु आगम में महागुण है, बँधे हुए कर्मों की निर्जरा हो और नया कर्म बन्ध न हो ये पुरुषार्थ माना जाता है। संसारी प्राणी आज तक इस कार्य से वंचित रहा है। मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि जो कि सांसारिक कार्यों से उदासीन हैं, उसे एक-एक घड़ी कितनी महत्त्वपूर्ण है यह समझ में आ जाता है। प्राइमरी के बच्चों को उतनी चिंता नहीं होती लेकिन कॉलेज में पहुँचता है तो उसे पढ़ाई की चिंता होने लगती है। कोर्स को पूर्ण करना और सफलता प्राप्त करने का जिसका उद्देश्य हो जाता है, उसको उसके अलावा और कुछ नहीं दिखता। उसी प्रकार साधु भी "**आत्मानं साधयति इति साधुः**" मात्र एक आत्म साधना का लक्ष्य होता है। अभी तक पञ्चेन्द्रिय विषय और ख्याति, लाभ, पूजा का ही अभ्यास है यह विस्मय नहीं है कि वह मोक्षमार्ग कैसे भूल गया, विस्मय की बात तो यह है कि अनन्तकाल से विषयों में रमे हुए जीव की दृष्टि आत्मा की ओर कैसे गई। सम्यक्त्व आदि आठ सामान्य गुणों में सुख गुण को क्यों नहीं लिया जबकि सिद्धों में अव्याबाध सुख है, यह बाधा परकृत ही नहीं स्वकृत भी होती है। साता-असाता जीव विपाकी प्रकृति के कारण सुख-दुख रूप बाधा होती थी, पर मोहनीय कर्म के नाश से अनन्त सुख प्राप्त होता है, ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। यदि मिलता है तो मोहनीय का क्षय १० वें गुणस्थान में ही हो गया तो १२ वें गुणस्थान के प्रथम समय से ही अनन्त सुख क्यों नहीं होता? दूसरी बात यह है कि मोहनीय कर्म के क्षय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र तीनों हो जायेंगे क्योंकि दर्शनमोहनीय के अभाव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र मोहनीय के क्षय से यथाख्यातचारित्र हो जाता है। आठ कर्मों के ऊपर इन आठ गुणों को निर्धारित किया हो, ऐसा नहीं लगता है। आठ कर्मों के क्षय से आठ गुण प्रकट हुए हैं, ऐसा मानते हैं तो इसको अपवाद मानना होगा। अघातिया कर्मों में सर्वप्रथम वेदनीय और घाति कर्मों में सबसे अन्त में अन्तराय है। अन्तराय को अन्त में तथा वेदनीय और मोहनीय को पास-पास रख दिया ऐसा क्यों? तो अन्तराय कर्म घाति होते हुए भी अघाति है। वेदनीय को अघाति होते हुए भी घातिवत् होने से बीच में रखा है। अन्तराय कर्म पूर्ण रूप से घात नहीं करता इसलिए

उसको अघाति की कोटि में लाकर रख दिया है। अन्तराय को देशघाति प्रकृतियों में लिया है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय की प्रकृतियों को सर्वघाति में लिया है, लेकिन अन्तराय की पाँचों प्रकृतियाँ देशघाति होने से घाति होते हुए भी अघाति में रखा है। वेदनीय, मोहनीय कर्म के सहारे से निराकुल परिणाम का घात करती है, इसलिए अघाति होते हुए भी घाति की कोटि में रखा है। साता और असाता दोनों आकुलता पैदा करने वाली है। जैसे–अमीरी तथा गरीबी दोनों आकुलता के कारण हैं। अमीर को घाटा होने से हार्ट फेल हो जाता है और गरीब को अचानक धन प्राप्ति से। दोनों की आकुलता बनी रहती है। अघाति कर्मों के नाश से अभावात्मक (सूक्ष्म जो दिखने में नहीं आते) गुण प्राप्त होते हैं। जैसे–वेदनीय के अभाव में अव्याबाध। चार घातिया कर्मों के क्षय से जो गुण मिलते हैं, वे विधिपरक है और अघाति कर्मों के क्षय से निषेधपरक हैं, घाति कर्म कुछ देता नहीं घात ही करता है और अघातिया कर्म सुख–दुख आदि देने रूप कार्य करता है।

किंचूणाचरमदेहदोसिद्धा–किञ्चित् न्यून चरम शरीर से कुछ न्यून आत्मप्रदेशों के उत्सेध रहेंगे। यहाँ पर शरीर छोटा–बड़ा नहीं कहा, आत्मप्रदेश कुछ कम उत्सेध में रहेंगे यह कहा। १४ वें गुणस्थान में शरीर नामकर्म का भी अभाव हो गया। शरीर नामकर्म का सत्त्व १४ वें गुणस्थान के उपान्त्य समय तक रहता है, अन्त में अभाव हो जाता है। पर उसे निष्क्रिय नहीं कह सकते हैं। फिर क्या होता है ? तो '**पूर्वप्रयोगात्**' यह आर्ष वाक्य है इसीलिए ध्यान क्रिया कर्म है। उपग्रहों का अन्तरिक्ष में उड़ना स्वभाव है, लेकिन उसे उड़ाने के पूर्व प्रक्षेपास्त्र द्वारा ऊपर उठाया जाता है। इसी प्रकार १३ वें गुणस्थान में पूर्व प्रयोगात् रूप प्रक्षेपास्त्र से वे अपने आपको ऊपर उठाना प्रारम्भ कर देते हैं। दूध के बराबर आकार में नवनीत या घी फैला हुआ है, फिर मन्थन करके गोले के समान बना दिया तो किञ्चित् ऊन हुआ कि नहीं? उसी प्रकार ५०० धनुष की अवगाहना वाले मुनिराज के आंगोपांग नामकर्म का अभाव होते ही १३ वें गुणस्थान के अन्त में आत्मप्रदेश किञ्चित् ऊन नहीं होते क्योंकि अभी शरीर से सम्बन्ध छूटा नहीं, शरीर छूटते ही किञ्चित् न्यून आत्मप्रदेश हो जायेंगे।

सिद्धों का गमन आगे क्यों नहीं होता, ऐसा पूछने पर कुछ लोग 'स्वभावतः' ऐसा कह देते हैं, लेकिन ये उनके घर का आगम है। आगम में तो "**धर्मास्तिकायाभावात्**" कहा है। योग्यता उतनी ही है, यह कहना गलत है, क्योंकि योग्यता इयत्ता को लेकर नहीं होती। वह योग्यता तो अपरिमित, असीम है। नीचे पुनः क्यों नहीं आता? तो ऊर्ध्व गमन स्वभाव होने से ऐसा कहा है।

लोयग्गठिदा–लोकाग्र में स्थित है अर्थात् वहीं पर स्थितप्रज्ञ जैसे रुक गये हैं। गाथा में उत्पाद, व्यय दिया है, ध्रौव्य नहीं दिया किन्तु उत्पाद, व्यय जहाँ पर भी आ जाते हैं, वहाँ ध्रौव्य अपने आप जुड़ जाता है, मध्यपद लोपी समास से ध्रौव्य का यहाँ लोप हो जाता है। **णिच्चा** पद से ध्रौव्य नहीं लेंगे। नोकर्म का घात तो अन्य के द्वारा हो सकता है लेकिन कर्म अपने ही परिणामों के द्वारा बंधे हैं तो अपने ही परिणामों के द्वारा घात कर सकते हैं, यही पुरुषार्थ है। एक दूसरे के परिणामों के द्वारा

कर्म बन्ध हो जाए या मुक्त हो जाए तो फिर पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता? भक्ति के आवेश में कहता है कि हम पर थोड़ी कृपा कर दो, इसका अर्थ यह है कि हमारा धर्म्यध्यान हो लेकिन उसका यदि उपादान जागृत नहीं होगा तो कोई कुछ भी नहीं कर सकता। लेकिन भावना भाने वाले तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेते हैं। बच्चे के पेट में दर्द होता है तो बच्चा चिल्ला–चिल्लाकर माँ–पिता को बुला लेता है और कहता है आप यही बैठना मेरा पेट दर्द दूर कर दो और डॉक्टर को बुला लिया जाता है, लेकिन दर्द को कोई ले नहीं सकता। जो कुछ भी भाव उत्पन्न होते हैं, वह सब अपने–अपने कर्मों के परिणाम हैं, ऐसा सोचकर शरीर को पड़ोसी मानकर पाषाण के समान बैठ जाता है, तब आत्मा की अनुभूति होती है, यही समयसार का रहस्य है। समयसार में कहा है कि–किसी को भी काय से, वचन से, मन से दुखी बनाने की भावना मिथ्या है क्योंकि दूसरा कभी तुम्हारे वचनों से दुखी नहीं होगा। हाँ, यदि वह भी तुम्हारे जैसे विचार वाला है तो दुखी हो जायेगा। दूसरे का सत्यानाश हो जाए ऐसा अज्ञानी कहता है लेकिन किसी की सत्ता का कभी नाश नहीं होगा। ''**सत्ता सव्व पयत्था**'' कहा है, इसी प्रकार दूसरे को सुखी बनाने की भावना है, वह भी मिथ्या है प्रतिपल संसारी प्राणी सुखी–दुखी होता रहता है। **तीर्थंकरों ने भी पूर्व में सभी को सुखी बनाने की भावना भायी थी, लेकिन वे भी सभी को सुखी नहीं बना पाये।** जिन्होंने पूर्व में सोलहकारण भावना भायी थी, लेकिन इस जीवन में दीक्षा लेकर मौन हो जाते हैं, किसी से कुछ नहीं कहते हैं। परिग्रह पोट उतारे बिना स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते हैं। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान के द्वारा बिना अनन्तवीर्य के जान व देख नहीं सकते। अनन्तसुख के लिए भी अनन्तवीर्य की आवश्यकता है इसलिए १२ वें गुणस्थान में अनन्तसुख की प्राप्ति नहीं होती, **मेरे पास अनन्तसुख को प्राप्त करने की शक्ति है ऐसा विश्वास करके साधना का मार्ग प्रारम्भ कर लो।** जैसे–बिजली है, करंट है पर यदि बल्ब नहीं है तो प्रकाश प्राप्त नहीं हो पायेगा। बल्ब में भी क्षमता है कि नहीं यह भी देखा जाता है। रोगी को देखकर दवाई दी जाती है कि वह इतना सहन कर सकता है कि नहीं। चक्रवर्ती के यहाँ कोई भोजन के लिए गया और यह कहे कि आपको जो परोसा है, वही मुझे मिलना चाहिए तो चक्रवर्ती कहता है कि–मेरी बात मानलो जितनी भूख है उतना खा लो लेकिन यह शर्त मत लगाओ क्योंकि चक्रवर्ती जो लड्डू खाता है उससे चक्रवर्ती की सारी सेना भी आधा ही लड्डू खा सकती है फिर भी हजम हो जायेगा जरूरी नहीं है। अनन्त शक्ति पर विश्वास करके आगे बढ़ जाओ यही सही पुरुषार्थ माना जायेगा। पूर्व भव में घोर उपसर्ग परीषहों को शुद्धात्म ध्यान के बल से समतापूर्वक सहन किया। जिसके फलस्वरूप अनन्तवीर्य प्रकट हुआ, निश्चय एवं व्यवहारचारित्र में अपने वीर्य का सदुपयोग करना चाहिए। अवगाहनत्वगुण– आकाश में तो अवगाहन शक्ति है, पर सिद्धप्रभु जितने क्षेत्र में रहते हैं, उसमें भी अनन्त सिद्धों के अवगाहन होने की क्षमता प्रकट हो जाती है। अव्याबाधगुण–अनंतसुखरूप कारण समयसार के साथ अव्याबाध सुख का अनुभव नहीं होता। कारण समयसार में जान तो लेता है लेकिन अव्याबाध गुण

का संवेदन नहीं हो सकता। रस का संवेदन रसना पर रखने से ही होगा, हाथ में रखकर देखने से तो ज्ञान हो सकता है, लेकिन रस का अनुभव नहीं। **निराकुलता चाहते हो तो उसके साधन को अपनाओ तभी साध्य की प्राप्ति होगी।** जब तक साधन है तब तक साध्य की प्राप्ति नहीं, लेकिन उसके बिना भी नहीं। जैसे–फूल है तो फल नहीं, फल है तो फूल नहीं, लेकिन फूल के बिना भी फल नहीं। अतः इनमें पूर्वोत्तर क्षणवर्ती अन्तर होता है। इसी प्रकार अध्यात्म में व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होता है। भगवान् के ज्ञान के सामने हमारा ज्ञान सागर में बूँद के समान है। मोक्षमार्ग में मुमुक्षु पहले स्वाध्याय करता है, फिर बाद में सामायिक करता है। **विकल्पों से रहित होने का एक ही उपाय है सामायिक।** निर्विकल्प सामायिक स्वाध्याय के साथ नहीं हो सकती है, लेकिन ध्यान लगाने के लिए, स्व–पर विवेक जागृत करने के लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है। ध्यान छूटा तो स्वाध्याय फिर ध्यान, यह क्रम जब तक साध्य की प्राप्ति न हो तब तक रहता है। संसार में सबसे ज्यादा वस्तु जिसके पास है वह सुखी नहीं, लेकिन जो जितना निराकुल है उतना सुखी है। निराकुल भाव सुख व शिव रूप है और आकुल भाव दुख व संसार का रूप है। **गुणभद्राचार्य** ने **आत्मानुशासन** में सुख की परिभाषा बताई है–अनन्तकाल तक जहाँ आकुलता नहीं है, अज्ञान नहीं है, दुख नहीं है वहीं सुख है। ऐसा निषेध वाचक वचन कहा है। मोक्षमार्ग में जो सुख है वह गृहस्थी में नहीं मिलेगा। संसारी और मुक्त में जो अन्तर है वही दुख और सुख में अन्तर है। १४ वें गुणस्थान के अन्त में स्नातकोत्तर हो गये फिर भी विद्यार्थी हैं। अध्यापक का अनुभव उसे नहीं हो सकता। छात्र तो छात्र होता है। १४ वीं सीढ़ी जो अंतिम है, वहाँ पैर काँपते हैं क्योंकि धरती से अन्तराल बहुत हो गया लेकिन अभी भी उसे छत का अनुभव नहीं हो पाया छत पर पहुँचना निश्चय है। मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने के उपरान्त असंयम को देखकर चक्कर आता है। लेकिन लोकेषणा में पड़ करके चक्कर में और आ जाते हैं। जैसे–तीव्र गति से प्लेन के चलने में हिलना–डुलना भी बन्द हो जाता है, किन्तु माथा घूमने लगता है, कई लोग बैठते हैं तो उल्टी होती है, चक्कर आते हैं, धरती भाग रही है ऐसा लगता है जबकि वाहन भागता है। जब ध्यान में बैठते हैं, तब सभी क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं, इसलिए ध्यान के समय में बाह्य आलम्बन को छोड़कर काल के प्रवाह के साथ बहना होता है। **वस्तु के परिणमन को देखना जानना चाहते हो तो शान्त बैठो।**

णिच्चा–सिद्धों के द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का अभाव हो जाने से वे पुनः संसार में नहीं आते। सिद्धों में उत्पाद, व्यय दो–तीन तरह से हैं–(१) अगुरुलघु गुण के कारण षट् स्थान हानि–वृद्धि रूप अर्थ पर्याय होने से सिद्धों में उत्पाद, व्यय होता है। (२) जिस–जिस उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप से प्रतिसमय ज्ञेय पदार्थ परिणमते हैं, उन–उन परिच्छित्ति के आकार से इच्छा रहित सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है, इसीलिए उत्पाद, व्यय होता है। (३) सिद्धों में व्यञ्जन पर्यायापेक्षा संसार पर्याय का नाश सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्यपने से ध्रौव्य है लेकिन यह एक बार ही होगा।

अगुरुलघु गुण यह सामान्य गुण है यह सबमें पाया जाता है। अर्थ पर्याय दो प्रकार की है–शुद्ध अर्थ पर्याय और अशुद्ध अर्थ पर्याय। अशुद्धता अगुरुलघु गुण के कारण नहीं, किन्तु निमित्त–नैमित्तिक दो द्रव्यों के कारण आती है। ज्ञान में भी अशुद्धता अगुरुलघु गुण के कारण नहीं, ज्ञानावरण कर्म के कारण आयी है अन्यथा अगुरुलघु गुण हमेशा रहता है तो हमेशा अशुद्ध दशा बनी रहेगी। पञ्चास्तिकाय की मूल गाथा में आया है–**अगुरुलघु गुण से सिद्धों में उत्पाद, व्यय नहीं, किन्तु सिद्धों के ज्ञान में उत्पाद, व्यय होता है।** ज्ञेय से तादात्म्य होकर नहीं होता लेकिन रिफ्लेक्शन रिफ्लेक्टेड वाली बात है। दर्पण काला हो गया तो क्यों? सामने काला पदार्थ आने से हुआ, दर्पण काला नहीं हुआ, दर्पण में काला रिफ्लेक्शन हुआ है, उत्पाद, व्यय उपचार से ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध को लेकर हुआ है। दूसरे द्रव्य को जानने के कारण व्यवहार से सर्वज्ञ कहा और स्व–द्रव्य के ज्ञान अपेक्षा आत्मज्ञ हैं, यह सर्वज्ञपना निश्चय नहीं उपचार है आत्मज्ञपना निश्चय है।

पञ्चेन्द्रिय और मन के माध्यम से ही उपयोग बाहर चला जाता है। बाहरी पदार्थों का ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध जुड़ जाता है और प्रत्यक्ष हो जाता है तो उसमें रस आने लगता है तो उसी की खोज–बीन में उपयोग को लगाकर भटकता रहता है ज्ञान की क्षमता जानने की और ज्ञेय की क्षमता जनाने की है, ज्ञान में ज्ञेय का जो रिफ्लेक्शन आता है उसको हटाने का जो प्रयास करता है वह दुखी होता है। जैसे–जब इन्द्र–इन्द्राणी और उसके परिवार के सदस्य बाल महावीर का पाण्डुकशिला पर जन्माभिषेक करते हैं, उसके बाद इन्द्राणी प्रक्षालन कर रही है पर उनके गालों के पारदर्शक होने से उसमें बार–बार चमक–सी झलक रही है तो इन्द्राणी बार–बार मुख पर तौलिए के माध्यम से यूँ–यूँ पोंछ रही है तो इन्द्र देखकर हँसता है अरे पगली! यह क्या कर रही है? यह तो कान के कुण्डल का रिफ्लेक्शन है। इस प्रकार ज्ञान में ज्ञेय का जो REFLECTION है उसे हटाने का जो प्रयास करता है, वह दुखी होगा, दर्पण में तो पदार्थ झलकते हैं। **कई लोग दर्पण में अपना कुरूप देखकर दर्पण को फोड़ देते हैं। उसे ज्ञेय मानकर हर्ष–विषाद नहीं, ज्ञायक बने रहने का पुरुषार्थ करना चाहिए।** केवली के ज्ञान रूपी दर्पण में तीन लोक झलकते हैं। अपनी अतीत अनागत की दशाएँ भी झलकती हैं। भगवान् की पूर्व दशाएँ दुख पूर्ण हैं, अनागत पूर्ण सुख रूप है। इसमें ज्ञान का दोष नहीं, मोह के उदय के कारण अनेक प्रकार के विकल्प आते हैं। अतीत की स्मृति में जो अच्छी है, उसको याद करता है और बुरी स्मृति को याद करना नहीं चाहता है, फिर भी वही याद आती है यह मोह के कारण ऐसा होता है। ज्ञेयों से बच नहीं सकते और ज्ञान को समाप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध प्रत्येक समय हो रहा है इसलिए आचार्य कहते हैं–"**मा मुज्झह मा रज्जह**" राग–द्वेष, मोह मत करो, समता रखो। कुन्दकुन्द स्वामी ने बहिरात्मा की परिभाषा **नियमसार** में बताई है–

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥१५०॥
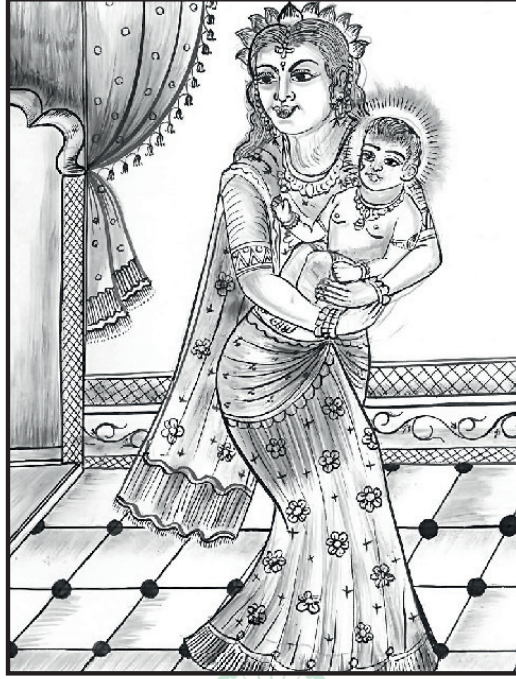
प्रभु के गाल पारदर्शी जैसे होने से इन्द्राणी के
कुण्डल की चमक उस पर पड़ रही है।

इन्द्र द्वारा समझाना कि यह गाल पर दाग नहीं
कुण्डल का रिफ्लेक्शन है।

कुण्डल की चमक मिटाने का
प्रयास करती इन्द्राणी।

जल्पमात्र भी बहिरात्मा का प्रतीक है, चाहे वह अन्तर्जल्प मानसिक हो या बहिर्जल्प हो। वीरसेनस्वामी ने श्री धवला में कहा है कि–१२ वें गुणस्थान तक में अन्तर्जल्प माना है तो प्रथम शुक्लध्यान तक अन्तरात्मा नहीं मानते हैं। छहढालाकार कहते हैं–**''देह जीव को एक गिने बहिरात्मा तत्त्व मुधा है''** वह बहिरात्मा है। यहाँ द्रव्यसंग्रह में–पञ्चेन्द्रिय के विषय में आसक्त होने वाला व्यक्ति बहिरात्मा है किन्तु समयसार में निर्विकल्प परम समाधि से च्युत होने वाले को बहिरात्मा, अज्ञानी कहा है। जो जहाँ रमता है, वहीं पर अपना निवास बना लेता है इसलिए पञ्चेन्द्रिय के विषयों को विष समझ कर उससे दूर रहने वाले सम्यग्दृष्टि ज्ञानवान आत्मा है, किन्तु पञ्चेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति होने के कारण शरीर और आत्मा का भेदज्ञान नहीं कर रहा है वह मिथ्यादृष्टि है। जब विषयों से हटकर ज्ञान में उपयोग लगायेगा तभी स्व संवेदन होगा। जो दिन–रात स्व संवेदन की बात करता है, उसे अपने आप अपनी चेष्टा से जान लेना चाहिए कि कितने अनुपात से राग–द्वेष रूप चेष्टा हो रही है, उसकी क्रियाओं से अन्य को भी यह ज्ञान हो जाता है, स्वयं को तो होगा ही। पर द्रव्यों के प्रति एकत्व भाव भी बहिरात्मा का लक्षण कहा है। जैसे–राम लक्ष्मण को लेकर घूम रहे हैं, उसे खिला रहे हैं, पिला रहे हैं, छह माह तक रामचन्द्रजी को लक्ष्मण का शव, शव नहीं दिख रहा था, यही मोह का माहात्म्य है। जिसका बाहर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वह उस समय अन्तरात्मा है। मोक्षमार्ग में केवल अध्यात्म आत्म तत्त्व का लक्ष्य है। केवल अपने परिणामों को सम्भालना होता है और कुछ नहीं। अपने दोषों को निष्कासन करने का पुरुषार्थ करो। अध्यात्म ग्रन्थ बहुत अच्छा लगता है लेकिन वह उस भूमिका के साथ हो तो आनन्द आता है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वामित्व आया कि राग–द्वेष प्रारम्भ हो जाता है।

नरक भूमि को छूते ही हजारों बिच्छू डंक मारते हैं, लेकिन किसको ? नारकी को ही। असुरकुमार नाम के देव भी वहीं पर हैं, उनका भी वैक्रियिक शरीर है, फिर भी उन्हें वह वेदना नहीं होती। जिसको शुभ कर्म प्रकृति का उदय है, उसे वह क्षेत्र दुखदायी नहीं होता। असुरकुमार देवों को तो नारकियों को आपस में भिड़ाने में अच्छा लगता है। नरकों में**–''नारका नित्याशुभतरलेश्या–परिणामदेहवेदनाविक्रियाः''** सप्तम नरक में सबसे ज्यादा अशुभ कृष्ण लेश्या होती है। उनकी ५०० धनुष की काया होती है, लेकिन ज्ञान का सदुपयोग न करने से वे दुखी रहते हैं। ज्ञेयाकार होना ज्ञान का स्वभाव है, ज्ञान जान नहीं सकता, दर्शन देख नहीं सकता। जो कर्त्ता होता है, वह जानता देखता है करण जान नहीं सकता। शक्तियाँ कभी काम नहीं करती, काम में आती हैं। जैसे–तलवार किसी पर प्रहार नहीं करती, प्रहारक जीव होता है वह करण है। आत्मा ही ज्ञान दर्शन गुण द्वारा जानने वाला, देखने वाला होता है। कर्त्ता की परिभाषा–**''यः करोति सः कर्त्ता''** गुण कर्त्ता नहीं होते, करण है। हाँ, गुण कथञ्चित् आधार हो सकते हैं। दुनिया–भेद षट्कारक से चलती है, आत्मा अभेद षट्कारक से चलती है। लेखनी से यह लिखा गया 'लेखनी से' यह तृतीया का प्रतीक है। पञ्चमी
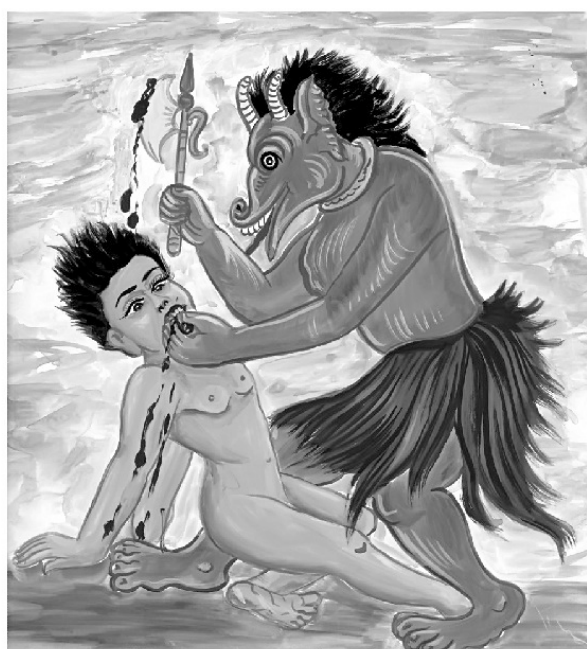
नरकों के दुख

में भी 'से' होता है लेकिन अलग होने के अर्थ में। जैसे–हवा से फल टूट गया वृक्ष से। आत्मा ज्ञान से जानता है, जितने करण होंगे उतने कार्य होंगे लेकिन कर्त्ता के द्वारा होंगे। कर्त्ता तो मालिक ही होगा। ज्ञान और शक्तियाँ कभी स्वयं सक्रिय नहीं होती हैं। शक्तिमान स्वामी के द्वारा काम में आती हैं। स्वामी के पास विवेक होता है, ज्ञान के साथ क्रिया होती है। क्रिया का कर्त्ता स्वतंत्र द्रव्य है। गुण कभी भी प्रदेशवान नहीं हो सकता किन्तु प्रदेशवान द्रव्य होता है। प्रदेश सीमित हैं, गुण असीमित हैं अनन्त हैं। एक प्रदेश में अनन्त गुण हो सकते हैं। निधि आपके पास है, आपकी सन्निधि चाहती है वह निधि, किन्तु आप भटक रहे हो श्रद्धा, ज्ञान चारित्र ये निधियाँ हैं, शक्तियाँ हैं, ये कभी नहीं कहेंगी कि हमें काम में ले लो। आपके पास विवेक है, आत्मा सजग होगा तो ज्ञान गुण के द्वारा होगा। ज्ञान संयत नहीं होता, स्थिर नहीं होता, उसे संयत बनाया जाता है और जो आत्मा भटक रही है, उसे स्थिर किया जाता है। स्थिरता नहीं होने के कारण जीव दुखी हो रहा है। "**अहिंसाभूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं**" अर्थात् जहाँ अहिंसा है वहाँ परम ब्रह्म है और वहीं शील भी पल जाता है। देव लोग भी पुण्यात्मा की सेवा करते हैं। पुण्योदय होने पर पार्श्वनाथ की रक्षा करने आ गए। उपसर्ग हुआ तब नहीं आये, बाद में तो सभी आ गये। आज्ञा दीजिए, सेवा बताइये सभी कहने लगे।

परमागम में भक्ति, स्तुति आदि सब आ जाते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव की वाणी चार अनुयोग स्वरूप है।

जिसमें द्रव्यानुयोग के मूल में दो भेद हैं–१. आगम, २. अध्यात्म।

१. आगम

सिद्धान्त : श्री धवला, जयधवल, महाधवल, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, तत्त्वार्थसूत्र, कर्मसिद्धान्त आदि।

न्याय : अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमेयकमलमार्तण्ड, श्लोकवार्तिकालंकार, न्यायदीपिका।

२. अध्यात्म

भावना : समयसार, प्रवचनसार, आत्मानुशासन, परमात्मप्रकाश योगसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि।

ध्यान : ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, ध्यानस्तव आदि ग्रन्थ।

आगम में षट्दर्शन को दिशाबोध मिलता है। न्यायादि के ग्रन्थ वगैरह सभी इसी में आते हैं। भव्य-अभव्य किसी भगवान् ने नहीं बनाये हैं ये स्वभाव से हैं। कुछ जीव भव्य होकर भी अभव्य जैसे रहते हैं। हमारा नंबर अभी तक नहीं आया है, ऐसा मत कहो। नंबर आता नहीं, नंबर लिया जाता है, जिसे केवलज्ञान की अभिव्यक्ति कभी नहीं होती है, उसे अभव्य कहा है। भव्य-अभव्य दोनों में केवलज्ञान शक्ति है, यदि अभव्य में शक्ति रूप से भी नहीं मानेंगे तो केवलज्ञानावरण कर्म नहीं घटेगा। १ से ३ गुणस्थान तक हीनाधिक तारतम्य से बहिरात्मा है। यहाँ मिश्र गुणस्थान को बहिरात्मा

अन्तरात्मा का मिश्रण नहीं कहा। इस गुणस्थान में क्षयोपशम भाव कहा है, लेकिन ज्ञान मार्गणा में पूज्यपाद स्वामी मौन हो गये। इस तीसरे गुणस्थान में सु-ज्ञान नहीं कहा और एक आचार्य ने यहीं से अवधिदर्शन का क्षयोपशम भाव का उल्लेख कर दिया। लेकिन ज्ञान के साथ मौन क्यों है? अवधिदर्शन सम्यग्ज्ञान को साथ लेकर चलता है तो सम्यग्ज्ञान मानने में क्या बाधा है, पर आगम में नहीं हैं यह उत्तर तो हम देते ही आ रहे हैं पर इसमें कोई न कोई रहस्य तो अवश्य होगा। चौथे गुणस्थान में जघन्य अन्तरात्मा और १२ वें गुणस्थान में उत्तम अन्तरात्मा तथा ५ वें गुणस्थान से ११ वें गुणस्थान तक मध्यम अन्तरात्मा। १३ वें-१४ वें गुणस्थान में एकदेश शुद्धनय से सिद्ध के सदृश परमात्मा तथा सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा ही हैं। परमात्मा की अपेक्षा अन्तरात्मा भी हेय है। साधन की अपेक्षा उपादेय है पर साध्य की अपेक्षा नहीं। उपायभूत होने से शुद्धोपयोग उपेय है। शुद्धोपयोग हमेशा उपादेय नहीं है, जो उपाय के योग्य है वह उपेय है। औषध और भोजन में जैसे अन्तर है, वैसे ही अन्तरात्मा और परमात्मा में अन्तर है। औषध में रस नहीं लेकिन भोजन नहीं कर पाने से औषध ली जाती है। भोजन में रस होता है, उसी प्रकार शुद्धोपयोग में रस नहीं जिसके लिए शुद्धोपयोग है, वह परमात्मा उपादेय (रस सहित) है।

अजीव द्रव्य के भेद

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु॥१५॥

अर्थ—पुनः पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश और काल इन्हें अजीव द्रव्य जानना चाहिए। इनमें रूप आदिक गुण वाला पुद्गल मूर्तिमान है और शेष चार अमूर्त हैं।

पुद्गल-अधर्म-धर्म-काल नभ पाँच द्रव्य इनको मानो।
चेतनता से दूर रहें ये 'अजीव' तातैं पहिचानो॥
रूपादिक गुण धारण करता मूर्त द्रव्य 'पुद्गल' नाना।
शेष द्रव्य हैं अमूर्त क्यों फिर मूर्तों पर मन मचलाना॥१५॥

व्याख्या—जीव द्रव्य देखने में नहीं आता तो उसे उपादेय कहा और जो देखने में आते हैं ऐसे अजीव द्रव्यों को हेय कहा। जीव ही अजीव को देखता है किसी को अच्छा, किसी को बुरा कहता है। **आज ज्ञेय की इतनी सत्ता जम गई कि वह ध्येय बन गई।** एक पल भी नहीं जाता कि अजीव से प्रभावित न होता हो। यदि हेय का ज्ञान नहीं है तो जोड़ने का काम भी छोड़ दो। अजीव का आत्मा पर कितना गहन प्रभाव है। सामायिक में ज्यों ही पर का अवलम्बन लिया, त्यों ही उसे प्रमाद की कोटि में ले लेते हैं। २४ घंटे में एक सामायिक के समय ही एक शुद्ध आत्मा का अवलम्बन ले सकते हैं बाकी समय तो पर का ही अवलम्बन लेते रहते हैं। जिन्होंने आत्म तत्त्व को उपलब्ध कर लिया, उनको अपने सामने रख लीजिए। चारों अजीव द्रव्यों का तो ठाट नहीं है, जो कुछ भी ठाट-बाट है

वह पुद्‌गल का ही है। पुद्‌गल के सम्बन्ध से ही बन्ध है। पञ्चेन्द्रिय का विषय मूर्त और स्कन्ध है।

अव्यक्त रूप से सुख-दुख का जो भीतर अनुभव हो रहा है, वह कर्मफल चेतना है। इष्टानिष्ट विकल्प के साथ राग-द्वेष रूप आत्मा का भीतरी जो परिणमन हो रहा है, वह कर्म चेतना है। मौन रखना बहुत कठिन है। दुनिया का प्राणी पाँच मिनट भी मौन नहीं रहना चाहता और हमारे तीर्थंकर तो बोलते ही नहीं हैं। **पण्डित आशाधरजी ने सागार धर्मामृत में कहा है कि—गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन कम से कम एक घण्टा मौन रखना चाहिए। मोक्षमार्ग में बोलना अच्छा नहीं माना जाता है। वचन शुद्ध हो तो वचन सिद्धि होती है।** जो कुछ वह कहे वह सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उन्होंने हिंसा का त्याग किया है, इसलिए मुनिराज कम बोलते हैं। आज तो प्रवचन, लेखन, चिन्तन की महत्ता है। मौन साधक को यह कहा जाता है कि कुछ आता नहीं होगा इसलिए मौन है। **वृषभनाथ भगवान् एक हजार वर्ष तक मौन रहे। ज्ञानी अज्ञानी से क्या बोलें? पञ्च पाप के त्याग को महाव्रत कहा। बोलने को महाव्रत नहीं कहा। दूसरे के दोषों को कहना भी महाव्रती को कलंक है।** सराग चर्या में ही उपदेश दिया जाता है शुद्धोपयोग की दशा के बारे में जब सोचते हैं तो उनका दर्शन ही दुर्लभ है। **तत्त्वार्थसूत्र जैनागम का समुद्र है शांति से एक-एक सूत्र को खोल दो, आपका स्वाध्याय हो जायेगा। इससे निवृत्ति परक अवलम्बन मिलता है।**

बोलना, देखना आदि प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष है। आपके हाथों के हिलाने आदि क्रिया के द्वारा भी जीवों को पीड़ा होती है, क्योंकि उसमें भी एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा होती है। खसखस के दाने से भी छोटे जीव होते हैं, उनके भी आँख पैर आदि सभी होते हैं। अहिंसा का पालन बहुत सूक्ष्म होता है। पिच्छिका दया का चिह्न है, संयम का उपकरण है। मुनि का जीवन दयामय होता है। जिस प्रकार बहुत नाजुक पदार्थ को या बहुमूल्य काँच के बर्तन को अच्छे से धीरे से रखते उठाते हैं उसी प्रकार साधु अपनी प्रवृत्ति सावधानी से करते हैं। गुप्ति में रहकर पाँच समितियों को पालने में उन्हें लगता है जैसे पञ्चक लग गया, इसलिए समितियों में मुनिराज जाते नहीं, जाना पड़ता है। शरीर की कितनी भी रक्षा करिए A.C. में रखिए, फिर भी उसकी रक्षा नहीं हो सकती, उसमें गलन-पूरण होता रहता है। जैसे—आम के मौसम में आम में तेज रहता है और कुछ महीनों बाद उसमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, उसी प्रकार A.C. में रहने वाले श्रीमानों के शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं किन्तु तीर्थंकरों का शरीर पूर्व कोटि वर्ष तक ज्यों का त्यों बना रहता है। **हेय तत्त्व की जानकारी होना चाहिए, तभी राग-द्वेष छूट सकते हैं।**

अपने नाती की नाक बहना तो इतर बन गया और दूसरे की नाक बहना जुगुप्सा, ग्लानि बन गयी, यही राग है। यह पुद्‌गल तो अशुचि का धाम है, इससे राग-द्वेष क्या करना? उसका स्वभाव समझ कर अपने वैराग्य को पुष्ट करना चाहिए। जिस प्रकार दुर्जन के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहते उसी प्रकार पुद्‌गल से भी लाड़-प्यार नहीं करना चाहिए। पुद्‌गल को छोड़कर बाकी सभी को

ज्ञेय का विषय बना लीजिए कोई बाधा नहीं। **सामायिक में कुछ भी नहीं करना पड़ता, जो कर रहे हो उस सबको छोड़ना पड़ता है।** यदि पुद्गल द्रव्य का ही चिन्तन आता है तो केवल अणु को लेकर चिन्तन करो तो सब राग-द्वेष समाप्त हो जायेंगे। परमाणु से कभी भी राग नहीं किया और न ही कर सकता है क्योंकि शुद्ध से कभी भी राग नहीं होता और अज्ञानी को अशुद्ध का राग कभी छूट नहीं सकता। वास्तव में यह विकास का युग नहीं है, अब तो हर प्राणी और अधिक परतन्त्र होता चला जा रहा है। जिस T.V. को आप लोगों ने बहुत रुचि के साथ खरीदा था, उसके प्रति इतनी जल्दी उपेक्षा क्यों हो गई? मनोरंजन का एक स्थान होता है यदि उसको घर में ही बना लो तो सभी पागल हो जाते हैं। आज प्रत्येक घर और प्रत्येक कमरे में ही सिनेमा घर बन गया, यह कौन-सी शिक्षा आ गयी, राग-द्वेष उन्मत्तता बढ़ गयी आज का मानव अशुद्ध ही खाता, चखता, सूँघता, छूता और सुनता है तो अशुद्ध के सेवन से शुद्ध का अनुभव कैसे सम्भव है? इसलिए हमेशा शुद्ध से सम्बन्ध रखिए। शुद्ध जीव, शुद्ध पुद्गल, शुद्ध द्रव्य ये सम्यग्दृष्टि के ही विषय बन सकते हैं।

पुद्गल द्रव्य की पर्यायें

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया।
उज्जोदादव सहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

अर्थ—शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप सहित पुद्गल द्रव्य की पर्यायें होती हैं ।

टूटन-फूटन रूप भेद औ सूक्ष्म स्थूलता आकृतियाँ ।
श्रवणेन्द्रिय के विषय-शब्द भी प्रतिछवि छाया या कृतियाँ॥
चन्द्र, चाँदनी रवि का आतप अंधकार आदिक समझो ।
'पुद्गल' की ये पर्यायें हैं पर्यायों में मत उलझो॥१६॥

व्याख्या—गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं। लेकिन यहाँ पर दो द्रव्यों के मेल से या अनेक द्रव्यों के मेल से जो विभाव होता है, उसे पर्याय कहा है। नेत्रेन्द्रिय और मन का विषय अप्राप्यकारी है, शेष इन्द्रियों का विषय बद्ध व स्पृष्ट है। श्रोतेन्द्रिय में जो शब्द विषय बनता है, वह पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यञ्जन पर्याय है। कथञ्चित् दो जड़ द्रव्य मिलकर भी ध्वनि उत्पन्न करते हैं। जैसे—बादल की गर्जना आदि वैस्रसिक में आते हैं। जीव सापेक्ष होने पर ही शब्द उत्पन्न होता है किन्तु ध्वनि के लिए ऐसा नियम नहीं है। पुद्गल हमारे लिए एकान्त से बाधक नहीं है। पुद्गल की शुद्ध अर्थ पर्याय और शुद्ध व्यञ्जन पर्याय भी बाधक नहीं होती है मात्र एक विभाव व्यंजन पर्याय ही बाधक है। किसी से राग या स्नेह है यह अशुद्ध व्यञ्जन पर्याय के साथ होता है। पञ्चेन्द्रियों के सारे विषय अशुद्ध व्यञ्जन पर्याय ही माने जाते हैं। भोजन करने में, देखने में भी अशुद्ध व्यञ्जन पर्याय ही आती है। भगवान् की प्रतिमा भी अशुद्ध व्यञ्जन पर्याय का ही विषय बनती है। जिनवाणी हो या जनवाणी

सभी अशुद्ध व्यञ्जन पर्यायें हैं। पाँच इन्द्रिय व उनके विषय अशुद्ध व्यञ्जन पर्यायात्मक हैं, वे केवलज्ञान में सभी झलकते हैं, पर केवली भगवान् वीतराग ही रहते हैं। इन्द्रियों की दुकान पर शुद्ध व्यञ्जन पर्याय का विषय नहीं बनेगा। शब्द दो प्रकार का है–भाषात्मक और अभाषात्मक। भाषात्मक में भी ये दो भेद हैं–अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। **वे महान् साधक माने जाते हैं, जो बोलने की आवश्यकता होने पर भी नहीं बोलते और आप लोग अनावश्यक बोलते रहते हैं।** अच्छे-अच्छे साधक इधर-उधर की बातों पर ध्यान नहीं देते। बोलने पर घाटा होता है, तभी तो आप लोग S.T.D. में कितना कम बोलते हैं साधक को इन्द्रियों का व्यापार कम ही रखना चाहिए। ज्ञानी को शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है तो उन्हें पीड़ा होती है और आप लोगों को नहीं बोलते हैं तो पीड़ा होती है। कार्य कर चुकने के बाद सुना देने के बाद ही शान्ति लगती है, चैन की नींद सोते हैं। अच्छे साधक वचनों से बचना चाहते हैं। सत्य वचन व्रत का जिसने पालन किया है, उसे ही वचन बल ऋद्धि प्राप्त होती है **''वाङ्मनो-गुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकित-पानभोजनानि पञ्च''** अहिंसा महाव्रत का पालन मन व वचन गुप्ति से होता है, बोलने से बंध होता है। किसी के हित के लिए बोलते हैं तो भी आत्मा का कुछ घाटा होता है इसलिए कम से कम बोलें। आकुलता के बिना बोलने व सुनने का व्यापार नहीं होता है। अन्तिम के समय में सुनने की क्षमता समाप्त हो गई और भीतर-भीतर आकुलता हो जायेगी तो कैसे परिणामों को संभालोगे? इसलिए साधक को इन्द्रियों के व्यापार कम से कम करना चाहिए। हम चाहते हैं, मौन से साधना हो जाए क्योंकि बोलने पर प्रायश्चित प्रतिक्रमण करना पड़ता है। **आत्मा की बात करने से भी कर्म बन्ध नहीं रुकता बल्कि आत्मा में लीन होने से कर्म बन्ध रुकता है।** वैभाविक परिणति रागी-द्वेषी आत्मा की हुआ करती है। जीव का स्वरूप आकार-प्रकार से रहित है। बड़े बाबा के दर्शन करने जाते हैं तो बड़े बाबा को कम देखते हैं और छत्र की ओर दृष्टि चली जाए तो आकार-प्रकार के कारण राग-द्वेष होते हैं।

१४ वें गुणस्थान तक भी हुण्डक संस्थान का उदय होता है, उसी से वे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। हुण्डक संस्थान होने पर भी आक्रोश आदि परीषह पर विजय करने से मुनि असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा करके केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। बाहर से व्यक्ति प्रसन्न दिख रहा है पर उसको राग-द्वेष दोनों से बंध होता रहता है। इन्द्र भी और किल्विषक देव भी दोनों ही विभाव व्यञ्जन पर्याय वाले हैं। सम्यग्दृष्टि नरकों में हैं पर आत्मा के ये भाव नहीं सब विभाव है इस प्रकार सोचता है तो उसे नरक में भी शान्ति का अनुभव होता है। अध्यात्म जीवन सुख को देने वाला होता है और भौतिक जीवन वाला मलमल की गादी पर बैठा हुआ है फिर भी अन्दर से भयाक्रांत है, नीचे जाने वाला है। अध्यात्म वाला कहीं भी चला जाए शान्ति मिलती है। सागरोपम आयु को भी अनिच्छा भाव से भोगता चला जाता है। सम्यग्दृष्टि कहीं भी चला जाता है तो यही सोचता है कि देव-शास्त्र-गुरु शरण

हैं तो सब कुछ ठीक हो जायेगा।

धर्मद्रव्य का लक्षण

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई॥१७॥

अर्थ—गति-गमन करने में परिणत पुद्गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है। जैसे—मछलियों को गमन में जल सहकारी है। गति नहीं करते हुए पुद्गल और जीवों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता।

गमन कार्य में निरत रहे जब जीव तथा पुद्गल आदि।
धर्म द्रव्य तब बने सहायक प्रेरक बनता पर नाही॥
मीन तैरती सरवर में जब जल बनता तब सहयोगी।
रुकी मीन को गति न दिलाता उदासीन भर हो योगी॥१७॥

व्याख्या—निमित्त के दो भेद—एक निमित्त वह है जो उदासीन होता है, दूसरा प्रेरक होता है। प्रेरक निमित्त सक्रिय होने से सहायक है उदासीन में केवल आसीन रहता है और प्रेरक में गति रूप, प्रेरणा रूप होता है। जैसे—प्रकाश जो है वह स्वाध्याय में उदासीन निमित्त है और पढ़ाने वाला प्रेरक निमित्त है। प्रकाश में आप सो सकते हैं, लेकिन पढ़ाने वाला सामने है तो आप विशेष रूप से पढ़ाई की ओर ध्यान रखेंगे। आप लोगों को रहने में भवन, चलने में वाहन सहायक है, उसी प्रकार मछली के तैरने में जल तथा धर्मद्रव्य सहायक है। निमित्त सहायक होता है, यह न कहकर निमित्त का सहारा लिया जाता है ऐसा कह सकते हैं। सूर्य का प्रकाश चोर के लिए खटकता है और अन्य व्यक्तियों के लिए मनोरंजन का कारण है तो प्रत्येक के लिए एक ही निमित्त भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम उत्पन्न करने में कारण है। भगवान् की वाणी संशय पैदा नहीं करती किन्तु उसे सुनकर व्यक्ति स्वयं अपनी अज्ञानता से संशय पैदा कर लेता है।

''**पराभिप्रायनिवृत्त्यिशक्यत्वात्**'' जो विरोधी हैं, उन्हें भगवान् का रहना खटक सकता है। पदार्थ या व्यक्ति हठात् निमित्त नहीं बनता, निमित्त बनाया जाता है। आप यहाँ बैठे-बैठे भी सिद्ध परमेष्ठी को ध्यान का विषय बना सकते हैं। यदि आप सिद्ध परमेष्ठी को स्मरण कर रहे हैं तो इससे उन्हें खुशी नहीं होती और यदि नहीं करोगे तो गुस्सा हो जायेंगे ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग में कुछ उदासीन व कुछ प्रेरक निमित्त होते हैं, जिनसे भव्य अपना कल्याण कर लेता है। अविरति दशा में विपाक विचय धर्म्यध्यान नहीं होता है। नरकों में क्षयोपशम व क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी रहते हैं पर करुणा अनुकम्पा रूप धर्म्यध्यान नहीं होता है, यह उस क्षेत्र का प्रभाव है, इसलिए वहाँ अपाय विचय धर्म्यध्यान भी नहीं बनता है विपाक विचय धर्म्यध्यान देशसंयम के साथ होता है। आगामी तीर्थंकर रावण ने अभी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं किया, उसे मंदोदरी और विभीषण की बात समझ में नहीं

आयी क्योंकि ऐसा ही उसका कर्मोदय था उसे किसी की बात गले नहीं उतरी। वह अपनी गलती अब समझ रहा है। धन्य हैं वे जो प्रतिकूल वातावरण में भी कर्म की ओर देखते हैं, तभी तो नोकर्म निष्कम्मा हो जाता है। बारह भावना भाने वाले की दृष्टि कर्म की ओर चली जाती है, क्योंकि वह जानता है कि मेरा स्वभाव पृथक् है मैं आत्म तत्त्व हूँ। कर्मोदय के बारूद को उड़ाने की कला आ जाती है तो आनन्द आता है। **जब हम निमित्त की ओर देखते हैं तो हमारा उपादान कमजोर हो जाता है और जब उपादान की ओर देखते हैं तो निमित्त अपने आप ढीले पड़ जाते हैं और उपादान बलिष्ठ होता है।** मारीचि आदिनाथ भगवान् को निमित्त नहीं बना पाया और चारण ऋद्धिधारी मुनिराज उनके लिए प्रबल निमित्त बन गये तो क्या आदिनाथ भगवान् की शक्ति कम थी? ऐसा तो नहीं कह सकते। आदिनाथ भगवान् के साथ चार हजार मुनियों ने एक साथ एक मुहूर्त में दीक्षा ली। फिर भी वे सब विचलित हो गये तो क्या मुहूर्त ठीक नहीं था? अनन्तानन्त सिद्ध हुए हैं, इस अपेक्षा से एक-एक समय शुभ है, मुहूर्त ठीक है इसलिए नोकर्म भूल जाओ कर्म पर आ जाओ। अपना किया हुआ ही उदय में आ रहा है, यह गाढ़ श्रद्धान रखो। जितने अनुभाग को लेकर कर्म बाँधा है उतना ही उदय में आ जाए ऐसा नहीं हो सकता। द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि को लेकर कर्म उदय में आता है। बाहरी नोकर्म भूलते ही कर्म ख्याल में आ जाता है।

अधर्मद्रव्य का लक्षण

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण सहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

अर्थ—स्थितिमय-ठहरे हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी अधर्मद्रव्य है। जैसे-यात्रियों को ठहरने में छाया सहकारी होती है लेकिन न रुकने वाले को वह हठात् नहीं रोकता।

किसी थान में रुकते हों जब जीव तथा पुद्गल भाई।
अधर्म उसमें बने सहायक प्रेरक बनता पर नाहीं॥
रुकने वाले पथिकों को तो छाया कारण बनती है।
चलने वालों को न रोकती उदासीनता ठनती है॥१८॥

व्याख्या—धर्म-अधर्म आदि द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में है। हेय द्रव्य को छोड़कर ज्ञेय द्रव्य को देखने से उपादेय द्रव्य अपने आप पकड़ में आता है। गूँगा-बहरा जो होता है वह बाहरी आवाज को नहीं सुनने की अपेक्षा होगा लेकिन वह भीतरी कर्म की आवाज तो सुनता है। उसी प्रकार बाहरी नोकर्म की आवाज को भूलने से भीतरी कर्म की आवाज आने लगती है। कर्म को जानने से कर्म निर्जरा होती है और नोकर्म का परिचय करने से कर्म बढ़ते हैं। सिद्धों की भक्ति करने में जिस प्रकार सिद्ध

भगवान् बहिरंग सहकारी कारण हैं, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य ठहराने में सहायक है।

आकाशद्रव्य का लक्षण व भेद

अवगास दाण जोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागास मिदि दुविहं ॥१९॥

अर्थ—जो जीवादि छहों द्रव्यों को अवकाश देने वाला है, उसे जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया आकाशद्रव्य जानो। लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से वह आकाश दो प्रकार का है।

योग्य रहा अवकाश दान में जीवादिक सब द्रव्यों को।
वही रहा आकाश द्रव्य है समझाते जिन भव्यों को॥
दो भागों में हुआ विभाजित बिना किसी से वह भाता।
एक ख्यात है लोक नाम से अलोक न्यारा कहलाता ॥१९॥

व्याख्या—जीवादि द्रव्यों के लिए जो अवकाश देता है उसका नाम आकाश है ऐसा जिनमत है। आकाश का अर्थ ऐसा नहीं कि वह स्वयं प्रेरक होकर स्थान देता हो। जैसे—धर्म, अधर्मद्रव्य गति और स्थिति में उदासीन कारण हैं, वैसे ही सामान्य रूप से प्रत्येक द्रव्य के लिए अवकाश देने वाला आकाशद्रव्य होता है यह प्रदेशापेक्षा महत् द्रव्य है, अभी तक वैज्ञानिकों के जितने भी लेख निकले हैं, उनमें PLACE, SKY, SPACE अर्थ तो मिलते हैं लेकिन धर्म-अधर्म आकाशद्रव्य के बारे में तथ्यभूत बातें सामने नहीं आयी हैं। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश वाले होने से निश्चयनय की अपेक्षा से सिद्ध परमेष्ठी अपने उपादान भूत जो द्रव्यत्व है, उसमें ही रहते हैं, फिर भी वे व्यवहारनय की अपेक्षा से सर्वार्थसिद्धि से बारह योजन ऊपर सिद्धालय में रहते हैं। वहाँ सिद्ध परमेष्ठी शाश्वत काल के लिए ठहर जाते हैं, इसलिए उसे सिद्धालय कहते हैं। गुण और पर्याय के अलावा द्रव्य का अस्तित्व पृथक् रूप से देखने को नहीं मिलता। आकाश को हम वैसे पृथक् रूप से देख भी नहीं सकते फिर भी व्यवहारनय की अपेक्षा से आकाश को देखो कहने से सबकी गर्दन ऊपर की ओर हो जाती है, जबकि अपने पास यहाँ आकाशद्रव्य नहीं है क्या? तो उसकी ओर क्यों नहीं देखते? ये एक आदत पड़ी हुई है। जैसे कुछ लोग कहते हैं—इसमें जमीन-आसमान का अन्तर है तो क्या जमीन आसमान में नहीं है? जमीन भी आसमान में ही है तो फिर जमीन और आसमान का अन्तर क्या? ये तो लौकिक व्यवहार में कहा जाता है, उसी प्रकार द्रव्य स्वयं अपने आपमें प्रतिष्ठित है। अपने गुण और पर्यायों के साथ रहता है फिर भी ये कहा जाता है इसी प्रकार निश्चय मोक्ष तो यहीं पर होता है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण वहाँ पर मुक्त होने के उपरान्त पहुँच जाता है। प्रतिक्रमण पाठ में 'ईषत् प्राग्भार' भी निषिद्धिका रूप में लिया है। उपचार से अधोलोक सिद्ध, ऊर्ध्वलोक सिद्ध, समुद्र सिद्ध आदि भी कहे हैं। जैसे—मेरु की चोटी पर किसी ने ले जाकर रख दिया वहाँ से सिद्ध होंगे तो उन्हें ऊर्ध्वलोक

सिद्ध कहेंगे। मेरुपर्वत से ऋजु विमान का अन्तर एक बाल जितना है, एक प्रदेश का अन्तर नहीं कहा क्योंकि एक बाल में भी असंख्यात प्रदेश होते हैं। अतः असंख्यात प्रदेश ऊपर है। तीर्थंकर भगवान् को जब केवलज्ञान होता है तब ५००० धनुष ऊपर उठ जाते हैं, यह केवलज्ञान का अतिशय है लेकिन विहार में भूमि से चार अंगुल ऊपर ही चलते हैं। "**भूमौप्रजानांविजहर्थभूत्यै**" यहाँ पर आकाश में गमन नहीं कहा। विहायोगति का अर्थ नभचर को ही विहायोगति का उदय होता है, ऐसा नहीं। हाँ, इतना अवश्य है वे आकाश में उड़ते हैं और आप आकाश में चलते हैं, यही अन्तर है। उनके धरती पर पैर नहीं रहते आसमान में रहते हैं, किन्तु आपका एक पैर धरती पर रहता है, एक आसमान में रहता है। एक पैर धरती में रहने के कारण आप नभचर न हो करके भूमिगोचर हो गये और वो दोनों पंखों से ऊपर उड़ जाते हैं, दोनों पैर उनके उठ जाते हैं, इसलिए उनको नभचर बोलते हैं। वस्तुतः चलना जो कार्य है, वह आकाश में ही होता है और पैर रखने का कार्य धरती पर होता है, इतना इसका तात्पर्य ले लेना।

एक बार यह बात कही थी कि—ऋजु विमान के नीचे का जो तल है वह नीला ही है, उसकी आभा यहाँ तक आ रही है इसलिए नीलगगन कहते हैं। वो नीला जरूर दिखता है, लेकिन नीला नहीं है। जितने भी कलर हैं वो सारे-सारे पौद्गलिक हैं आकाश के तो है ही नहीं फिर भी लोक में नीला आकाश कहा जाता है।

लोकाकाश व अलोकाकाश का स्वरूप

धम्माधम्माकालो पुग्गल जीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥२०॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पाँचों द्रव्य जितने आकाश में है, वह लोकाकाश है और उस लोकाकाश के आगे अलोकाकाश है।

जीव द्रव्य औ अजीव पुद्गल काल-द्रव्य आदिक सारे।
जहाँ रहें बस 'लोक' वही है लोकपूज्य जिन मत प्यारे॥
तथा लोक के बाहर केवल फैला जो आकाश रहा।
अलोक वह है केवल-दर्पण में लेता अवकाश रहा ॥२०॥

व्याख्या—मध्यलोक में एक राजू प्रमाण ही आजू-बाजू (पूर्व-पश्चिम) लोकाकाश है, उसके आगे अलोकाकाश है। लोकाकाश के बाहर शून्य रूप है। लोकाकाश के बाहर केवल सन्नाटा ही मिलेगा। यह लोकाकाश की रचना हुई नहीं है, यह उसका स्वरूप है। जो है, उसका नाश नहीं है और जो नहीं है, उसका उत्पाद नहीं होता है, यह द्रव्य का स्वरूप है। केवलज्ञान होने के बाद अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है। शरीरातीत हो जाने से आत्मा अमूर्त हो जाता है फिर भी वह लोकाकाश के आगे क्यों नहीं जाता है? तो कहा है—"**धर्मास्तिकायाभावात्**" लोक की यह मर्यादा है। इस मर्यादा का

उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता है। परमाणु में एक समय में चौदह राजू पार करने की शक्ति है और "**अविग्रहाजीवस्य**" मुक्त जीव भी एक समय में लोकाग्र पर स्थित हो जाते हैं। शक्ति की कमी है, ऐसी बात नहीं है यह तो वस्तु स्थिति है। अलोकाकाश असीम है, फिर भी ऐसे अनन्त आकाश हों तो भी केवलज्ञान उन्हें जानने की क्षमता रखता है, केवलज्ञान युक्त सिद्ध परमेष्ठी अलौकिक, अमूर्त व अनुपम हैं, उनके लिए कोई उपमा नहीं दी जा सकती है। नकारात्मक रूप में यह कह सकते हैं कि वे आकार-प्रकार से रहित हैं। लोक में रहते हुए भी वे साधक केवली भगवान् हमें अलोकाकाश की बात बताने वाले हैं। पुरुषार्थ से आत्मोपलब्धि को प्राप्त करके सिद्ध भगवान् लोक के अन्त में विराजमान हैं। अमूर्त द्रव्य के लिए कोई उपमा नहीं होती। उसमें व्यवस्था भी नहीं होती है, वह स्वयं व्यवस्थित है।

सोमशर्मा राजश्रेष्ठी जो कि नेमिचन्द्र आचार्य के शिष्य थे, वे पूछते हैं-हे भगवान्! केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग प्रमाण आकाशद्रव्य है, मतलब केवलज्ञान बड़ा हो गया और आकाशद्रव्य छोटा हो गया। हाँ, उसका अनन्तवाँ हिस्सा वह इसलिए कहा जा रहा है कि केवलज्ञान इतने को जानने की शक्ति रखता है। जैसे-हमारी छोटी-सी आँख में इतना बड़ा भवन है, वह पूरा का पूरा आ गया, इसलिए आँख बड़ी है या भवन बड़ा है बताओ? प्रदेश की अपेक्षा से नहीं किन्तु जानने की अपेक्षा से, रिफ्लेक्शन की अपेक्षा से आँख का जो स्थान है, वह छोटा हो करके भी बहुत बड़े प्रदेश को अपने भीतर आत्मसात् कर लेता है। केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा अनन्त भाग है। यह लोकाकाश आकाश के बीचों-बीच में है, यह अनादि निधन है। यह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है न किसी से मिटाया जा सकता है, न किसी के द्वारा धारण किया हुआ है अब असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्त जीव, जीव से भी अनन्त गुणा पुद्गल और लोकाकाश के बराबर असंख्यात कालाणु रूप काल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि अनन्त कैसे रहते हैं ? जैसे-एक दीपक के प्रकाश में अनेकों दीपक का प्रकाश समा जाता है। दूसरा-एक गूढ़ रस विशेष से भरे हुए शीशे के बर्तन में बहुत-सा स्वर्ण समा जाता है। तीसरा-ऊँटनी के दूध में सबसे ज्यादा चिकनाहट होती है, भैंस, गाय, बकरी के दूध में कम-कम चिकनाहट होती है। ऊँटनी के दूध से भरे हुए घट में जैसे सुई और भस्म आदि समा जाता है, वैसे ही लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में अनन्त द्रव्य समा जाते हैं। अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु आत्मा के एक-एक प्रदेश में कर्म रूप होकर चिपक रहे हैं और निकल रहे हैं। एक समय भी ऐसा नहीं है कि लोकाकाश की एकाध पंक्ति खाली हो जाए, पुद्गल की यही विशेषता है कि एक पुद्गल परमाणु में अनन्त पुद्गल परमाणु पृथक्-पृथक् और अनन्त स्कन्ध के रूप में भी रह सकते हैं।

आपकी बुद्धि में अभी तक क्या-क्या चीजें भर गई बताओ? कोई वकालत कर लेता है, कोई डॉक्टर बन जाता है, प्रोफेसर भी है, खेती-बाड़ी का भी ज्ञान रखता है और दुनिया की बहुत सारी

चीजों को अपने दिमाग में रख रखा है। तो ज्ञान और ज्ञेय की अपेक्षा से इस प्रकार भरने में कोई बाधा नहीं आती ये योग्यता उसके पास विद्यमान है वह कभी समाप्त हो ही नहीं सकती। खाली दिमाग भी हो सकता है और भर भी सकता है। खाली दिमाग का अर्थ—भूल जाएँ तो खाली दिमाग है, स्मरण रखो तो भरा दिमाग माना जायेगा। इतना अवश्य है कि केवलज्ञान से आप तभी भर सकोगे जब खाली दिमाग हो। पहले खाली दिमाग होने का संकल्प ले लो तो केवलज्ञान से भर जाओगे।

सुनने में आता है कि भारत से इतने साहित्य का निर्यात हुआ है कि वे लोग ऊँट और खच्चरों के ऊपर रख करके ले गये। उसके परिणाम स्वरूप आज वो शोध कर रहे हैं। इस शरीर में जो क्रियाएँ हो रही हैं, इसके माध्यम से भीतर में जीवन जीने वाला कोई जीव तत्त्व है, यह ज्ञात हो गया। इसी प्रकार यह मृतक है। कौन मृतक है? मतलब यह है कि भीतर रहने वाले को मृतक नहीं कहा। शव तो पहले भी ऐसा था आज भी ऐसा है, किन्तु आयु कर्म के अभाव में जीव की यात्रा यहाँ से अन्यत्र हो गई और यहाँ कमरा खाली हो गया। जो है उसके ऊपर रो रहे हो या जो चला गया उसके ऊपर रो रहे हो? जो गया वो कुछ दिखता तो है नहीं। तो फिर जहाँ मात्र SOUL (आत्मा) है वहाँ पर जन्म और मृत्यु दोनों घटित नहीं हो सकते।

तैजस और कार्मण शरीर को लेकर अनन्त निगोदिया जीव आ रहे हैं और जा रहे हैं फिर भी अप्रतिघात हैं। उनके उस गमनागमन को किसी भी प्रकार से रोका नहीं जा सकता। यह सब विचित्रता देखकर लगता है कि यह आत्मा तैजस और कार्मण शरीर का अभाव कर दे तो मुक्त ही हो जायेगा। एक बार क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लो फिर तो ज्यादा से ज्यादा चार भव के भीतर मुक्त हो ही जाओगे।

व्यवहार-निश्चयकाल का स्वरूप

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥

अर्थ—जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप परिणाम आदि क्रिया,परत्व तथा अपरत्व लक्षण वाला है, वह व्यवहार काल है और जो वर्तना लक्षण वाला है वह निश्चय काल है।

जीव तथा पुद्गल पर्यायों की स्थिति अवगत जिससे हो।
लक्षण वह व्यवहार काल का परिणामादिक जिसके हो॥
तथा वर्तना लक्षण जिसका 'काल' रहा परमार्थ वही।
समझ काल को उदासीन पर वर्णन का फलितार्थ यही ॥२१॥

व्याख्या—समय कभी भी खरीद नहीं सकते, समय नापने का घड़ी यन्त्र खरीदा जाता है, जिस काल को नापा जा रहा है वह अमूर्त है उसे खरीद नहीं सकते हैं, जो शुद्ध कालाणु है उसमें एक पर्याय निकलती है उसे श्वासोच्छ्वास या घड़ी के माध्यम से जाना जाता है। व्यवहारकाल, निश्चयकाल

के बिना नहीं हो सकता और निश्चयकाल का ज्ञान व्यवहारकाल के माध्यम से होता है। जैसे—ज्वर को थर्मामीटर के द्वारा नापा जाता है। ज्वर थर्मामीटर में नहीं आता किन्तु पारा गरम होने से ऊपर आ गया। अवधिज्ञानी यह सम्यग्दृष्टि है ऐसा DIRECT नहीं जानते हैं, अवधिज्ञानरूपी थर्मामीटर के द्वारा यह जाना जाता है कि मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं है तो मिथ्यादृष्टि नहीं है। फिर आत्मा के परिणाम का अनुमान लगाया जाता है कि अतत्त्व श्रद्धान नहीं है, उसी प्रकार पुद्गल के द्वारा काल का ज्ञान/नाप किया जाता है। जैसे—एक श्वास में १८ बार जन्म और मरण कैसे? तो एक श्वासोच्छ्वास में असंख्यात समय हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन कम से कम अन्तर्मुहूर्त तक तो रहता है किन्तु छद्मस्थ वीतरागी दशा तो एक समय के लिए भी प्राप्त हो सकती है। ११ वें गुणस्थान में वीतराग दशा प्राप्त हुई और एक समय बाद मरण को प्राप्त हो गया। इस प्रकार वीतराग दशा अन्तर्मुहूर्त तक रहे, ऐसा कोई नियम नहीं है। सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व में आया है तो पुनः सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने में भी अन्तर्मुहूर्त काल आपेक्षित है। नरक में विशुद्धि जल्दी नहीं बढ़ती, देवों में जल्दी बढ़ सकती है। जैसे—एक व्यक्ति हिलाने से ही उठ जाता है और कोई पानी भी डालो तो ठण्डा लगने से और सो जाता है।

चाक में घूमने की क्षमता है, लेकिन वह कील के माध्यम से ही घूमता है। वैसे काल किसी से बंधता नहीं है, संसार चक्र है किन्तु काल चक्र नहीं है, वह किसी के चक्कर में नहीं आता है। काल घूमता नहीं है वह निष्क्रिय है। कील के द्वारा भी नहीं घूम रहे हैं और इसके बिना भी नहीं घूम सकते। कील घूमती है वह अधिकरण है, चाक करण है, वह कुम्भकार के हाथ से घूमेगा। अत: उसके हाथ उपकरण हैं। उपकरण निमित्त है, करण उपादान तथा अधिकरण आधार होता है। कार्य-कारण व्यवस्था, निमित्त उपादान की व्यवस्था जब तक समझ में नहीं आती तब तक मोक्षमार्ग सही ढंग से नहीं चल सकता है। कील के समान वर्तना लक्षण का धारक कालाणुरूप निश्चयकाल है। जैसे—कील नहीं घूमती उसी प्रकार काल नहीं घूमता लेकिन कील के बिना भी चाक नहीं घूमता। उसी प्रकार वर्तनारूप काल के बिना भी समय घटिका आदि भी नहीं होते हैं। जैसे—शीत काल पढ़ने (स्वाध्याय) के लिए अति सहकारी है उसी प्रकार पदार्थों की परिणति में जो सहकारी है, उसे वर्तना कहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य शुद्ध माने हैं। वैज्ञानिकों ने घड़ी आदि को तो बता दिया लेकिन काल को (निश्चयकाल को) खोज नहीं पाए। घड़ी ने समय का ज्ञान कराया वह उत्पादक दृष्टि से नहीं कराया बल्कि ज्ञापक दृष्टि से कराया है। व्यवहार काल को घड़ी ने उत्पन्न नहीं किया उसने तो काल को बताया है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल के चलने में कोई न कोई चाहिए तो वैज्ञानिकों ने ईथर कहा है। ETHER से धर्मद्रव्य की तुलना वैज्ञानिकों ने की है परन्तु उपयुक्त-सा नहीं लगता, अशुद्ध द्रव्य पकड़ में आ जाता है, शुद्ध द्रव्य पकड़ में नहीं आता है किन्तु जैनाचार्यों ने इसे बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है। अमूर्त द्रव्य के विषय में कारणों को देखकर कार्य की आस्था की जाती

है। आस्था प्रायः करके अदृश्य शक्ति को मुख्यता देती है और वैज्ञानिक इसे नकार देते हैं। पर कहीं-कहीं पर अव्यक्त रूप से अद्वितीय शक्ति को वे स्वीकारते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मूल स्रोत निश्चयकाल को नहीं मानते क्योंकि निश्चयकाल, कालाणु देखने में नहीं आते हैं, अतः मात्र व्यवहारकाल को ही मानते हैं जबकि परमाणु भी तो देखने में नहीं आता है लेकिन परमाणु को तो मानते हैं उसे क्या कहोगे? वे लोग घड़ी को ही काल का स्रोत मानते हैं व्यवहार बहुत कठिन है निश्चय सरल है। चार द्रव्यों के बारे में विशेष वर्णन नहीं मिल पाता है। "**गुणपर्यय-समुदायवत् द्रव्यं**" ऐसा कहीं पर भी नहीं कहा है। गुणों का समूह होता है पर्यायों का समूह नहीं होता है "**गुणपर्ययवद्द्रव्यं**" तो कहा है पर समुदाय नहीं कहा। जैसे-अग्नि से भात बनता है लेकिन तंदुल उपादान कारण बिना भात नहीं बन सकता। जिस प्रकार भात का उपादान कारण तंदुल है, उसी प्रकार काल का उपादान कारण कालद्रव्य है। इस प्रकार शुद्ध कालाणु को जब तक स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक घड़ी, घंटा आदि व्यवहारकाल का कोई आधार नहीं बनेगा। वर्तना निश्चयकाल का स्वरूप है "**क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य**" आदि व्यवहारकाल के रूप में है। एक कालाणु के माध्यम से अनन्त पर्यायें उत्पन्न हो रही हैं। चार आराधना ही जीव के अनन्त सुख की प्राप्ति में उपादान कारण है। काल उपादान कारण नहीं है इसलिए हेय है। **आज उपादान निमित्त के ऊपर इतना निर्भर हो गया है कि अपने स्वरूप को ही भूल गया है।** जो काल देखने में नहीं आ रहा उसकी प्रतीक्षा में हम लगे हुए हैं। काल का अर्थ-मृत्यु, विष भी है।

निश्चयकाल का क्षेत्र व संख्या प्रतिपादन

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणु असंखदव्वाणि ॥२२॥

अर्थ—जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं, वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं।

इक-इक इस आकाश देश में इक-इक कर ही काल रहा।
रत्नों की वह राशि यथा हो फलतः अणु-अणु काल कहा॥
परिगणनायें ये सब मिलकर अनन्त ना पर अनगिन हैं।
स्वभाव से तो निष्क्रिय इनको कौन देखते बिन जिन हैं ॥२२॥

व्याख्या—अचक्षुदर्शन चक्षु इन्द्रिय बिना शेष चार इन्द्रिय और मन ज्ञान के पूर्व होता है। अलग-अलग इन्द्रियों का अलग-अलग अचक्षुदर्शन होता है। कुछ सूक्ष्म व कुछ स्थूल परिणति होती है, कुछ दृश्य व कुछ अदृश्य परिणति होती रहती है, यह मात्र केवलज्ञान का विषय है, अंगुली रूप द्रव्य के वक्र पर्याय की उत्पत्ति सरल पर्याय का नाश और अंगुली रूप से ध्रौव्य है, इस प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीन लक्षणों से द्रव्य की सिद्धि हुई। केवलज्ञान व्यक्ति रूप कार्य समय का उत्पाद उसी

समय निर्विकल्प समाधि रूप कारण समय का नाश और दोनों अवस्था में आत्म द्रव्य ध्रौव्य है। कई लोग कहते हैं–मतिज्ञानादि केवलज्ञान की किरणें हैं, यह ठीक नहीं क्योंकि मतिज्ञानादि कारण समयसार और केवलज्ञान कार्य समयसार है। निर्विकल्प समाधि रूप कारण समयसार भी विनाश रूप है केवलज्ञान रूप कार्य समयसार होने पर इन दोनों के आधारभूत आत्म द्रव्य ध्रौव्य रूप है इस प्रकार द्रव्य की सिद्धि हो गई।

जो व्यवहार काल को तो स्वीकारते हैं और निश्चयकाल को नहीं स्वीकारते उनके अनुसार द्रव्य के बिना पर्याय भी कैसे बनेगी? **पञ्चास्तिकाय** में कहा है–

पज्जयविजुदंदव्वं दव्वविजुत्ता पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्ण भूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥

अलोकाकाश में छह द्रव्य नहीं हैं, मात्र आकाशद्रव्य है तो वहाँ काल के अभाव में परिणमन कैसे होता है? तो कहते हैं–आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। जैसे–कुम्भकार को चाक के एकदेश में विद्यमान दण्ड की प्रेरणा से पूर्ण चाक का ज्ञान हो जाता है, उसी तरह से काल के अभाव में परिणमन होता है अथवा स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का अनुभव समस्त शरीर के अनुभव का कारण होता है। उसी प्रकार सर्व आकाश में परिणमन होता है। जैसे–आकाशद्रव्य सम्पूर्ण द्रव्यों का आधार है। अपना आधार भी स्वयं ही है इसी प्रकार कालद्रव्य अन्य सब द्रव्यों के परिणमन में और अपने परिणमन में भी सहकारी कारण है। सहकारी का अर्थ सहयोग प्रदान करना। सह अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है। उपादान हो तो निमित्त सहकारी हो सकता है। यदि हम निमित्त को स्वीकार करते हैं तो पहले उपादान को भी स्वीकारे। एक पैर दूसरे पैर को सहायता दे देता है लेकिन केवल उपादान से ही कार्य होता है ऐसा भी नहीं है। ऊपर से हाथ चलते हैं तब पैर चलते हैं। पैर चलते हैं तो हाथ की सहकारिता उनके (पैर के) साथ रहती है। हाथ का संतुलन जरूरी है, दोनों हाथ जेब में डाल के चलो और ठोकर लग गई तो बिना बेलेन्स के गड़बड़ हो जायेगा। इसलिए आगम को प्रमाण मान करके ही चलना होता है। जो आप्त ने बताया वही तो आगम है। संसारी प्राणी इन्द्रियों से काम कम, मन से ज्यादा काम लेता है। इष्टानिष्ट की कल्पना करना मन की देन है। जैसे–घ्राणेन्द्रिय का काम रसनेन्द्रिय नहीं कर सकती। उसी प्रकार कालद्रव्य का काम धर्म–अधर्म आदि द्रव्य नहीं कर सकते। काल हठात् नहीं चलाता। आत्मा में राग–द्वेष कर्म के कारण होते हैं, काल के कारण नहीं। यदि काल से मानोगे तो काल तो प्रतिसमय है, इससे प्रत्येक समय राग–द्वेष होगा फिर मुक्ति कैसे होगी? और पुद्गल में जो ''**स्निग्ध–रूक्षत्वाद् बन्धः**'' रूप परिणाम है, वह काल के कारण होता है। शुद्ध पुद्गल परमाणु की अचिन्त्य शक्ति है, कितनी ही शक्ति लगा दो उस शुद्ध परमाणु को आप पकड़ नहीं सकते। शुद्ध पुद्गल परमाणु मन्द गति से एक समय में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक गमन करता है और शीघ्र गति से एक समय में चौदह राजू पार कर जाता है। जैसे–कोई मनुष्य एक योजन दश दिन में पार करता

है और कोई दश योजन एक दिन में पार करता है। इस प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु की महिमा अचिन्त्य है।

मन बड़ा विचित्र है, इसके पास आराम तो है ही नहीं, एक सेकेण्ड के लिए भी अपने मन को अभिलाषा रहित नहीं किया। मन के द्वारा कहाँ-कहाँ पहुँच जाता है, अभिलाषा ही अभिलाषा करता रहता है। जिसका मन इच्छा नहीं करता है, वही सच्चा साधक है। सहजता से जो विचार आते हैं, उन्हें आने दो, अभिलाषा करना यह अपध्यान है। जिसने घर छोड़ दिया, उसे पञ्चेन्द्रिय विषय कषाय सम्बन्धी अभिलाषा नहीं करना चाहिए। हाँ, आहार सम्बन्धी एकाध घंटे का विकल्प हो सकता है, लेकिन चौबीस घंटे उसका विकल्प है तो यह अपध्यान है। जितने क्षण साधक अभिलाषा से दूर रहे उतने क्षण सद्ध्यान है।

राग-द्वेष नहीं करना, अभिलाषा नहीं करना, शान्ति से किसी भी आसन से बैठ जाना यह ध्यान है। इसकी कोई लम्बी-चौड़ी परिभाषा नहीं है और उसी को प्राप्त करने के लिए श्रमण श्रम करते हैं। वीतराग चारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व है। जो काल पर ही निर्भर रहता है, उसे सम्यक्त्व नहीं होगा क्योंकि मात्र काल से मुक्ति असम्भव है। क्रियाकोश में 'कल' धातु को कामना के अर्थ में लिया है। "**कल कामने**" कल शब्द से ही काल की उत्पत्ति होती है। कील के बिना चाक घूम नहीं सकता। कील यह नहीं कहती कि तुम्हें सकोरा या घड़ा ही बनाना होगा। यह तो कुम्भकार के उपयोग व योग के ऊपर आधारित है कि वह क्या बनाना चाहता है लेकिन जो शुभ, अशुभ व शुद्ध पर्याय उत्पन्न होती है वह काल के अभाव में नहीं होती, लेकिन जो काल को ही सब कुछ मानता है उससे कहते हैं कि कील नीचे है चाक पर लोंदा रख दो। अब जब काल से ही बनना होगा तो बन जायेगा लेकिन ऐसा नहीं है। मुक्ति के लिए साक्षात् कारण चतुर्थ शुक्लध्यान है, काल नहीं। किसी व्यक्ति ने चूल्हा जलाया और दाल-चावल धोकर चूल्हे पर रख दिया। किसी ने पूछा, क्या हो रहा है ? तो कहता है-खिचड़ी बना रहा हूँ। तो कहा-कि आप तो बैठे हैं खिचड़ी कहाँ बना रहे हैं? वह तो अपने आप बन जायेगी लेकिन खिचड़ी मात्र ताप के द्वारा या मात्र काल के द्वारा (आधे घंटे में)नहीं बनती है अर्थात् एकान्त से काल के द्वारा ही या काल के बिना भी कार्य नहीं होता है **यह भगवान् के वचन को प्रमाण मानकर श्रद्धा करना चाहिए, विवाद नहीं करना चाहिए क्योंकि विवाद करने से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और राग-द्वेष से संसार की वृद्धि होती है।**

पञ्चास्तिकाय का व्याख्यान

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पञ्च अत्थिकाया दु ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार जीव और अजीव द्रव्य के प्रभेद से ये द्रव्य छह प्रकार के हैं। काल के बिना शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय जानने चाहिए।

जीव - भेद से अजीव पन से द्रव्य मूल में द्विविध रहा।
धर्मादिक वश षड् विध हो फिर उपभेदों से विविध रहा ॥
किन्तु काल तो अस्तिकाय पन से वर्जित ही माना है।
शेष द्रव्य हैं, अस्तिकाय यूँ 'ज्ञानोदय' का गाना है ॥२३॥

व्याख्या—इस प्रकार ये छह भेद द्रव्य के होते हैं जो मुख्य रूप से जीव और अजीव की अपेक्षा से–एक जीव और पाँच अजीव द्रव्य हैं। छह द्रव्यों में काल को लिया है किन्तु अस्तिकाय में कालद्रव्य को नहीं लिया। काल को छोड़कर अस्तिकाय पाँच हैं। अस्ति और काय ये दो विशेषण लगे हैं। काल अस्ति तो है पर काय नहीं है। काल के बिना कार्य नहीं होता यह तो ठीक है लेकिन काल से नहीं होता। उसी मुहूर्त में किसी की शादी हो रही है, किसी की बर्बादी हो रही है, किसी को मोक्ष जाने का भी सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। अतः वस्तुतः काल मंगल या अमंगल नहीं होता, काल तो काल ही है, उस काल में मंगल कार्य होने से उसे काल मंगल कह दिया जाता है। दो पार्टी मिल करके शासन चलाये तो राजा कौन? दोनों। क्योंकि एक को भी अलग नहीं कर सकते हैं। एक पुद्गल में दूसरा पुद्गल आकर मिल जाता है तो पुद्गल उपचार से अस्तिकाय हो जाता है। शुद्ध चार द्रव्य मुख्यतः अस्तिकाय हैं। अस्ति अर्थात् विद्यमान हैं और काय अर्थात् बहुप्रदेशी है, किन्तु कालद्रव्य उपचार से भी अस्तिकाय नहीं है। कालद्रव्य प्रदेश की अपेक्षा कायवान नहीं है। अतः कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य को अस्तिकाय कहा है।

पञ्चास्तिकाय का स्वरूप

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥२४॥

अर्थ—चूँकि ये द्रव्य विद्यमान हैं, इसलिए जिनवरों ने इनको 'अस्ति' कहा है और काय (शरीर) के समान बहुप्रदेशी है, इसलिए इनको 'काय' कहा है। अस्ति और काय दोनों मिलाने से पाँचों द्रव्य अस्तिकाय होते हैं।

चिर से हैं ये सारे चिर तक इनका होना नाश नहीं।
इन्हें इसी से 'अस्ति' कहा है जिन ने जिनमें त्रास नहीं॥
काया के सम बहु-प्रदेश जो धारे उनको 'काय' कहा।
तभी अस्ति औ काय मेल से 'अस्तिकाय' कहलाय यहाँ ॥२४॥

व्याख्या—पुद्गल की पर्याय में संस्थान आया है, वह संस्थान आत्मा का नहीं है बल्कि रूप जो नेत्रेन्द्रिय का विषय बन रहा है, वह पुद्गल की पर्याय है, इसलिए आकाश तत्त्व को आकार रहित चिन्तन करना चाहिए। निराकार जीव द्रव्य की कल्पना करना चाहिए। रूपातीत ध्यान आचार्यों ने

बताया है। आत्मा को रूपातीत सोचना होता है। काय के द्वारा काय से रहित आत्म तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए या फिर महापुरुषों का चिन्तन या सिद्धक्षेत्र आदि का चिन्तन करना चाहिए। **जिन मन्त्रों के माध्यम से आकुलता होती है, उन्हें छोड़कर श्वासोच्छ्वास पर मन्त्र की साधना हो जाए तो बहुत अच्छा ही है, वचन का स्पन्दन भी तो स्पन्दन है।**

प्रायः करके यह कहने में आता है कि जन्म होता है लड़के या लड़की का और मरण होता है वृद्ध का। मनुष्य का जन्म हुआ ऐसा कोई नहीं कहता। परिणामों में परिवर्तन होता रहता है। परिणाम एक से बने रहने के लिए अनन्त शक्ति की आवश्यकता होती है। छद्मस्थ अवस्था में अनन्त शक्ति नहीं होती है अतः परिणामों में बदलाहट होती रहती है। समन्तभद्रस्वामी न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे, वे आप्तमीमांसा में कहते हैं–

घट मौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पाद स्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोद माध्यस्थ्यं जनोयाति सहेतुकम् ॥५९॥

ऐसा कहकर बहुत अच्छे ढंग से अध्यात्म को बताया है। **वस्तु स्वरूप को जानने से माध्यस्थ भाव आ जाता है।** द्रव्यत्व की ओर दृष्टिपात करने से राग–द्वेष समाप्त हो जायेगा। पर्याय को टिकाये रखने की भावना को छोड़कर जीवत्व, ध्रुवत्व को दृष्टि में रखना चाहिए। हँसना–रोना बच्चों का खेल है। जैसे–बहिन के लिए कंगन का मिटना दुख का कारण और भाई के लिए मुकुट का बनना खुशी का कारण और पिता के लिए सुवर्णपने का बने रहना माध्यस्थता का कारण है। छद्मस्थ अवस्था में कषाय, नोकषाय रहती हैं। ध्यानस्थ अवस्था में कषाय और नोकषाय नहीं के बराबर हो जाती है। जब दृष्टि प्रौढ़ हो जाती है तो अपने आप शान्त वातावरण दिखने लगता है। प्रातः परिवार में किसी का मरण और शाम को किसी का जन्म हुआ तो दोनों का महोत्सव नहीं मनाते हैं अथवा जन्म महोत्सव में लड़की के आने पर अलग प्रकार की मिठाई तथा लड़के के जन्म पर अलग तरह की मिठाई बँटती है, जबकि दोनों मनुष्य की पर्याय है। **जब तक राग–द्वेष के रंग–मंच पर जीव रहता है, तब तक यह चार गति रूप खेल चलता रहता है** और रंग–मंच से नीचे उतरते हैं तो खेल समाप्त हो जाता है।

शुद्ध जीवास्तिकाय में सिद्धत्व लक्षण रूप शुद्ध व्यञ्जन पर्याय केवलज्ञानादि विशेष गुण तथा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सामान्य गुण होते हैं। लोग कहते हैं हमें तो वीतराग धर्म से मतलब है, वीतरागी व्यक्तियों से नहीं, तो कहाँ से आयेगा वीतराग धर्म? सजीव को छोड़कर निर्जीवता में धर्म की परिकल्पना कैसे सम्भव है? जो व्यक्ति धर्म को मानता है किन्तु धर्मी को नहीं तो ये दोनों विरोधी बातें कैसे घटित होंगी? ये सम्भव नहीं है। धर्मात्मा के पास ही धर्म रहता है। सोना ले आओ कहते हैं तो पीलापन कहीं अन्यत्र नहीं है, उसी में है, उसे स्वर्ण से अलग नहीं कर सकते। एक दूसरे परस्पर में सिद्धि के कारण हैं। जहाँ उत्पाद हुआ है वहाँ विनाश अवश्य होगा यह श्रद्धान जब तक मजबूत

नहीं होगा तब तक दुख नहीं मिट सकता। कहते हैं—रोने से हल्कापन लगता है, यह मान्यता ठीक नहीं, इधर वर्षगाँठ मना रहे हैं और उधर एक गाँठ कम हो जाती है यह दृष्टि में नहीं है। सम्यग्दृष्टि सोचता है कोई भी पर्याय स्थिर नहीं है। जब तक शरीर लगा हुआ है तब तक उम्र भी लगी हुई है लेकिन मोही प्राणी को समझाना बहुत कठिन होता है। ढाई द्वीप के बाहर राहु-केतु तो हैं पर ग्रहण नहीं लगता, किन्तु जब तक शरीर है, मोह है तब तक सर्वत्र ग्रहण हैं। यहाँ अन्य लोग रोते हैं और वहाँ जीव जाकर भोगों में मस्त हो जाता है। वहाँ उसके स्वागत के लिए सब खड़े हैं, यह रहस्य सम्यग्दृष्टि को समझ में आ जाता है तो वीतराग सम्यग्दृष्टि को हर्ष- विषाद नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि तो रोता है वीतराग सम्यग्दृष्टि नहीं। बाल-बाल मरण तो बार-बार होता है किन्तु पण्डित मरण वाले के सात-आठ भव ही शेष रहते हैं। डॉक्टर चीरा-फाड़ी करता है पर रोता नहीं है लेकिन घर के सदस्य बीमार पड़ जाएँ या स्वयं बीमार पड़ जाए तो दूसरे डॉक्टर को बुलाता है। स्वयं की या परिवार वालों की यह चीरा फाड़ी नहीं कर सकता चाहे हार्ट स्पेशलिस्ट भी क्यों न हो अपने सम्बन्धी का हार्ट देखने से स्वयं का हार्ट धक्-धक् करने लगता है। इस प्रकार की स्थितियाँ होती हैं। जैसे—अर्जुन की स्थिति हुई थी कि द्रोणाचार्य सामने खड़े हैं कैसे वार करूँ? ऐसा मोह के कारण होता है। लेकिन वीतराग सम्यग्दृष्टि ऐसे नहीं होते हैं। इंगिनी मरण से श्रेष्ठ प्रायोपगमन मरण है। वह प्रतिकार स्वयं भी नहीं करता है। जैसे-लेटे हैं वैसे ही लेटे रहते हैं,लेकिन प्रतिकार स्वयं भी नहीं करते हैं और न करने देते हैं। ऐसे मुनि अन्त में उत्कृष्ट साधना के बल से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

द्रव्यों की प्रदेश संख्या

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥

अर्थ—एक जीव, धर्म तथा अधर्मद्रव्य में असंख्यात प्रदेश पाये जाते हैं और आकाशद्रव्य में अनन्त प्रदेश हैं। मूर्तिक-पुद्गल द्रव्य में तीन प्रकार के प्रदेश होते हैं, कालद्रव्य में एक ही प्रदेश होता है इसलिए वह काय नहीं है।

एक जीव में नियम रूप से असंख्यात परदेश रहे।
धर्म-द्रव्य औ अधर्म भी वह उतने ही परदेश गहे॥
अनन्त नभ में पर पुद्गल में संख्यासंख्यानंत रहे।
एक 'काल' में तभी काल ना काय रहा अरहंत कहें ॥२५॥

व्याख्या—कुछ साइकोलॉजी है, जिसे बदल सकते हैं। जब मरते हैं तब कौन मरता है ? आत्मा असंख्यात प्रदेशी है वह हमेशा रहते ही है। जीवन और मरण का रहस्य जानना सर्वप्रथम अनिवार्य है। ज्यादा ज्ञान करना आवश्यक नहीं है। कुछ ही बातें समझने की होती हैं। उनमें तीन बातें मुख्य रूप से हैं—(१) क्रिया (२) कर्त्ता (३) कर्म। इस प्रकार प्रत्येक विषय में कुछ विशेष होता है और विशेषों

के गुम्फन से ही अध्याय ग्रन्थ आदि बन जाते हैं। द्वादश अंग, चौदह पूर्व इसके अलावा और कुछ नहीं है। जैसे–रबड़ को खींचो तो फैल जाता है, छोड़ दो तो संकुचित हो जाता है। उसी प्रकार जीव के असंख्यात आत्मप्रदेश चींटी व राघवमच्छ रूप हो जाते हैं। आकाश के जितने स्थान को एक कालाणु या पुद्‌गल परमाणु घेरता है, वह एक प्रदेश है। पर एक कालाणु में दूसरा कालाणु नहीं है, जबकि एक पुद्‌गल परमाणु में अनन्त पुद्‌गल परमाणु रह सकते हैं। यह अवगाहना की तथा सूक्ष्म परिणति की विशेषता है। इसलिए परमाणु की अपेक्षा कालाणु के द्वारा भी माप किया जा सकता है। सूक्ष्म जीव व बादर जीव तो होते हैं लेकिन सूक्ष्म शरीर नहीं होता है। हाँ, प्रत्येक तथा साधारण शरीर होते हैं जिस प्रकार एक बिल्डिंग जलने से सारे जीव समाप्त हो जाते हैं उसी प्रकार साधारण शरीर में एक के मरण से उनके आश्रित सभी का मरण हो जाता है। उपादान अकेला होता है पर निमित्त कई हो सकते हैं। जैसे–गति में सहकारी होना यह धर्मद्रव्य का कार्य होते हुए भी मछली की गति में जल, मनुष्य की गति में गाड़ी भी निमित्त है। जीव की जो भी क्रिया होती है, उसके लिए कर्म-नोकर्म रूप पुद्‌गल सहकारी कारण हैं और अणु स्कन्ध रूप पुद्‌गल के गमन में कालद्रव्य सहकारी कारण होता है। धर्मद्रव्य के विद्यमान होते हुए भी ये सहकारी कारण है। जो स्वयं निष्क्रिय है वह प्रेरक नहीं हो सकता। "**द्विषंत्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते**" ऐसा स्वयंभू में कहा है कि–हे भगवन्! आपकी जो भक्ति करता है वह फलता-फूलता है और जो द्वेष करता है वह क्विप् प्रत्यय के समान विलीन हो जाता है। यह कैसे हुआ? यह स्वभाव है भगवान् तो उदासीन निमित्त हैं।

पुद्‌गल द्रव्य उपचार से अस्तिकाय

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥२६॥

अर्थ–एक प्रदेशी अणु भी अनेक स्कन्ध रूप बहुप्रदेशों से युक्त हो बहुप्रदेशी हो जाता है, इसलिए सर्वज्ञ भगवान् ने उसे उपचार से काय कहा है।

प्रदेश एक ही पुद्‌गल-अणु में यद्यपि हमको है मिलता।
रूखे-चिकने स्वभाव के वश नाना स्कन्धों में ढलता॥
होता बहुदेशी इस विध अणु यही हुआ उपचार यहाँ।
सर्वज्ञों ने अस्तिकाय फिर उसे कहा श्रुत-धार यहाँ ॥२६॥

व्याख्या–गति या देश से देशान्तर होने के लिए एक बिन्दु के साथ एक और बिन्दु जुड़ जाए तभी वह गतिमान होता है। उसी प्रकार एक अणु के साथ और अन्य अणु जुड़ जाने से वह बहुप्रदेशी पुद्‌गल स्कन्ध हो जाता है। अणु दो प्रकार के होते हैं–पहला स्कन्ध बनने के लिए कारणभूत है, इसलिए वह '**कारणाणु**' है और दूसरा '**भेदादणुः**' स्कन्ध से टूट करके जो अणु बनता है वह कार्याणु है। सर्वज्ञदेव कहते हैं कि परमाणु एक प्रदेशी होता है '**नाणोः**' सूत्र आया है। अणु बहुप्रदेशी

नहीं है किन्तु अनेक परमाणु मिलकर स्कन्ध से वह बहुप्रदेशी होता है इसलिए सर्वज्ञदेव ने उसे काय ऐसा उपचार से कहा है। मुख्य के अभाव में ऐसा उपचार हो जाता है। जैसे—गृहस्थ सामायिक कर रहा है तो उसे महाव्रती कहा। "**गृही तदा याति यति भावम्**" उस समय उसके जो सर्वदेश पाप होने वाला था उसका त्याग करके मैं एक घंटे या एक दिन के लिए यहाँ से उठूँगा ही नहीं चाहे कुछ भी हो जाए इस प्रकार दृढ़ संकल्प से उतने काल के लिए उसको उपचार से महाव्रतीवत् कहा है क्योंकि प्रत्याख्यान का उदय चल रहा है मुख्य नहीं किन्तु मुख्यवत् हो जाता है उसका भी अपना महत्त्व तो है उस समय के उस क्षेत्र की अपेक्षा से वह महाव्रती है। अब देखो आपकी आँख की पकड़ में भी वह अणु नहीं आता उसको आप छू नहीं सकते, उसको आप चख नहीं सकते, उसकी आप गंध ले नहीं सकते, वज्र कपाट भी उसके लिए मच्छरदानी जैसा हो जाता है उसको पार करके वह चौदह राजू तक चला जाता है बीच में कुछ भी आ जाए वह रुकता ही नहीं है। परमाणु की तो लीला ही अपरम्पार है। **द्रव्य का शुद्ध स्वरूप यह है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिलता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से अच्युत हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को जन्म भी नहीं दे सकता है। द्रव्य दृष्टि से प्रदेशों की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य अपने प्रदेश में ही सीमित हैं।** कर्म, नोकर्म का बंध जीवाजीवाकृत बंध माना जाता है एक द्रव्य के प्रदेशों में दूसरे द्रव्य के प्रदेश प्रवेश नहीं कर सकते। यदि अजीव से ही बंध हो तो सिद्धों में भी होना चाहिए। जितने परमाणु प्रदेश पहले थे, आज भी हैं और आगे भी रहेंगे इनका कभी भी नाश नहीं होता। कर्म आकर के सम्बन्ध को प्राप्त हो रहे हैं पर वे आत्मा में घुल नहीं रहे हैं। जैसे-कक्षा एक है पर विद्यार्थी भिन्न-भिन्न हैं। भाई-भाई मिलकर एक नहीं होते हैं। मुक्ता की माला में १०८ मोती होते हैं उन्हें एक धागे में पिरोकर एक माला का रूप दे दिया है। मोती १०८ हैं और उपचार से एक माला है। माला कहते ही मोती गौण हो जाते हैं। फिर भी मोतियों की माला कहते हैं। इस प्रकार एक-एक अणु मिलकर अनन्त पुद्गल परमाणु रूप शरीर का पिण्ड बन जाता है इसलिए अपने आपको मनुष्य रूप न मानकर अमूर्त द्रव्य का चिन्तन करना चाहिए। गर्भ में रज-वीर्य के अलावा कुछ नहीं होता है और जीव अपने साथ मात्र कर्म लेकर आता है। आटे के कण-कण मिलकर जैसे एक-एक रोटी बनती है, उसी प्रकार इस शरीर की उत्पत्ति हुई है इसके स्वभाव को जान लेने पर "**अस देह करे किम यारी**" लेकिन जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है वैसे-वैसे रिश्ते नातों से जुड़ता चला जाता है उसी में रम जाता है जबकि रोज पढ़ते हैं—"मात-पिता रज वीरज मिलकर बनी देह तेरी" फिर भी अपने आपको अमीर-गरीब मानता है यह हमारा स्वभाव नहीं है, जो स्वभाव है वह "**स्वभावोऽतर्क गोचर:**" परमाणु तथा कालाणु सूक्ष्मता का वाचक है। प्रकर्ष रूप से जो अणु होता है, उसका नाम परमाणु है। अणु अर्थात् सूक्ष्म इस व्युत्पत्ति में परमाणु शब्द अति सूक्ष्म पदार्थ है। अणु शब्द निर्विभाग पुद्गल की विवक्षा से पुद्गलाणु और अविभागी कालद्रव्य की विवक्षा से कालाणु को कहता है।

प्रदेश का लक्षण

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥२७॥

अर्थ—जितना आकाश अविभागी–पुद्‌गल परमाणु के द्वारा रोका जाता है, उसको प्रदेश कहते हैं तथा वह समस्त अणुओं को स्थान देने में समर्थ होता है।

जिसमें कोई भाग नहीं उस अविभागी पुद्‌गल अणु से।
व्याप्त हुआ आकाश–भाग वह 'प्रदेश' माना है जिसने॥
किन्तु एक आकाश देश में सब अणु मिलकर रह सकते।
वस्तु तत्त्व में बुधजन रमते जड़ जन संशय कर सकते ॥२७॥

व्याख्या—जितने प्रमाण आकाश को अविभागी परमाणु घेरता है उसका नाम प्रदेश है। उस एक प्रदेश में भी सभी परमाणु को अवकाश देने की क्षमता है मानलो, आकाश के एक प्रदेश पर सभी पुद्‌गल परमाणु आ जाएँ तो क्या होगा? संसार में कोई भी बचेगा नहीं सब मुक्त हो जायेंगे क्योंकि एक प्रदेश में क्षमता तो है। क्षमता होते हुए भी उसका प्रयोग नहीं हो सकता। जैसे—मानलो गाड़ी के पास १५० या २०० किलोमीटर एक घंटे में जाने की क्षमता है। कम्पनी से अभी–अभी नई–नई निकली है ट्यूब, टॉयर भी ठीक है, ड्राइवर भी ठीक है और सड़क भी अच्छी है लेकिन इसके उपरान्त भी १५० किलोमीटर की रफ्तार से चला नहीं सकते मात्र कहा जाता है कि इसमें इतनी क्षमता है। आईंस्टीन ने ये लिखा है—इस विश्व के पास में ऐसे एटमबम विद्यमान हैं, जिनमें दश बार इस विश्व को पूरा–पूरा नष्ट करने की क्षमता है, लेकिन प्रयोग करने में खतरा ही पैदा होगा इसलिए उस वैज्ञानिक ने अपने आपके कान पकड़ लिए कि मैंने बहुत खतरनाक वस्तु का निर्माण कर दिया, और उन्होंने लिख दिया कि तब तक इस विश्व को कोई खतरा नहीं जब तक मनुष्य का दिल और दिमाग ठिकाने पर है।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥ (पं० का०)

द्रव्य एक–दूसरे में अवगाहित होते हैं, स्थान देते हैं फिर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। दूध और पानी को मिला दो, पर दोनों का स्वभाव नहीं मिला सकते हैं। शक्कर के दाने छोटे–छोटे हैं पर बम्बई की मिठाई और बतासा बन जाते हैं। औदारिक शरीर की रचना बहुत कम वर्गणाओं से होती है, यह स्थूल व उदार है, इसलिए औदारिक कहते हैं। प्रभु की दिव्यध्वनि के माध्यम से जैनाचार्यों ने एक–एक चीज का व्याख्यान किया है। जो पढ़ा–लिखा नहीं है पर क्षयोपशम विशेष होने से वैज्ञानिकों को भी पढ़ा सकता है। ऐसे कवि भी हैं जिनकी आँखों में रोशनी नहीं है। स्कूल की पढ़ाई अपेक्षा तो हायरसेकेण्डरी फेल है, लेकिन कविता लिखने का विशेष क्षयोपशम होता है। इस प्रकार

परीक्षा देने के लिए, लिखने, पढ़ने, पढ़ाने के लिए अलग-अलग क्षयोपशम होता है, यह क्षयोपशम की विशेषता है। जीव और पुद्गल के विषय में अवकाश दान की सामर्थ्य कहाँ-कहाँ है तो कहते हैं।

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीद कालेण ॥१९४॥ (जीवकाण्ड)

अभी तक एक भी निगोदिया जीव की अवगाहना खाली नहीं हुई है एक निगोद के शरीर में अतीत में जो सिद्ध हुए हैं उनसे अनन्त गुणा और अनागत में जाकर भी अनन्त सिद्ध और मिल जायेंगे तो भी जीवों की यही संख्या रहेगी।

अनन्त काल के बाद भी कोई पूछेगा तो भी यही संख्या आयेगी। अलौकिक गणित इसी को बोलते हैं।

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गल कायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं ॥६४॥ (पं० का०)

जैसे-तालाब लबालब भरा है, उसी प्रकार सूक्ष्म-बादर पुद्गल काय द्वारा लोकाकाश ठसाठस भरा है। यद्यपि एक क्षेत्र में रह रहे हैं, फिर भी एक नहीं हैं एक से हैं। भारत कहाँ है ? आकाश में है। आकाश की कोई सीमा रेखा नहीं है फिर भी यह नेपाल, आसाम और मणिपुर ऐसा नक्शे में भेद करते हैं। कोई भी देश हो, भारत या चीन इन दोनों के बीच में कोई गेप है क्या? नहीं। वह सीमा नदी, नाले पहाड़ के माध्यम से लगा लेते हैं, वस्तुतः उसमें गेप नहीं है, उसी प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश में ऐसी कोई दीवार नहीं बनी, जो अखण्ड को खण्डित कर दे। वस्तुतः भावों की अपेक्षा खण्ड में भी अखण्ड और अखण्ड में भी खण्ड की कल्पना की जा सकती है। **लोगों को अपने भावों के अनुसार बड़े बाबा में भी परिवर्तन दिखता है, सुबह कुछ लगते हैं, शाम को कुछ लगते हैं तो यह कथञ्चित् ठीक है।** विमान के सञ्चालन के लिए पेट्रोल वही है। ओंगन लगाने का भी उसी में से निकलता है। पेट्रोल को बहुत रिफाइंड करते हैं, तब विमान चलने के योग्य होता है। संयोगज ऐसी दशाएँ बनती रहती हैं तो भिन्न-भिन्न परिणतियाँ होती रहती हैं। मूल में रंग पाँच हैं, पर पेंटर उसी के माध्यम से कई रंग बना लेता है। रंग को थोड़ा गाढ़ा करते हैं तो छाया रूप बन जाता है, राग-द्वेष कम करने से एक दिन उनकी संतति समाप्त हो सकती है, ये औदयिक भाव स्वभाव नहीं है, यह रील के समान चित्र एक के बाद एक आते-जाते हैं, रात-दिन, सोते-जागते अभ्यास होने से राग-द्वेष परिणाम होते चले जाते हैं। मौन रहकर साधना करने वाला सशक्त माना जाता है, ऐसी संयमित गाड़ी वालों का विशेष पेट्रोल खर्च नहीं होता है यह आस्था, रुचि का विषय है।

॥ प्रथम अधिकार समाप्त॥

चूलिका

छह द्रव्यों का उपसंहार

परिणामि-जीव-मुत्तंसपदेसं एय-खेत्तं किरिया य।
णिच्चं कारण-कत्ता सव्वगद मिदरंहि यपवेसे ॥१॥
दुण्णिय एयं एयं पंच-त्तिय एय दुण्णि चउरो य।
पंच य एयं एयं एदेसं एय उत्तरं णेयं ॥२॥

जीव और पुद्‌गल ये दो द्रव्य परिणामी तथा शेष अपरिणामी हैं। चार शुद्ध द्रव्य हैं, दश प्राणों की ओर देखते हैं तो चैतन्य रूप प्राण गौण हो जाता है और निश्चय प्राण की ओर देखने से सारे के सारे कषाय के कारण समाप्त हो जाते हैं, इससे अजर-अमरत्व का अनुभव होता है, व्यवहारी जनों की ओर देखने से केवल मृत्यु ही दिखती है। इस प्रकार स्वभाव-विभाव, निश्चय-व्यवहार, द्रव्य और पर्याय में अन्तर है। जानने-देखने का जो स्वभाव है, उसका अभाव नहीं हो सकता। कर्मोदय में हानि-वृद्धि हो सकती है। भाव का अर्थ-CAPACITY या क्षमता है और द्रव्य का अर्थ-रचना विशेष है। मूल माइक तो हमारे अंदर ही है क्योंकि कर्म का उदय होगा तो बोलना भी चाहें तो नहीं बोल सकता। साधना के रूप में राग-द्वेष छोड़ने को कहा है, क्योंकि जब राग-द्वेष छूटेंगे तभी शुद्धात्म तत्त्व झलकेगा। वही अमूर्त आत्म तत्त्व है। अमूर्तिक आत्म तत्त्व दिखता नहीं कितनी भी कोशिश करो, इन आँखों से देखने में नहीं आ सकता। शरीर के माध्यम से यह ज्ञान कर सकते हैं कि शरीर को धारण करने वाला जीव है। आत्म तत्त्व को पकड़ना इतना सहज नहीं है श्वासोच्छ्वास चल रही है इसलिए क्रिया से अनुमान लगाया जाता है। शरीर भी जितना-जितना ऊपर जाता है, उतना हल्का होता जाता है ज्ञानी सोचता है यदि मेरे बारे में किसी ने बुरा सोचा है तो उसे मेरा स्वभाव ज्ञात नहीं है, अनभिज्ञ है, उसे मेरा परिचय नहीं है। मुझे जानने वाले तो योगी हैं, ज्ञानी हैं। कषाय ज्ञानी को करनी पड़ती है और अज्ञानी करता है। **हमें कोई मार नहीं सकता, गाली दे नहीं सकता यह अनूठी धारणा मोक्षमार्ग में होना चाहिए।** अपने आपको मूर्त आँखों से देखने वाला मानता है तो सुख-दुख होता है। अमूर्त द्रव्य को देखने के लिए कोई आँख नहीं है यह अतुलनीय अनुपमेय है। यह संसारी प्राणी कितना बाहर चला गया कि स्वयं की परिणति भी पकड़ने में नहीं आती है, इसी को रहस्य कहते हैं।

अध्यात्म बहुत ऊपर उठा हुआ है, कहते हैं-मैंने जमाने को देख लिया, तुम्हें भी देख लिया लेकिन उसने अपने आपको नहीं देखा। एक सेकेण्ड भी किसी का उपयोग निज स्वरूप की ओर जाए

तो वह अपने आपको देख सकता है। उपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय का बाजार बहुत गरम है, सब लोग इसी से परिचित हैं। मरणासन्न व्यक्ति भी संज्ञाओं के कारण ग्रास को सीधा मुँह में ही डालेगा। आँखों से उसे कुछ दिख नहीं रहा, कुछ सुनाई पड़ नहीं रहा, शक्ति नहीं है तो भी वह मृत्यु से बचने का प्रतिकार करता रहता है। जिजीविषा होने से श्वासोच्छ्‌वास की प्रक्रिया प्रतिक्षण चलती रहती है। एक सेकेण्ड रुक जाए तो हाथ-पैर मारने लग जाता है कि कहीं प्राण न निकल जाएँ। इससे ज्ञात होता है कि आत्म तत्त्व कितना बंधन में पड़ा हुआ है। सभी संसारी प्राणी दश प्राणों को सुरक्षित रखना चाहते हैं, उसे ही जीव मानते हैं। यही तो अज्ञानता है। बेटा नहीं मानता है तो उसे समझाने के लिए माँ अनेक रूप धारण कर लेती है। उपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। हम स्वयं को नहीं पहचानते इसलिए पर की पहचान भी शरीर से, आवाज से, कर लेते हैं। स्वयं के ज्ञान की परिणति स्मृति ही बुरी है तो सब बुरा ही लगता है कितना बाहर आ गया है जीव का ज्ञान कि रिफ्लेक्शन होने से ज्ञान भी बुरा लगने लगता है। यह रहस्य समझ में नहीं आने से जीव भटक रहा है।

महान् पुण्यशाली भी क्यों न हों, कितने भी पुण्य का उदय हो वह निरन्तर नहीं रहता, हीनाधिक होता रहता है। पुण्य-पाप के साथ कर्तृत्व जुड़ा रहता है वही स्वभाव से विमुख करता रहता है। पञ्चेन्द्रिय और मन के व्यापार को भी रोकना पड़ता है। फोन भले ही आपने खरीद लिया है पर जब लाइन व्यस्त रहती है तो फोन नहीं लगता है। भले आपने गाड़ी खरीद ली, लेकिन भीड़ होने पर बारह बजे तक धीरे-धीरे पहुँचते हैं। पुण्य-पाप का भोग निरन्तर नहीं होता है। सब कुछ सामग्री है पर भोग नहीं पा रहा है। इसलिए निश्चय से पुण्य-पाप का भी आत्मा भोक्ता नहीं है। अकलंकदेव ने स्वरूप सम्बोधन में कहा है-मोक्ष की आकांक्षा भी मोक्ष प्राप्ति में बाधक है। **शुद्धत्व की दृष्टि रखने से ही हम कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व से छूट सकते हैं,** शान्ति की अनुभूति हो सकती है। अन्य द्रव्यों से विशेष सम्बन्ध हो जाने से विचारों की भीड़ होने से मस्तिष्क भारी हो जाता है तो डॉक्टर सबसे पहले रेस्ट का ज्यादा और बातचीत ज्यादा नहीं करने का बोलते हैं। आजकल तो गोली खिलाकर सुलाते हैं। इसी प्रकार आचार्य कहते हैं-**शुद्धोपयोग की गोली खिला दो और भीतर पहुँचा दो, बहुत महँगी गोली मिलती है।** दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध होने से व्यक्ति के ज्ञान में विकृति आ जाती है। इसलिए डॉक्टर द्वारा विश्राम के लिए नींद की गोलियाँ दी जाती हैं, इसी प्रकार मुनियों को भी गुप्ति में सो जाना चाहिए। हम चाहें तो दूसरे से सम्बन्ध तोड़ सकते हैं और चाहें तो जोड़ सकते हैं। राग-द्वेष करके सम्बन्ध नहीं जोड़ना है, बल्कि अकेले होने के लिए पुरुषार्थ करना है। जोड़ने के संस्कार तो अनादिकाल से हैं। लोक में एक भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ जीव नहीं हैं इसलिए अहिंसा का पालन करने वाले सोचते हैं-"**जले जीवा-थले जीवा**" पैर कहाँ रखें, यह भूमिकानुसार विकल्प उठता है और अहिंसा धर्म को उत्कृष्टता से पालन करने की भावना होती है तब विशुद्धि बढ़ाते हैं और ऋद्धि प्राप्त हो जाती है।

मूलाचार में एक गाथा आती है–

कधं चरे-कधं चिट्ठे कध मासे कधं सए।
कधं भुंजीज्ज भासेज्ज जदो पावं ण बंधई॥

इसके समाधान में कहते हैं–

जदं चरे-जदं चिट्ठे जद मासे, जदं सए।
जदं भुंजीज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बंधई॥

यत्नपूर्वक चलें, बैठें, उठें, बोलें, खायें जिससे पाप का बन्ध न होवे। यत्न का अर्थ–अप्रमत्त हो करके करें। जबकि ये बातें तो माँ के माध्यम से समझा दी जाती हैं। फिर भी कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं–इन सब प्रवृत्तियों को सुधारें और आगम के अनुसार धर्म की ओर बढ़ें। हित का सम्पादन स्व-पर के लिए हो। इस उद्देश्य को लेकर बोलें। प्रवृत्ति अनिवार्य हो जाती है तो करें किन्तु वह प्रवृत्ति निवृत्ति की ओर ले जाने वाली हो, कम से कम प्रवृत्ति हो। वचनों के द्वारा भी जीवों का घात होता है इसलिए कम से कम बोलें। **अपने उपयोग को स्थिर कर विचारों को गौण कर गुरु आदि के उपदेश के बारे में अर्थ की गम्भीरता से सोचने पर देशना लब्धि होती है** गुरु के शब्दों को गहनता, तल्लीनता से सुना जाता है फिर विचार किया जाता है। कार्बन से जैसे शब्द छप जाते हैं, उसी प्रकार तीन लोक में कार्बन की तरह उससे टकराते हैं, फिर सुनने में आते हैं, फिर नीचे-ऊपर, आजू-बाजू सभी जगह के लोग सुन लेते हैं। दो समय या अन्तर्मुहूर्त में शब्द तीन लोक में व्याप्त हो जाता है तो इसके माध्यम से जीवों को बाधा पहुँच सकती है किन्तु तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से जीवों का घात नहीं होता क्योंकि दानान्तराय कर्म का क्षय होने से प्रत्येक जीवों को अभयदान मिलता है। इसलिए छद्मस्थ अवस्था में वे मौन रहते हैं। **भगवती आराधना** में कहा है–क्षपक के लिए हर किसी व्यक्ति को सुनाने के लिए नियुक्त नहीं किया जाता, जिसे सुनने के बाद उसकी लालसा बढ़े उसे नियुक्त किया जाता है।

पद्मपुराण में स्त्रियों की ६४ कलाओं का वर्णन आया है, कैकई में सभी कला थीं। उसके अन्दर एक कला मालिश की भी थी, तन की मालिश तो सभी जानते हैं, किन्तु मायाचार से रहित, स्वार्थ भावना से रहित, हित-मित मिश्री के समान मीठे शब्द जिसे सुनते ही मन की मालिश हो जाती है। शब्द अच्छे-बुरे नहीं हुआ करते हैं, भाव के साथ शब्दों का भी प्रभाव पड़ता है। किसी को मजाक में जोर से मारे तो भी कुछ नहीं लेकिन गुस्से में किसी के गाल पर धीरे से भी मारे तो आँखें लाल हो जाती हैं। शब्दों के माध्यम से भव-भव की कषाय बढ़ सकती है तथा तीनों लोक के जीवों के हित की भावना से बोलते हैं तो भव-भव के लिए मिथ्यात्व मिट सकता है। छद्मस्थ अवस्था तक उभय और असत्य वचन योग रहता है। कटु शब्द भी कभी-कभी मिश्री का काम कर सकते हैं। दया का सूक्ष्मता से पालन तथा चारित्र का कठोरता से पालन तीर्थंकर के अलावा अन्यत्र नहीं देखा जाता।

आचार्यों ने कहा है–''**स्थूल मलीकं न वदति**''। **दो इन्द्रियादि जीव पैर के नीचे आयें तो कभी बच भी सकते हैं लेकिन शब्दों के माध्यम से संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भी आहत को प्राप्त हो जाते हैं।** अन्य की विषमदृष्टि उपशमित हो जाए, ऐसी दृष्टि रखकर बोलना भी कथञ्चित् ठीक है। अहिंसा के क्षेत्र में सूक्ष्मदृष्टि ही रहना चाहिए। दिव्यध्वनि के माध्यम से अनेकों जीव कल्याण की ओर लग जाते हैं। जितनी आवश्यकता हो उतना ही नाप तौलकर शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। **एक वाक्य दस वाक्यों का काम करता है, ऐसा सारगर्भित शब्द बोलना चाहिए।** जैसे–रोटी बनाते हैं तो नाप तौलकर आटा–पानी मिलाते हैं। उसी प्रकार नाप तौलकर बोलना चाहिए। उन मुनिराजों को संक्लेश होता है कि कहाँ पर पैर रखूँ तभी उन्हें ऋद्धि प्राप्त हो जाती है। जीव द्रव्य उपादेय है, लेकिन सिद्ध परमेष्ठी उपादेय हैं ऐसा नहीं कहा अपना निज शुद्धात्म द्रव्य उपादेय है यह कहा है, क्योंकि सिद्धपरमेष्ठी तो ज्ञेय हैं, आराध्य हैं, ध्येय हैं। शक्ति रूप से शुद्ध–बुद्ध एक स्वभाव वाला जीवद्रव्य ही उपादेय है और व्यक्ति रूप से पञ्च परमेष्ठी उपादेय हैं।

टीकाकार ने तत्त्व से पञ्चपरमेष्ठी को लिया है। अन्य जीवों की अपेक्षा पञ्च परमेष्ठी उपादेय, उसमें भी अर्हत्, सिद्ध उपादेय हैं। पहले जीवनमुक्त अरिहंत हुए तथा सिद्ध अवस्था के बारे में भी अर्हत् भगवान् ने बताया इसलिए पहले अर्हत् भगवान् को लिया। निश्चयनय से सिद्ध ही उपादेय हैं और परम निश्चयनय से मन, वचन, काय के व्यापार से रहित परम समाधि में लीन सिद्ध सदृश अपना स्व शुद्धात्म द्रव्य ही उपादेय है, अन्य सभी द्रव्य हेय हैं। जिन्होंने भोगाकांक्षा को लात मार दी है, उनके पीछे सम्पत्ति दौड़ती है और आप सम्पत्ति के पीछे भागते हैं तो वह आपसे दूर भागती है। भगवान् तो समवसरण में भी सिंहासन से चार अंगुल ऊपर रहते हैं, यह वीतरागता है, स्वभाव है। योग से विषय भोग की ओर यह जीव जाता है और जब तक भोगासक्त है तब तक भीतर नहीं जा पाता है। छोटे बच्चे को माँ चम्मच से दूध पिलाती है वह पीना नहीं चाहता तो नाक पकड़ कर पिलाती है फिर वह उल्टी कर देता है तो पछताती है।

एक लाख योजन मेरुपर्वत है एक हजार योजन भीतर (मूल) में है, चालीस योजन की चूलिका यह अलग से लेते हैं। जैसे–शिखर से कलश अलग है, उसी प्रकार चूलिका भी चोटी जैसी होती है। चूलिका अर्थात् विशेष व्याख्यान तथा उक्त–अनुक्त एवं उभय कथन इसमें होता है, इस प्रकार यहाँ प्रथम महाधिकार पूर्ण हुआ।

❑ ❑ ❑

द्वितीय महाधिकार

उत्थानिका—मंगलाचरण में '**जीवमजीवं दव्वं**' कहा था। जीव-अजीव के मिश्रण से सात तत्त्व, नौ पदार्थ होते हैं। स्फटिक मणि स्वयं स्वच्छ, निर्मल, श्वेत है पर सामने जपा पुष्प रखने पर उस रूप मणि परिणमित हो जाती है, किन्तु उसका स्वभाव तो निर्मल है उससे उसका न ही वजन बढ़ता है और न ही लम्बाई-चौड़ाई बढ़ती है। फूल स्फटिक मणि में आ गया तो फूल हल्का और वजन कम होना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं है। द्रव्य का कुछ भी नहीं बिगड़ा एक भी प्रदेश न गया, न आया। स्फटिक सफेद की जगह लाल हो गया, इसी का नाम परिणमन है। विभाव रूप परिणमन करने की क्षमता दो द्रव्यों में है। स्फटिक के समान ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, लेकिन राग-द्वेष आदि करने से लाल आदि रूप अर्थात् कर्म रूप परिणमन हो जाता है। जैसे—गुलाब फूल का प्रभाव स्फटिक पर पड़ गया, ऐसे ही राग-द्वेष आदि विभाव भावों का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है तो उस रूप हो जाता है। अब देखो उसी जगह पर संगमरमर के पत्थर के सामने फूल रख दें तो पत्थर उस रूप परिणमन नहीं होगा। समयसार ग्रन्थ में कहा है—क्रोध कभी क्रोधी नहीं होता है। क्रोध कथञ्चित् कर्त्ता है पर भोक्ता नहीं। जड़ कभी भोक्ता नहीं हो सकता है। क्रोध कर्म का उदय आने पर आत्मा क्रोधी होता है। क्रोध में क्या-क्या बोल जाते हैं पता भी नहीं रहता। "**धम्मेणपरिणदप्पा**" ऐसा **प्रवचनसार** में कहा है। जिस समय आत्मा जो भाव करता है, वह उस समय उस रूप परिणमन करता है। वह तादात्म्य सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—तात्कालिक और त्रैकालिक। स्फटिक मणि का रंग, वजन, लम्बाई, आकार आदि तो त्रैकालिक हैं, किन्तु उसमें फूल के कारण जो लालिमा आयी है वह तात्कालिक है। कर्मों के उदय से लालिमा की तरह आत्मा क्रोधी, मानी, मायावी हो जाती है। **अज्ञानी नोकर्म पर टूट पड़ता है। ज्ञानी जीव उससे प्रभावित नहीं होता है।** वह मोह से हटकर थोड़ा चिन्तन करता है तो भगवान् आत्मा दिखता है। ज्ञानी जीव कभी विकार भाव को प्राप्त नहीं होता है। "स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः।" गुण और आत्मप्रदेशों की अपेक्षा आत्मा में कोई भी भेद नहीं है, मात्र परिणामों की अपेक्षा भेद है। वस्तु स्वरूप का ज्ञान होने पर विश्वास, आस्था बलवती होती है या तो फूल को हटा दो या स्फटिक मणि को हटा दो तो काम हो जायेगा।

धीमान् उपदेश देकर मुक्ति चाहें तो भी नहीं मिलेगी और श्रीमान् धन देकर मुक्ति चाहें तो भी मुक्ति नहीं मिल सकती। बार-बार पढ़ने की क्या आवश्यकता है? राग-द्वेष नहीं करना ही मोक्षमार्ग है। "**आलस्याभावो स्वाध्यायः**" आलस्य का अभाव ही स्वाध्याय है। आलस्य, प्रमाद, कषाय के अभाव में जो भी कार्य करता है, वह स्वाध्याय ही कर रहा है। प्रमाद के बिना अपने स्वरूप का

चिन्तन करना ही मोक्षमार्ग है। मुक्ति के पथिक आत्म गुणों के चिन्तन में और व्रतों की रक्षा में लगे रहते हैं। जो कर्म किया है तो उदय में आने पर स्वयं को भोगना ही होगा। अनुभाग में उतना ही फल मिले यह नियम नहीं। संयम या वर्तमान पुरुषार्थ के माध्यम से उसमें परिवर्तन कर सकते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाए तो सत्तर कोड़ाकोड़ी की स्थिति भी समाप्त कर सकता है। वस्तु स्थिति समझ में आ जाए तो अन्तर्मुहूर्त में आत्मा का कल्याण हो सकता है। पर्याय बुद्धि को छोड़ना मोक्षमार्ग में आवश्यक है।

सात तत्त्वों को अलग-अलग कहने की क्या आवश्यकता है? दो तत्त्व में सब अन्तर्गर्भित हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं—जानोगे तभी आप हेय पदार्थ को छोड़ सकोगे और उपादेय में उपयोग लगा पाओगे। इसलिए भेद नय से जानना आवश्यक है। सर्वांगीण ज्ञान आपेक्षित है। समयसार में पाप-पुण्य दोनों को एक ही कहा है और **समन्तभद्रस्वामी** कहते हैं—''**इदमेवेदृशमेव...।**'' यह जो नहीं मानेगा वह मिथ्यादृष्टि है। अब किसको मानें? दोनों को मानें। उमास्वामी आचार्य कहते हैं—आठ तत्त्वों को मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं। समयसार का रहस्य एक हजार बार भी पढ़ लो तो भी नहीं खुल सकेगा क्योंकि **समयसार में पढ़ने की संख्या का नहीं, ज्ञान की एकाग्रता का महत्त्व है। भेद रत्नत्रय का महत्त्व नहीं, अभेद रत्नत्रय का महत्त्व है। विज्ञान का महत्त्व नहीं, भेदविज्ञान का महत्त्व है।** केवल वक्तृत्व कला वाला ही ज्ञानी नहीं है, उसके पास करुणा भी होनी चाहिए। बच्चा जब छोटा होता है तो दूध का ग्लास भी छोटा होता है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे बड़ा होता है वैसे-वैसे उसका ग्लास भी बड़ा होता जाता है। वैसे ही ज्ञान के साथ-साथ चारित्र में भी वृद्धि होना चाहिए। ज्ञानी का नहीं ध्यानी का महत्त्व है। द्वादशांग का पाठी होकर भी उनके चरणों में बैठ जाता है सेवा में हाजिर होता है—''**देवा वि तस्स पणमंति ...।**'' उपादेय-अक्षय अनन्त सुख का कारण मोक्ष है। मोक्ष का कारण संवर-निर्जरा है। संवर-निर्जरा का कारण निश्चय रत्नत्रय है, निश्चय रत्नत्रय का कारण व्यवहार रत्नत्रय है। **छहढाला** में कहा है—''**अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियत को होई।**'' निश्चय का कारण व्यवहार है, निश्चय मार्ग का पहले निर्णय करके उसके अनुसार साधनों को इकट्ठा करना यह व्यवहार हुआ। सर्वप्रथम निर्णय लिया। सुख हमारा ध्येय है ज्ञान नहीं। यदि ज्ञान को सुख माने तो केवलज्ञान होने पर मुक्ति होनी चाहिए। इससे यह ज्ञात होता है ज्ञान और सुख अलग-अलग हैं। हाँ, ज्ञान के बिना भी सुख नहीं। **छहढालाकार** कहते हैं—''**आकुलता शिवमाँहि न तातैं, शिव मग लाग्यो चहिए**'' शिव में आकुलता नहीं। शिवमार्ग में नहीं कहा। सीढ़ियों पर मंजिल का आनन्द नहीं आता। प्रवचन श्रवण करने का भाव हुआ तो गर्मी गौण हो गई, निराकुलता आ गई। मोक्षमार्ग में अपने उपयोग को बदलना है। कुछ साधक ऐसे हैं जो ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं। घनघोर वन में साँय-साँय की आवाजें और हिंसक पशुओं के रहने पर भी कर्म स्वरूप का चिन्तन करते हैं, जिससे ऐसी-ऐसी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं कि नाक, कान का मल भी औषध का काम

कर जाता है, फिर भी अपने रोग का प्रतिकार नहीं करते हैं। अपने असाता कर्म के अभाव में ही ठीक होगा। यह श्रद्धान करके दृढ़ रहते हैं। चक्रवर्ती को कोढ़ हो गया, उसी भव से मोक्ष जाना है फिर भी कोई औषधि नहीं। लेकिन कुछ ही दिनों में ऐसे कर्मों की निर्जरा कर डाली कि उसका वर्णन नहीं कर सकते। चतुर्थकाल के महाराज एक हजार दिन में जो कर्म निर्जरा करते थे, उतनी आज के महाराज एक दिन में करते हैं, ऐसा वीरसेन स्वामी ने कहा है।

कर्म की निर्जरा के लिए समता और श्रामण्य चाहिए। प्रतिकूलता में असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। जो कष्ट में रहता है वह जल्दी काम कर जाता है और सुख से रहने वाले व्यक्ति को काम करने में ज्यादा समय लगता है। सर्वार्थसिद्धि से आये हुए जीव को यहाँ पर्याप्ति पूर्ण कर लेने में जो समय लगा उससे कम समय में नरक से आया हुआ जीव पर्याप्ति पूर्ण कर लेता है। जैसे–घर में ऐशोआराम से रहने वाला टहलता–टहलता बहुत देर में भोजन करता रहता है और दूसरा जो बाहर से कार्य करके आया है वह शीघ्रता से भोजन कर लेता है। माँ जब तक दाल परोसे तब तक वह रोटी खा लेता है। **घबराओ नहीं यह पञ्चमकाल है यहाँ सुविधाएँ कम है पर काम ज्यादा कर सकते हैं, कठिनाइयों से डरो नहीं, फल तो मिलेगा।** रत्नत्रय के प्रति, संयम के प्रति कितना बहुमान है, कितनी भूख है यह देखना चाहिए, भूख खुलना चाहिए। सुख और दुख के भेद से आकुलता दो प्रकार की है इसलिए पृथक् रूप से सुख गुण की व्यवस्था है। आकुलता का अर्थ– संसारी प्राणी दुख मानता है और ऐशो–आराम को सुख मान लेता है, यह स्थूल दृष्टि है। निश्चय से तो पञ्चेन्द्रिय विषय सुख ही आकुलता रूप हैं, जो हेय रूप हैं। कश्मीर सब जाना चाहते हैं, परन्तु मरुभूमि कोई नहीं जाना चाहता है। भगवान् के भजन को हेय नहीं कहा। नरकादि पहुँचाने वाले पाप हेय हैं। पाप करते जाएँ और नरक से बच जाएँ यह तो ''**न भूतो न भविष्यति।**''

भोगभूमि में नारकी, देव, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय DIRECT नहीं जा सकता। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय भवनत्रिक में जा सकता है, लेकिन भोगभूमि में नहीं जा सकता क्योंकि मन नहीं है। कृत–कारित– अनुमोदना रूप दान का कार्य मन के बिना नहीं हो सकता। भोगभूमि वाला देव ही होगा यह भी नियम है। भोगभूमि वाले जीव यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो सौधर्म–ईशान में तथा मिथ्यादृष्टि हैं तो भवनत्रिक में जायेंगे क्योंकि आत्मिक सुख की ओर दृष्टि नहीं है, इन्द्रिय सुख की ओर दृष्टि है। इन्द्रादिक पद मुख्य रूप से आत्म दृष्टि वाले को ही मिलते हैं। मिथ्यादृष्टि नवमें ग्रैवेयक तक अहमिन्द्र पद पा सकता है, किन्तु सम्यक्त्व से रहित होने से सोलह स्वर्गों में मुख्य पद को प्राप्त नहीं होगा। इन्द्रिय सुख में आसक्त जीव नरकों में जाता है भले पाँच पाप नहीं कर रहा है, लेकिन ख्याति, लाभ, पूजा इन्द्रिय सुख के लिए कर रहा है। हेय तत्त्व का ज्ञान उसे नहीं है इसलिए कर्मानुसार नरकों में चला जाता है। ''**विग्रहगतौ कर्मयोग:**'' कहा है। त्रस में जन्म लेने वाले के दो मोड़ तथा निष्कुट क्षेत्र में जन्म लेने वाले के तीन मोड़ होते हैं। **कर्म बन्ध करने में जीव स्वतन्त्र है, पर कर्मोदय में कोई वश नहीं चल**

सकता। जैसे–कोतवाल चोर को घसीटता–घसीटता ले जाता है, चोर जाना नहीं चाहता है पर कार्य ही ऐसा है इसलिए कोतवाल (कर्म) को भी नहीं चाहते हुए ले जाना पड़ता है। कर्म भी कहता है–तुम बेहोशी में रहते हो तो ले जाना पड़ता है। कर्म किसी पर भी मेहरबानी नहीं करता है। कुछ लोग भगवान् की पूजा को भी हेय कहते हैं। भोजन मुनि के लिए हेय नहीं पर मुट्ठी भर दाना भी साथ में रखना तो वह हेय है। चौबीस घंटे तक अब आहार को याद नहीं करूँगा, भोजन कथा नहीं करूँगा, यदि याद आ जाए तो प्रायश्चित कर लो। आहार तो तीर्थंकरों ने भी किया है। **रस का भोजन लेना हेय नहीं है किन्तु भोजन में रस लेना हेय है।** चौबीसों घंटे हेय तत्त्व की ओर दृष्टि जा रही है और आत्म तत्त्व की बात करते हैं। उनका क्या होगा ? इन्द्रिय सुख तो अति आकुलता पैदा करने वाला है, नारकी प्रत्येक पल पश्चात्ताप करता है कि मुझे धर्म की बात सुनाई पर मैंने सुनी नहीं लेकिन यहाँ आता है तो फिर पञ्चेन्द्रिय विषयों में ऐसा लीन हो जाता है कि पहली बार भोग रहा हो। पाँचवें गुणस्थान में तो इन्द्रिय विषयों को सीमित किया जाता है, लेकिन छठवें–सातवें गुणस्थान में पञ्चेन्द्रिय विजय बताया, यह नहीं है तो २८ मूलगुणों में कमी आयेगी। इन्द्रिय विषयों को हेय समझकर त्याग किया तो एक–एक क्षण में असंख्यात गुणी निर्जरा हो जाती है। भगवान् के DEPARTMENT में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ने सदस्यता प्राप्त कर ली है। पाँचवाँ गुणस्थान होते ही एकदेश संयम लेते ही यशःकीर्ति का उदय प्रारम्भ हो जाता है। तत्त्व ज्ञान के बिना हेय तत्त्व का विमोचन नहीं कर सकता क्योंकि उसको तो वही संग्रह करने में मजा आता है। वास्तव में इन्द्रिय विषय सुख हेय है, यह आकुलता का कारण है। छहढाला में **''देह जीव को एक गिने, बहिरातम तत्त्व मुधा है।''** बहिरातम कहा है। वास्तव में जो आत्म भावना से च्युत हुआ वही बहिरात्मा है। जिसके पास परिग्रह है, उसके पास भय संज्ञा अवश्य है। कई लोग अपने आपको निर्भीक बनाना चाहते हैं, पर निरीह नहीं बनना चाहते हैं। जहाँ निरीहता है, वहाँ निर्भीकता अवश्य रहेगी लेकिन निर्भीकता के साथ निरीहता हो भी सकती है, नहीं भी। यह शरीर परिग्रह भी बन जाता है तथा उपकरण भी बन सकता है, तैंतीस सागर की आयु वाले भी निर्भीक होकर ध्यान नहीं कर सकते हैं और यहाँ पर मुनिराज रुग्ण होकर भी निर्भीकता, निरीहता से ध्यान लगा लेते हैं। **''नित करे प्रत्याख्यान प्रतिक्रम, तजे तन अहमेव को।'' मुनिराज अन्तर्मुहूर्त–अन्तर्मुहूर्त में तव मम–तव मम छोड़ने का उपक्रम करते हैं।** प्राकृत में स्तव को तव, तप को तव तथा तुम को भी तव कहते हैं। तप भी यदि राग–द्वेष का कारण हो जाता है तो गलत है। मुनिराज कायोत्सर्ग अर्थात् तन के प्रति ममत्व भी छोड़ते हैं, निर्भीक भी रहते हैं, निरीह भी रहते हैं, यह अम्बर आप नहीं छोड़ेंगे तो आपको यह छोड़ेगा ही। निदान बन्ध का अर्थ है–अभी तो खा लिया है लेकिन अनथऊ के लिए रख लेते हैं, छोड़ नहीं सकते हैं, वह पापानुबन्धी पुण्य है तो यह निदान बन्ध अनथऊ (आगे के लिए प्रबन्ध) के समान है।

सामायिक से उठने पर विषय कषाय से बचने के लिए स्वाध्याय, पूजा, भक्ति आदि आवश्यक

है। व्यवहार बहुत कठिन है। तीर्थंकर भी हार गये, वे भी सबको प्रसन्न नहीं कर पाये। जैसे–तेइसवें तीर्थंकर हुए तब तक मारीचि घूमे, तो जो घूमना ही चाहता है, उसे कौन संभाले? जैसे–श्वासोच्छ्वास लेने की इच्छा नहीं होती तो भी पेटदर्द हो जाने पर श्वास लेनी पड़ती है। देवों में भी कई पक्षों में श्वास लेते हैं, यह श्वास लेना भी आकुलता है, आँखों की पलक झपकाना भी आकुलता है। **धन्य हैं, वे महाराज, जो न ही सुनते हैं, न ही देखते हैं और न ही बोलने की इच्छा रखते हैं। एक बार आहार किया और चले गये। हमेशा शुद्धनय का, शुद्धात्म तत्त्व का अवलम्बन लेते हैं।** परम पारिणामिक भाव आत्मा का स्वभाव है, अखण्ड है, अनादि अनिधन है, यह उत्पन्न नहीं हुआ है, इस ओर दृष्टि जाने से विभाव परिणतियों की ओर से दृष्टि हट जाती है। जैसे–महासागर में लहरों को गौण करते हैं तो सागर अखण्ड दिखता है। छद्मस्थ अवस्था में परम पारिणामिक भाव को ही ध्यान का विषय बनाना चाहिए। परम पारिणामिक भाव की ओर दृष्टि होने से संक्लेश अपने आप समाप्त हो जाते हैं और कषायों से मुक्ति पाने का यह अच्छा साधन है। पारिणामिक भाव निमित्त–नैमित्तिक नहीं है, केवलज्ञान तो नैमित्तिक है, क्षायिक पर्याय है वह केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से होती है। केवलज्ञान पारिणामिक भाव नहीं है। अपने पारिणामिक भाव को भूलने से संक्लेश होता है, इसलिए अपने व दूसरे के परम पारिणामिक भाव को देखो, ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध ही (सहज सम्बन्ध) अपनाने योग्य है।

इस प्रकार अध्यात्म भाषा में पर्याय दृष्टि नहीं, प्रवाह की ओर दृष्टि रखें, विकल्प की ओर दृष्टि न रखें, निर्विकल्प समाधि की ओर दृष्टि रखें। पारिणामिक भाव राग–द्वेष पैदा करने वाला नहीं है इसीलिए इसी को ध्येय बनाओ। ध्येय को याद रखने से वह ध्येय ध्यान का कारण बन जाता है। निमित्त की ओर दृष्टि जाने से हर्ष–विषाद होने में कोई देरी नहीं लगती है, ध्यान की पर्याय विनश्वर है। ध्येयरूप परम पारिणामिक भाव अनादि अविनश्वर है। ध्यान के लिए तो परम पारिणामिकभाव ही कारण है। शुद्ध तत्त्व का अवलम्बन लेकर भी यदि अध्यवसान है तो बन्ध होगा। दसवें गुणस्थान तक बन्ध होता है। समयसार ग्रन्थ में अध्यवसान को अज्ञान कहा और अज्ञान मिथ्यात्व से व्याप्ति रखता है। कुछ लोग कारण को अभावात्मक मानते हैं किन्तु यह गलत है। केवलज्ञान में शुद्धोपयोग का तो अभाव है, किन्तु शुद्धोपयोग के बिना केवलज्ञान का दर्शन नहीं होगा। शुद्धोपयोग का सद्भाव और उसके द्वारा चार घातिया कर्मों का अभाव एवं केवलज्ञान का प्रादुर्भाव, इस प्रकार यहाँ शुद्धोपयोग सद्भावात्मक कारण है। जो लोग शुभोपयोग का अभाव शुद्धोपयोग का कारण बताते हैं, उन्हें पहले कार्य–कारण की व्यवस्था अच्छे ढंग से समझने की आवश्यकता है, क्योंकि अभाव कारण नहीं होता। न्याय सब जगह एक–सा लागू होना चाहिए। बाधक कारण का अभाव, साधक कारण का सद्भाव तब कार्य का प्रादुर्भाव होता है, यह न्याय सिद्धान्त है। शुभोपयोग केवल बन्ध का ही कारण है ऐसा नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने कहा है–शुभ भाव और शुद्ध भाव

के बिना कर्मों का क्षय देखा नहीं जाता है। **वीरसेनस्वामी** ने भी कहा है–''**संपहियबंधादो-असंखेज्जकम्म णिज्जराकारो होदि णमोक्कारो**'' शुभोपयोग से केवल बन्ध कहना गलत है, शुभोपयोगी श्रमण भी धर्म के आयतन हैं। शुभोपयोग मुक्ति के लिए साक्षात् कारण नहीं है। शुभोपयोग की भूमिका में आहार संज्ञा के बिना उठ नहीं सकते और शुद्धोपयोग की भूमिका में आहार संज्ञा की व्याप्ति नहीं है। शुद्धोपयोगी मुनि आपके घर आहार करने नहीं आयेंगे। कारण–कार्य की ऐसी अटूट व्यवस्था है कि किसी भी प्रकार से अन्याय को थोड़ा–सा भी सहन नहीं कर सकती है। शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण माना तो शुभोपयोग का कारण क्या है? विषय कषायों से दूर होकर धर्म में लगा हुआ परिणाम अथवा सम्यग्दर्शन का उपादान कारण अनिवृत्तिरूप करण परिणाम है, लेकिन वह सातिशय मिथ्यात्व है, वह अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन में ढलने वाला है। इस प्रकार कार्य कारण की व्यवस्था करना चाहिए। सम्यग्दर्शन का कारण मिथ्यात्व गुणस्थान में अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम स्वीकारने में बाधा नहीं आती है। **प्रवचनसार** में **अमृतचन्द्रस्वामी** ने टीका में उल्लेख किया है कि–शुभोपयोग क्षयोपशम भाव है, क्षयोपशम भाव होने से करुणा, अनुकम्पा, प्रशम, संवेग आदि भाव होते हैं। जो शुभोपयोग–अशुभोपयोग को एक कहते हैं तो आयतन और अनायतन की सेवा करने वाले को भी एक कह देंगे, फिर आयतनों की सेवा कौन करेगा? इससे यह सिद्ध होता है कि अमृतचन्द्रस्वामी की बात नहीं मानते। **जो यह कहा जाता है कि–भगवान् की पूजा, भक्ति से धर्म नहीं होता तो इस बात को सुनकर मुझे बहुत पीड़ा होती है, उनके प्रति द्वेष बुद्धि नहीं है, पर उन्हें सही–सही कहना चाहिए। तो क्या पाप करने से धर्म होता है?** यह हमारी जिम्मेदारी है, यदि आज भगवान् की भक्ति में धर्म नहीं होगा तो फिर क्या करेगा? इसलिए ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिए। वैसे ही आज धर्म में रुचि नहीं है और ऐसा उपदेश देंगे तो वह कहाँ जायेगा? जबकि धर्म्यध्यान से मोह का क्षय बताया है। यह हुण्डावसर्पिणी काल है, यदि मंच पर बैठकर यद्वा-तद्वा उपदेश देते हैं तो यह ठीक नहीं है। करुणा अपने हृदय में रखना चाहिए। यह कटु वाक्य लग सकता है लेकिन रोग ठीक करने के लिए कड़वी औषधि देनी ही पड़ती है। बालक यदि ऊधम करता है तो उसे बदमाश कहा जाता है। उसे सब लोगों के सामने तो मेरा बेटा अच्छा है कहते हैं किन्तु अकेले में उसे डाँटते हैं। सही–सही तत्त्व का कथन हो बस यही भावना है।

सात पदार्थों के कहने की प्रतिज्ञा

आसव–बंधण–संवर–णिज्जर–मोक्खो सपुण्ण पावा जे।
जीवा–जीव–विसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥२८॥

अर्थ–जो पुण्य व पाप सहित आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष रूप जीव एवं अजीव की विशेष पर्यायें हैं, इनको भी संक्षेप से कहते हैं।

आस्रव-बन्धन-संवर-निर्जर - मोक्ष तत्त्व भी बतलाया।
सात-तत्त्व नव पदार्थ होते पाप-पुण्य को मिलवाया॥
जीव - द्रव्य औ पुद्गल की ये विशेषताएँ मानी हैं।
कुछ वर्णन अब इनका करती, जिन-गुरुजन की वाणी है ॥२८॥

व्याख्या—आस्रव आत्मा का स्वरूप नहीं है। जैसे—घर के सदस्य एक साथ नहीं आए किन्तु कथञ्चित् एक साथ जा सकते हैं, पर फिर भी ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है कि एक साथ रहना चाहता है और एक साथ रहने का भाव भी रहता है, किन्तु एक साथ रहते हुए भी एकमेक होकर रहता नहीं है, लेकिन यह जो मान्यता है यही आस्रव भाव है। आस्रव-चेतन और अचेतन कृत दो प्रकार का होता है। जैसे—मकान में चोर घुस जाए तो मकान को कोई डर नहीं रहता है, क्योंकि वह अजीव है और मकान में जो चींटी, खटमल, गाय-भैंस आदि तिर्यञ्च हैं उन्हें भी चोर से कोई मतलब नहीं है और न ही भय। एवं छोटे बच्चों को भी चोर से डर नहीं लगता है किन्तु कुछ विशेष व्यक्तियों को ही विशेष आसक्ति होने से चोर से डर लगता है। जिस प्रकार रात भर चोर को नींद नहीं, पुलिस को भी नींद नहीं, मालिक को भी नींद नहीं आती है, उसी प्रकार बड़ा और समझदार व्यक्ति ही कर्म रूपी चोर से सदा भयभीत रहता है। कर्मों का आना आस्रव है, वही आस्रव भावबन्ध रूप परिवर्तित हो जाता है। एक क्षणवर्ती होने से भावास्रव और भावबन्ध में कोई भेद नहीं है। भावबन्ध कथञ्चित् कषाय सहित अन्तर्मुहूर्त तक होता है और कषाय रहित होने पर ईर्यापथिक आस्रव एक समय के लिए होता है। पर पदार्थों के साथ सम्बन्ध रखना यह आत्मा का स्वभाव नहीं है, पर सम्बन्ध से कर्म वर्गणाओं का कर्म रूप परिणत हो जाना द्रव्य आस्रव है और भाव करना भावास्रव है। यह भावास्रव इतना सूक्ष्म है इसका कार्यक्रम रात-दिन चलता रहता है, जो इस रहस्य को समझ लेता है वह अपने आपको आस्रव-बन्ध से बचाता रहता है। मोह का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, संवेदन जुड़ा हुआ है, इसलिए शोर-सूतक लगती है। लौकिक पद्धति में शोर-बच्चे का जन्म और सूतक अर्थात् किसी की मृत्यु हो जाना। यह शोर-सूतक कब तक लगता है? जब तक परिवार से सम्बन्ध है। जैसे—किसी क्षेत्र पर विधान आदि कर रहे हैं और संकल्प ले लिया, आठ दिनों का घर का त्याग करने से उसे शोर-सूतक नहीं लगेगा। हठात् कोई किसी को रागी नहीं बना सकता और न ही ब्रह्मा आकर वीतरागी बना सकता है। चाहे मन वाला हो या बिना मन वाला चौबीस घंटे आस्रव होता रहता है, कर्म वर्गणाओं के बीच में बैठे हैं। राग-द्वेष न करें और यदि योग की चंचलता नहीं है तो आस्रव-बन्ध नहीं होता है। **कभी भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में परिवर्तन नहीं ला सकता है। यह वस्तु तत्त्व का स्वातंत्र्य है।** दूसरा उदाहरण—सूर्य उदय को प्राप्त हुआ पूर्व दिशा में और बदलियाँ छा गईं, वर्षा हो गई तो धूप और वर्षा दोनों का योग मिलने से इन्द्रधनुष का निर्माण हो जाता है। यदि सूर्य पूर्व में है तो इन्द्रधनुष पश्चिम में बनेगा। इसी प्रकार राग-द्वेष के कारण ये कर्म वर्गणाएँ आत्मा के साथ होने से आस्रव-

बन्ध रूप परिणत हो जाती हैं। उदय में आने पर उस रूप परिणत नहीं होती यह हमारा पुरुषार्थ है। कर्म का फल मिलने पर तो वह सत्ता से भाग जाता है, फिर वह किसी भी प्रकार से पकड़ में नहीं आता है। यह बहुत सूक्ष्म परिणमन है। जैसे–वायु पकड़ में नहीं आती है, वैसे ही कर्म पकड़ में नहीं आता है। जब तक बारूद है तब तक उसका कार्य नहीं दिखता और बारूद का विस्फोट होने पर कुछ नहीं बचता। उसी प्रकार कर्म फल देने के उपरान्त समाप्त हो जाता है इसलिए कषाय के विस्फोट से डरना चाहिए। एटमबम इतना भयानक नहीं होता जितना कि उसका प्रयोक्ता है। थोड़ी–सी उसकी मानसिकता बिगड़ी तो विस्फोट कर सकता है, आस्रव व बन्ध भावों पर आधारित है। इसलिए बड़ी–बड़ी ऋद्धियाँ प्राप्त होने पर भी ऋषि उसका प्रयोग नहीं करते हैं। बन्ध से बचने के लिए आत्मा के परिणामों को देखते रहना चाहिए।

वीतराग भाव रूप भाव संवर हुआ और कर्मों का आना रुक गया तो वह द्रव्य संवर है तथा इससे पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। भाव संवर और भाव निर्जरा में समय भेद नहीं है। इसलिए भाव एक हैं तत्त्वों की परिकल्पना भिन्न–भिन्न हो सकती है किन्तु भाव एक ही रहेगा। पूर्ण निर्जरा और मोक्ष तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि कर्मों का पूर्ण रूपेण झड़ना ही तो मोक्ष है। जैसे–नाव है इसमें छेद से जल आया तो आस्रव और उसका रुकना बन्ध, डाट लगाना संवर, हाथ से पानी निकालना निर्जरा, पूर्ण खाली कर देना मोक्ष। चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सम्पूर्ण निर्जरा होती है। जैसे–जेल में जो है वह कैदी है या कैदी को जेल में बन्द किया जाता है? अपराध करने वाले को ही कैदी कहते हैं जेल तो दूर है अभी पहुँचा नहीं है, पर घोषणा होते ही कैदी कहलाने लगता है। अपराधी घोषित होते ही घबराहट उसकी प्रारम्भ हो जाती है। जेल में जेलर भी रहता है किन्तु उसे कैदी नहीं कहते हैं, जिसने अपराध किया उसे ही कैदी कहते हैं। अपराधी को दण्ड देने वाला जेलर होता है। जेलर की ख्याति होती है इसलिए वह कहता है यह जेल न छूटे। पुलिस पकड़ने में निमित्त है, लेकिन हर किसी को नहीं पकड़ती, अपराधी को ही पकड़ती है। दोष करने से बन्ध तथा निर्दोषता होने पर मुक्ति होती है। बाहर से ये पुलिस पकड़े या न पकड़े किन्तु कर्म रूपी पुलिस राग–द्वेषरूपी भाव होते ही पकड़ती है। जिस प्रकार फोटो खींचने के लिए बटन दबाया जाता है और फोटो आ गया तो यह बन्ध हो गया। कर्म रूपी पुलिस से हम नहीं बच सकते हैं। आस्रव–बन्ध पर्यायगत है इसलिए स्थायी नहीं है। मोक्ष पर्याय भी बन्धन के अभाव रूप है।

अशुद्ध रागादि परिणाम चेतन रूप हैं और कर्म पुद्गल पर्याय अचेतन रूप हैं। चन्द्रमा के उदय में (रात में) जो इन्द्रधनुष देखा जाता है वह महान् संकट का प्रतीक है, उससे देश पर या राजा पर संकट आ सकता है। जहाँ–जहाँ पर सूर्य वहाँ–वहाँ पर इन्द्रधनुष होता है ऐसा नहीं। सूर्य प्रकाश के साथ वर्षा का योग होने पर ही (राग–द्वेष) इन्द्रधनुष की रचना होती है, किसी एक के होने पर नहीं। उसी प्रकार आत्मा के परिणाम के साथ कर्मोदय हो तो आस्रव–बन्ध होता है। जो व्यक्ति जैसा भाव

करेगा, वैसा फल उसे आगे पीछे अवश्य मिलेगा। केवलज्ञान सूर्य प्रकटा लो फिर बन्ध परम्परा समाप्त हो जायेगी। अन्य मतों में सभी सिद्धान्त तो हैं किन्तु सम्यक् कर्म सिद्धान्त नहीं है। वहाँ अर्थ पाने के लिए सिर्फ आत्म पुरुषार्थ मानते हैं, परन्तु धन की प्राप्ति मात्र पुरुषार्थ से नहीं, उसके लिए साता आदि का उदय भी आपेक्षित है। दोनों में से एक होने पर नहीं।

भावास्त्रव और द्रव्यास्त्रव का लक्षण

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥

अर्थ—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्त्रव होता है उसे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहा हुआ भावास्त्रव जानना चाहिए और उस भावास्त्रव से भिन्न जो कर्मों का ज्ञानावरणादिक रूप आस्त्रव है वह द्रव्यास्त्रव है।

द्रव्यास्त्रव औ भावास्त्रव यों माने जाते आस्त्रव दो।
आतम के जिन परिणामों से कर्म बने भावास्त्रव सो॥
कर्म-वर्गणा जड़ हैं जिनका कर्म रूप में ढल जाना।
द्रव्यास्त्रव बस यही रहा है जिनवर का यह बतलाना ॥२९॥

व्याख्या—भावास्त्रव एवं भावबन्ध और द्रव्यास्त्रव एवं द्रव्यबन्ध रूप परिणाम तेरहवें गुणस्थान तक ही रहेंगे। भावास्त्रव का अर्थ–आत्मगत परिणाम हैं, चौदहवें गुणस्थान में आस्त्रव-बन्ध नहीं है किन्तु संवर-निर्जरा है। भावास्त्रव आत्माश्रित है और द्रव्यास्त्रव पराश्रित है। ३६५ दिन तक विद्यार्थी पढ़ता है, उसी में परीक्षा के आठ-दस दिन भी आते हैं जिसमें प्रश्नों का उत्तर देते हैं। चौदहवें गुणस्थान में भी आस्त्रव तो नहीं कर रहे हैं, किन्तु संवर-निर्जरा है, परीक्षा दे रहे हैं इसलिए अभी उसी कक्षा के विद्यार्थी कहलाते हैं। "**आसवदिजेणकम्मं**" आत्मा के जिस परिणाम के द्वारा आस्त्रव होता है, वह आत्मा का परिणाम भावास्त्रव है और जो पर के आश्रित (पुद्‌गल द्रव्य के आश्रित) होता है वह द्रव्यास्त्रव है। "**परो होदि**" परो का अर्थ–एक समय बाद ऐसा लेते हैं तो आगम से बाधा आती है। उपशम श्रेणी में चढ़ते समय आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में मरण नहीं होता और आगे के गुणस्थान में मरण हो गया एवं दूसरे समय में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हो गया तो वहाँ पर तो मात्र संज्वलन कषाय थी किन्तु यहाँ चतुर्थ गुणस्थान में अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन सम्बन्धी बन्ध हो जायेगा। दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक कषाय विद्यमान है उसी में ऐसी क्षमता है कि आगत कर्म में स्थिति डालेगी, इस प्रकार परो का अर्थ–अनन्तर समय न लेकर पराश्रित लेना चाहिए। पर के आश्रित द्रव्यास्त्रव और स्व के आश्रित भावास्त्रव। चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी की उदीरणा होने से द्वितीय गुणस्थान में आ गया तो वहाँ आस्त्रव हो गया फिर प्रथम गुणस्थान में आ गया। यदि अनन्तर समय में बन्ध मानेगा तो द्वितीय गुणस्थान में निर्बन्ध हो जायेगा ऐसा मानना पड़ेगा अतः 'परो' का अर्थ

आगे न लेकर पुद्गल द्रव्य के आश्रित लेना है। आस्रव का अर्थ आना नहीं वरन् परिवर्तन लेना है। आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह स्थित कार्मण वर्गणाएँ हैं, वे कर्म रूप में परिवर्तित होती हैं आत्मा जब गति से गत्यान्तर जाती है, तब भी कर्म बन्ध होता है। बन्ध की परिभाषा में '**स्थिता:**' विशेषण है अतः आत्मा के प्रदेशों में स्थित कर्म वर्गणाएँ होती हैं। **आत्मा के प्रदेश भले ही स्थित न हों किन्तु कर्म वर्गणाएँ आत्मप्रदेश पर स्थित हैं, वे ही कर्म रूप में परिणत होकर बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं।** जैसे–आप यात्रा कर रहे हैं तो हलन-चलन आदि करते हैं, किन्तु आपकी टोपी के एक कोने में खटमल बैठा है तो क्या वह चल रहा है? नहीं। वह तो हलन-चलन से रहित है। उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों पर स्थित जो कर्म वर्गणाएँ अभी कर्म रूप नहीं हैं तथा हलन-चलन से रहित हैं, वे ही कर्म रूप परिणत हो जाती हैं, लेकिन दूसरे समय में बन्ध मानेंगे तो एक समय बन्ध में कम मानना पड़ेगा और '**स्थिता:**' जो कहा है वह भी खण्डित हो जायेगा। जैसे–चवन्नी खोटी थी किन्तु रात में जिसे आँखों से नहीं दिख रहा उसे दे दी तो कहने में आता है चवन्नी चल गई तो क्या चवन्नी चलती है लेकिन बहुत से शब्द रूढ़िवादी से चले आ रहे हैं, इस प्रकार कर्म वर्गणाएँ आकर कर्म रूप परिणत होती हैं ऐसा कहते हैं किन्तु वे आती कहीं से नहीं हैं, वहीं आत्मा के प्रदेशों में स्थित हैं। मैं सफलता प्राप्त करने जा रहा हूँ ऐसा किसी ने बोला तो पूछने वाला पूछता है–कहाँ पर जा रहे हो? किस वाहन से जा रहे हो? वहाँ भाषा का अर्थ समझने का प्रयास कीजिए। एक क्षेत्र से क्षेत्रान्तर जाने में गति की आवश्यकता होती है। वही गत्यार्थक धातु जानने के अर्थ में भी आती है, अब देखो–कर्म बँधने के उपरान्त आत्मा तो घूम सकती है किन्तु कर्म नहीं घूम सकता। जैसे-मादक पदार्थ का सेवन किसी ने किया तो मादक पदार्थ तो स्थिर हो जाता है किन्तु उसको घुमा देता है, जब तक उसका असर रहेगा तब तक वह घुमाता रहेगा, उसी प्रकार कर्म व कर्म वर्गणाएँ स्थिर रहती हैं किन्तु आत्मा घूमता रहता है। कर्म वर्गणा रूपी छोटे अथवा बड़े बिच्छुओं ने काट दिया है और उसका जहर फैल गया है, वह तो स्थिर है किन्तु आत्मा को घुमा रहा है, यह भ्रमण चौदहवें गुणस्थान तक नहीं छूटता। इस बिच्छू का प्रभाव चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है, उसका असर समाप्त हो जाता है तो मुक्ति हो जाती है।

जिस प्रकार धूली कण तेल पर चिपक जाते हैं, उसी प्रकार कर्म वर्गणा कर्म रूप होकर आत्मा के प्रदेशों से चिपक जाती हैं। वे एक समय या अन्तर्मुहूर्त या सागरोपम काल तक योग और कषाय का निमित्त मिलने पर ही कर्म रूप परिणत होती हैं। कई व्यक्तियों की धारणा है कि केवली भगवान् के द्रव्ययोग है, भावयोग नहीं है तो फिर सातादि का आस्रव कैसे हो सकता है? क्योंकि भावास्रव जो है वह द्रव्यास्रव का कारण है। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में कषाय नहीं किन्तु योग है उससे भावास्रव है, उसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान में भी एक समय वाला भावास्रव होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि केवली भगवान् के भी भावयोग है। कषाय रहित होने पर भी ईर्यापथ आस्रव

आबाधारहित एक समय स्थित वाला साता का बन्ध कराता है एक समय में एक योग होता है तो असंख्यात समय में असंख्यात बार आस्रव होता है, इसलिए भावास्रव या भावबन्ध के बिना द्रव्यास्रव नहीं होता है यह सिद्ध होता है। **''न अन्तर इति अनन्तर''** जिसमें कोई अन्तर नहीं है। सिद्ध होने के उपरान्त सिद्धालय तक पहुँचने में एक समय लगता है। अनन्तर अर्थात् युगपत् समय भेद नहीं है।

भावास्रव का स्वरूप

मिच्छत्ता-विरदि-पमादजोग-कोहादओऽथ सविण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥

अर्थ—पहले भावास्रव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि रूप कषाय ऐसे पाँच भेद जानने चाहिए। उनमें से मिथ्यात्व आदि के क्रमशः पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं।

मिथ्या-अविरत पाँच-पाँच हैं त्रिविध-योग का बाना है।
पन्द्रह-विध है प्रमाद होता कषाय-चउविध माना है॥
भावास्रव के भेद रहें ये रहे ध्यान में जिनवचना।
ध्येय रहे आस्रव से बचना जिनवचना में रच पचना ॥३०॥

व्याख्या—छहढाला में **''मिथ्या अविरति अरु कषाय परमाद सहित उपयोगा''** प्रमाद अन्त में कहा है इसमें क्रम भंग है, किन्तु यहाँ द्रव्यसंग्रह का क्रम सही है। शराब की दुकान पर कोई व्यक्ति गया और कहता है—मैं तो ऐसे ही चला गया था। फिर रुक क्यों गये? मित्र दुकान के भीतर चला गया था अर्थात् वे पीते हैं तो उसके साथ मित्रता क्यों ? संगत का असर तो पड़ता ही है। दूसरी बात—दूध से एलर्जी क्यों? वह उसकी आभ्यन्तर कमजोरी है। बाहरी चेष्टाओं के द्वारा परिणामों का निर्णय एकदम तो नहीं कर सकते हैं, किन्तु झुकाव किस ओर है। जैसे—चारुदत्त मद्यपान वेश्यागमनादि में ऐसा फँस गया कि उधर घर बिक गया, माँ-बाप गुजर गये और उसे कुछ पता ही नहीं। **''नगर-नारि को प्यार यथा''** वेश्या को तो धन से प्यार होता है, बस। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि विषयों से मतलब नहीं रखता है, वह तो अपने सम्यक्त्वरूपी धन से प्रेम करता है, उसी से मतलब रखता है। **जिसको पाँच पापों में रस आ रहा है, विषयों में रचा-पचा है, उसको निजानुभूति का रसास्वाद आ ही नहीं सकता है।** आत्मानुभूति के लिए विरति आवश्यक होती है। **आत्मचिन्तन अलग चीज है और आत्मानुभूति अलग चीज है। ''ज्ञानी के छिनमाहिं त्रिगुप्ति तै सहज टरैं ते''** गुप्ति के माध्यम से क्षणभर में असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा कर लेते हैं, लेकिन इन्द्र कितना भी चाहे तो भी असंयम के साथ वह निर्जरा नहीं कर सकता। **प्रमाद महान् शत्रु है जो शुद्धात्मानुभूति से चलायमान करता है।** बहुत प्रतीक्षा के बाद किसी सेठानी को पुत्रोत्पत्ति हुई। अन्तर्मुहूर्त खुशी हुई किन्तु उसके उपरान्त चिन्ता प्रारम्भ हो गई कि इसको कैसे पढ़ायेंगे, ये करेंगे, वो करेंगे तो वह आनन्द

समाप्त। **साक्षात् समवसरण में चार-बार दिव्यध्वनि सुनने मिल जाए, फिर भी घर का कामकाज याद आता है। यही छद्मस्थ का परिचय है।** ''**दृष्टवा भवन्तमनिमेष विलोकनीयं।**'' यह कड़ी कहाँ चली गई? घर की कढ़ी याद आ गई। अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा उपयोग स्थिर नहीं होता है। भरत चक्रवर्ती दिग्विजय के लिए निकले साठ हजार वर्ष तक समवसरण याद नहीं आया। यह तो कहने की बात है कि हम भगवान् को नहीं छोड़ेंगे। समवसरण मिलने पर भी एकाध दीक्षा ले लें बाकी सभी तो जय-जयकार ही करेंगे, वाह-वाह ही करेंगे। हमें यह समझ में नहीं आता कि समवसरण छोड़कर कुटिया में रस क्यों आता है? अन्तर्मुहूर्त बाद भावों की परिणति बदलती रहती हैं। ''**करे सो काम, भजे सो राम**'' इन्द्र पञ्चकल्याणक में जाता रहता है, फिर भी विषयों को नहीं छोड़ पाता है।

योग से क्या होता है? छहढाला में कहा है-''जो योगन की चपलाई'' सुध-बुध भूल करके योगों में सुख मानकर संसारी प्राणी जीता है। बैठे-बैठे भी मन में सोचता ही रहता है, अरहंत, सिद्ध नहीं बोलता। समवसरण में जाने के उपरान्त भी घर की, दुकान की याद करता है। ''**कहु न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान।**'' क्षोभ, क्रोधादि आत्मा का स्वभाव नहीं है फिर भी बाहरी निमित्त से भीतरी ऐसी औदयिक भावरूप परिणति चलती है जो संसार का कारण है। कर्म का उदय होता रहे और आत्मा चुप बैठा रहे ऐसा नहीं हो सकता है। बड़े-बड़े पुरुषों को भी उसके आगे घुटने टेकने पड़ते हैं। क्रोधादिक के उदय में हमारे भीतर उस रूप परिणाम अवश्य होते हैं, यह बात अलग है कि हमारी पकड़ में नहीं आ रहा है। हमारे पुरुषार्थ की सीमा कर्मोदय अनुसार जितनी चलती रहती है, उतनी चलाते हैं। कर्मों को अपने हाथ के द्वारा नहीं हटाया जा सकता है, उसके उदय में हमारा स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं चल सकता। अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर ही अवधिज्ञान होता है। देशावधि घनांगुल के असंख्यात भाग मात्र जानता है। सुई की नोंक के असंख्यात भाग का भी जो असंख्यातवाँ भाग है, उसे जानता है। कर्मोदय से जो भाव होते हैं वे परिणाम पकड़ में नहीं आते हैं। इससे स्पष्ट है कर्म भी पकड़ में नहीं आते हैं। हम बुद्धिपूर्वक सीमा तक बचने का प्रयास कर सकते हैं, छू नहीं सकते लेकिन कर्मों के फल में कथञ्चित् स्वतन्त्र हो सकते हैं कि कैसे भोगा जाए? कचहरी में जैसे जितना पूछे उतना ही बताना होता है किन्तु भीतर-भीतर सोचता रहता है, बाहर नहीं आ पाता है। बुद्धिपूर्वक राग है उसे छोड़ने का पहले प्रयास करो, अबुद्धिपूर्वक जो हो रहा है, उसे नहीं छोड़ सकते हैं। आत्मा के स्वभाव के बारे में बार-बार चिन्तन करो यही एक उपाय है। यथाख्यात चारित्र के द्वारा जितनी कर्म निर्जरा नहीं होती उससे ज्यादा सामायिक-छेदोपस्थापना चारित्र में होती है। जिसमें शुक्लध्यान है, यथाख्यात चारित्र है और ग्यारहवाँ गुणस्थान है, फिर भी मोह का सत्त्व है इसलिए कम निर्जरा है। करोति क्रिया, भवति क्रिया, अस्ति क्रिया, सत्त्व क्रिया, एकदेश मुक्ति क्रिया, सूक्ष्म क्रिया और चौदहवें गुणस्थान में मुक्ति क्रिया होती है। यहाँ पूर्ण रूप से कर्मों से मुक्ति हो जाती है।

इस प्रकार आस्रव-बन्ध का कथन हुआ।

मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ हैं। मिथ्यात्व के उदय से सम्यग्दर्शन नष्ट होता है किन्तु सम्यक् प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व नष्ट न होकर सम्यग्दर्शन में दोष लगते हैं। शंका और संशय में अन्तर है। शंका भी एक प्रकार से लौकिक दृष्टि से संशय का रूप धारण कर लेती है, पर इन दोनों में बहुत अन्तर है। संशय में अर्थ का अनिर्णीत ज्ञान माना जाता है यह दोलायित भी माना जाता है। सम्यक् प्रकृति में अर्थ ज्ञात करने के लिए शंका हो सकती है पर वह मिथ्यात्व का संशय नहीं है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि को भी शंका हो जाती है। गणधर परमेष्ठी, श्रुतकेवली को कैसी शंका? तो वहाँ छद्मस्थ अवस्था के कारण कुछ न कुछ आकुलता बनी रहती है। **सप्त भयों से जो दूर होगा, वही निःशंक होगा भले ही थोड़ा ज्ञान हो।** छठवें-सातवें गुणस्थान वाले भी शंकाओं में डूबे रहते हैं। गहन ज्ञान वाला भी आकुलता से घिरा रहता है। गणधर परमेष्ठी क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही होते हैं फिर भी शंका? हम यह इसलिए कहना चाहते हैं कि दर्शनमोह से ही शंका होती है ऐसी जो शंका आप सभी में पड़ी है, वह शंका दूर हो जाए क्योंकि शंका सम्यग्दृष्टि के भी होती है। जब तक शंका समाधान करने वाले बैठे रहेंगे तब तक निःशंक नहीं हो सकते। उनको देखकर शंका उठती रहती है। शंका उत्पन्न होना एक प्रकार से सम्यग्दर्शन का दोष कहा है। मोह कर्म के उदय से तरंगें उठती हैं, वही गहल भाव में डालने वाला होता है। चारित्र-मोह के कारण जड़ जैसा हुआ करता है। विचारों में भेद होते हुए भी वचनों में भेद नहीं होना चाहिए। आज जो कर्म सिद्धान्त है, वह तिल के बराबर है, उसका कोई पार नहीं है। आज एक ही बात को कहने वाला एक ग्रन्थ नहीं है, अनेक ग्रन्थ हैं, अनेक मत मतान्तर हैं। निर्णय एकदम नहीं ले सकते क्योंकि निर्णय लेने वाले गणधर परमेष्ठी अभी तक शंका में पड़े हैं। समाधान करने वाले अभी प्रभु विराजमान हैं, ज्यों ही भगवान् को निर्वाण होता है त्यों ही सायंकाल में गणधर परमेष्ठी को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है वे निःशंक हो जाते हैं, इसलिए ज्ञान ज्योति जलाई जाती है।

द्रव्यास्त्रव का स्वरूप

णाणा-वरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समा-सवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेय-भेओ जिणक्खादो ॥३१॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्‌गल आता है उसको द्रव्यास्त्रव जानना चाहिए। द्रव्यास्त्रव अनेक भेदों वाला है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

ज्ञानावरणादिक कर्मों में ढलने की क्षमता वाले।
पुद्‌गल - आस्त्रव 'द्रव्यास्त्रव' है जिन कहते समता वाले॥
रहा एक विध-द्विविध रहा वह चउविध वसुविध विविध रहा।
दुखद तथा है जिसे काटता निश्चित ही मुनि-विबुध रहा ॥३१॥

व्याख्या—अनन्त शक्ति बताने की नहीं है, उसे बता ही नहीं सकते हैं, आज द्वादशांग का एक अंग भी नहीं है। जानने योग्य अनन्तानन्त पदार्थ हैं, कहने योग्य उसका अनन्तवाँ भाग है इसका पूरा वर्णन अनन्त केवलज्ञानी भी नहीं कर सकते। सिद्धान्त को सिद्धान्त रूप में जानते जाए और भगवान् से प्रार्थना करें कि हमारा यह ज्ञान कभी कम न हो। आवरण का अर्थ पर्दा नहीं है, पर्दा डालने से सिर्फ बाहर का नहीं दिखता भीतर का तो दिखता है किन्तु आवरण कर्म में न अपने स्वभाव का और न पर का बोध होता है इस प्रकार अनन्त गुणों को ये आठ कर्म अपने-अपने अनुसार ढाँकते हैं और घातते है, किन्तु कुछ गुण ऐसे होते हैं जिन्हें कोई ढाँक नहीं सकता। सामान्य ज्ञान की परिणति को कोई रोक नहीं सकता है। ज्ञानावरण कर्म के माध्यम से सामान्य गुण का आवरण नहीं होता। जानने की शक्ति सर्वघाति के द्वारा भी समाप्त नहीं की जा सकती है। हमारा आत्म द्रव्य अनादि से है और केवलज्ञानावरण कर्म भी हमारे साथ अनादि से है इसका एकछत्र राज्य है। इस कर्म ने केवलज्ञान को तो नहीं होने दिया पर ज्ञान को समाप्त नहीं किया। यह केवलज्ञानावरण मतिज्ञानादि पर आवरण नहीं डालता है, जैसे-जिस कर्म के उदय से संयम नहीं हो पा रहा है, उसके माध्यम से संयमासंयम तो होता है, उसे घात नहीं करता है।

भावबन्ध व द्रव्यबन्ध का स्वरूप

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदण भावेण भाव-बंधो सो।
कम्माद-पदेसाणं अण्णोण्ण-पवेसणं इदरो ॥३२॥

अर्थ—जिस चेतन भाव से कर्म बँधता है, वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का अन्योन्यप्रवेश-परस्पर प्रवेश या कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकाकार होने रूप इतर दूसरा द्रव्यबन्ध है।

द्रव्य-भावमय 'बन्ध' तत्त्व भी द्विविध रहा है तुम जानो।
चेतन भावों से विधि बँधता भाव बन्ध सो पहिचानो॥
आत्म-प्रदेशों कर्म प्रदेशों का आपस में घुल-मिलना।
द्रव्य-बन्ध है बन्धन टूटे आपस में हम तुम मिलना ॥३२॥

व्याख्या—रुकने का नाम बन्ध नहीं है, किन्तु दो का एक रूप हो जाना बन्ध है। कर्मों का आना और एक दूसरे में प्रवेश होना, ये दो चीज नहीं हैं। दो का या अनन्त वर्गणाओं का एकरूप हो जाना ही बन्ध है सम्यक् रूप प्रकट हो जाना, विभक्त हो जाना ही बन्ध व्युच्छित्ति या मोक्ष है। बन्ध शब्द की व्याप्ति प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश चारों के साथ हैं। दो के सम्बन्ध से ही शब्द बनता है। जैसे ही आपके कान में शब्द सुनाई दिया तो क्या-क्या एक हो गया? श् +अ + ब् +द् +अ =शब्द यह अनेक से मिलकर बना है। इसी को व्यवहार कहते हैं। स्वर और व्यञ्जन के जोड़ से अक्षर बन जाता है। जैसे-चिथड़े-चिथड़े से गुदड़ी बन जाती है, उसी प्रकार स्वर-व्यञ्जन मिलकर अक्षर और

अक्षर से वाक्य बन जाता है। ये सब व्यवहार की विशेषता और व्यवस्था है। निश्चय में कोई व्यवस्था नहीं लेकिन निश्चय के लिए व्यवहार ही कार्यकारी है। जब हम अपने आत्म तत्त्व को भूल जाते हैं तो विपक्ष का समर्थन कर देते हैं और अपनी आत्म तत्त्व रूपी पार्टी को फेल कर देते हैं। आतमराम विपक्ष की पीठ ठोकता जा रहा है, अपनी पार्टी को वोट ही देना बन्द कर दिया और दूसरों का समर्थन कर दिया, यह ठीक नहीं है। लोकतन्त्र में यही विशेषता है कि किसको वोट दें, यह ज्ञात नहीं है। अपनी पार्टी को ही वोट नहीं देते हैं यह सब मिथ्यात्व, राग-द्वेष रूप परिणति का ही समर्थन है। **एक समय भी ऐसा खाली नहीं जाता कि कष्ट देने वाले कर्म उदय में न आते हों, फिर भी उन कर्मों को निमन्त्रण हम ही देते रहते हैं।** एक समय भी ऐसा नहीं, जो इस प्रकार के कर्मों का बन्ध न होता हो। एक साथ अनन्त कर्मों का बन्ध होता है और निर्जरा के समय थोड़े-थोड़े निकलते हैं। जिस प्रकार काँटा जब लगता है, उस समय उतना दर्द नहीं होता है बाद में दर्द होता है और वह बिना दर्द के नहीं निकलता है क्योंकि काँटा गहराई में चला गया है तो वह चिमटी आदि से धीरे-धीरे निकलता है वहाँ अपना घर बना लेता है फिर तो काँटे से काँटा निकलता है, ज्यादा गहरा हो जाए तो फिर वह ऑपरेशन से ही निकलता है। उसके बाद भी उसका कोई भरोसा नहीं रहता फिर वह काँटा चाई का रूप धारण कर लेता है फिर चल नहीं सकने से लंगड़ा-लंगड़ाकर, लाठी लेकर चलना पड़ता है। जैसे-स्वर के बिना व्यञ्जन चल नहीं सकता "**व्यञ्जनमस्वरं परवर्णं नयेत्**" उसी प्रकार अब वैशाखी का सहारा लेकर चलना होता है। आत्मा के साथ भी एक समय का गड़ा हुआ कर्म रूपी काँटा कोड़ा कोड़ी सागर तक चल सकता है फिर भी अभी तक कोई होश नहीं है और यह बन्ध की प्रक्रिया चल रही है।

द्रव्यबन्ध के भेद व कारण

पयडिट्ठिदिअणु - भागप्पदेस - भेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडि-पदेसा ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥

अर्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बन्ध चार प्रकार का है। योग से प्रकृति तथा प्रदेश बन्ध होता है और कषाय से स्थिति तथा अनुभाग बन्ध होता है।

प्रदेश, अनुभव तथा प्रकृति थिति 'द्रव्य बन्ध' भी चउविध है।
प्रशम -भाव के पूर, जिनेश्वर-पद-पूजक कहते बुध हैं॥
प्रदेश का औ प्रकृति-बन्ध का 'योग' रहा वह कारण है।
अनुभव-थिति बन्धों का कारण 'कषाय' है वृष-मारण है ॥३३॥

व्याख्या—उदय के समय पर अनुभाग बन्ध क्या होता है, यह प्रकृति की तारतम्यता से अनुभव में आता है। अनुभव या अनुभाग बन्ध ये दोनों शब्द मिलते हैं। प्रकृतियों में जो फल देने की तारतम्यता है, वह अनुभाग बन्ध है। कषाय का अनुभाग बन्ध होने पर किस कषाय का उदय

है? यदि क्रोध का उदय है तो उसी क्रोध में मान आदि का अनुभाग आकर चला जाता है, इस प्रकार १५ प्रकृतियाँ यूँ ही निकल जाती हैं। इस प्रकार हम अनेक कर्मों को बिना उदय में लाए वर्तमान पुरुषार्थ से निकाल सकते हैं। योग प्रदेशों और आत्मप्रदेशों में आचार्यों ने कथञ्चित् भेद बताया है। चौदहवें गुणस्थान में योग प्रदेशों का अभाव होने से आत्मप्रदेश उसके बिना रहते हैं। **कर्मों के कड़वे अनुभाग को दश धर्मों के द्वारा समता से बदलकर अमृत रूप करके भोगा जा सकता है।** अनुभागकाण्डक से अशुभ (अप्रशस्त) प्रकृति का अनुभाग कम होता जाता है। जिस प्रकार मैंथी दाने सीधे नहीं दिए जाते हैं, उनको उबालकर उसका पानी अलग करके फिर पानी में डालकर उनका कड़वापन निकालकर अलग कर देते हैं या उनमें थोड़ी गुड़ की डली डाल देते हैं फिर खाते हैं। उसी प्रकार अशुभ कर्म, अशुभतम कर्म और शुभकर्म, शुभतमकर्म अनुभाग का अनुभव अपने-अपने भावों के अनुसार कर सकते हैं। प्रकृति बन्ध होने के उपरान्त भी अनुभाग को भोगना अपने हाथ में है, इस प्रकार विशुद्धि के द्वारा अनुभागकाण्डक घात होता है।

देवता पर आवरण डालने से जैसे उसका ज्ञान नहीं हो पाता है। वैसे ही छद्मस्थ का ज्ञान नोकर्म तथा कर्म से प्रभावित होता रहता है। जैसे–जादूगर जादू दिखाता है २:३० बजे हैं तो सबको साढ़े तीन दिखने लगे। अब यहाँ कौन-सी प्रकृति का आवरण हो गया। कर्म का आवरण तो और सूक्ष्म है वह भी दिखने में नहीं आता। एक लेख आया था कि विदेश का एक व्यक्ति था वह मात्र दसवीं तक पढ़ा था उसे हिन्दी, अंग्रेजी एक दिन पहले तक कुछ भी नहीं आती थी और दूसरे दिन सुबह हुआ कि उसे हिन्दी, अंग्रेजी भाषा का ज्ञान हो गया। M.A. के छात्र को भी मात कर जाए, ऐसा क्षयोपशम प्राप्त हो गया तो यह कहाँ से हो गया। यह सब क्षयोपशम की बात है। अभी तक पर्दा पड़ा था अब ज्ञानावरण कर्म का पर्दा हट गया तो उसे भाषाओं का ज्ञान हो गया तो ये कर्म वर्गणाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि पता नहीं चलता कब कौन से कर्म का उदय हो जाए, वैसे कहा भी है–"**विद्याकालेन पच्यते**" विवेक का काल ३० वर्ष के बाद आता है। कितना भी प्रतिभाशाली बालक क्यों न हो उसे बालक ही कहा जाता है, मनुष्य नहीं। प्रतिभा धीरे-धीरे दिनों-दिन निखार को प्राप्त होती है। बच्चे का ही जन्म होता है, फिर प्रौढ़ता आती है। गन्ने का पौधा यदि साल भर का नहीं हुआ तो रस नहीं निकलेगा। समय पर ही उसमें अनुभाग रस बनेगा। जैसे–खिचड़ी जो बनती है, वह आधा घंटा उचित ताप से बनती है यदि ५-१० मिनट में बना लेंगे तो बन तो जायेगी, किन्तु कच्ची खिचड़ी बनेगी। आज व्यक्ति कम समय में अति उन्नति प्राप्त करना चाहता है। इसलिए पहले गति, प्रगति फिर उन्नति करिये तब सद्गति होगी। सबका सञ्चय हो सकता है, किन्तु काल का कभी सञ्चय नहीं होता है, वह अविरल चलता है। काल का एक उदाहरण है–जिस प्रकार पीपल पर चौंसठ प्रहर तक चोट पहुँचती है उस चौंसठ प्रहरी पीपल के सेवन से हड्डी में जमा हुआ बुखार जड़ से निकल जाता है। चौंसठ प्रहर में कितनी चोटें पहुँचती हैं, उसका हिसाब लगाकर उस पर कम प्रहर में उतनी चोट कर दी तो

वह पीपल चौंसठ प्रहरी नहीं कहलायेगा। वह कुछ कार्यकारी नहीं होगा। आज मनुष्य पल-पल का हिसाब कर रहा है लेकिन पल-पल वह मौत की ओर जा रहा है। इसका कोई हिसाब नहीं है। चेतन ही जब विपरीत पगडंडी अपना लेता है तो अचेतन क्या करेगा? बत्तीस बार यदि एक ग्रास पर चोट पड़ जाए तो रस बन जाए। भोजन या पीपल में जो शक्ति अन्दर रहती है तो इन चोटों के पड़ने से वह बाहर आ जाती है जो अनेक भयंकर रोगों के लिए रामबाण है। **आज लोग सुख चाहिए-सुख चाहिए इसी में सूख रहे हैं। पुण्य का उदय होगा तभी सुख मिलेगा।** शक्तियों का ह्रास नहीं हुआ पर विधि के अनुसार शक्ति का प्रयोग नहीं करने पर फल नहीं मिलता। छठवीं क्लास में हमने पढ़ा था -रोटी को तो पीओ, पानी को खाओ। बत्तीस बार एक ग्रास को चबाओ।

शयन करते हैं तो विशेष दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है। सम्यग्दर्शन के लिए साकार उपयोग कहा है। शयन अवस्था में सम्यग्दर्शन की भूमिका नहीं बनती है। कोई M.D. है, कोई M.B.B.S. है तो ये सब अपने-अपने विषय सम्बन्धी ज्ञान रखते हैं। उसी प्रकार इन प्रकृतियों का स्वभाव भी भिन्न-भिन्न है। निद्रा देवी आती है तो जैसे-भूत वगैरह लगने पर सिर हिलाते हैं वैसे हिलाने लगते हैं। कुछ ऐसे खाद्य पदार्थ हैं जैसे-भैंस का दही सुबह का जमा शाम को खा ले, तो उसे तेज नींद आती है। स्त्यानगृद्धि का उदय आ जाए तो तैरकर आ जायेगा। बड़ी-बड़ी वस्तुओं को उठाकर पटक देता है और बीच में नींद खुल जाए तो बीच में ही डूब जाए। अन्दर ऐसी-ऐसी शक्तियाँ विद्यमान है, जो हमें ज्ञात नहीं। असातावेदनीय से जठराग्नि इतनी तेज हो जाती है कि टनोंटन खा लें तो भी भूख नहीं मिटती है। कर्म सिद्धान्त का ज्ञान आवश्यक है। जानना-ज्ञान का द्योतक है, यह क्रिया है सत्ता सामर्थ्य का द्योतक है। जैसे-जान नहीं सकता, इसमें ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म का उदय रहता है। सप्तम नरक में कुछ अन्तर्मुहूर्त कम तैंतीस सागर तक सम्यग्दर्शन रहता है, किन्तु तिर्यञ्चगति में आने पर उसको सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अब उस जीव को तिर्यञ्चगति अभिशाप सिद्ध हो गई परिणामों की विचित्रता एवं कर्मों के उदय पर यह स्थिति अनुभाग निर्भर है। जितना भी अप्रशस्त प्रकृतियों का गाढ़ापन कम होगा उतना रत्नत्रय निकट होगा। इसलिए इसकी गाढ़ता को कम करने का प्रयास कर वीर्यान्तराय के क्षयोपशम को बढ़ाए क्योंकि इसके बिना रत्नत्रय में आगे नहीं बढ़ सकते। क्षेत्र के प्रभाव से एवं उपयोग स्वाध्याय की ओर लगा होने के कारण अप्रशस्त प्रकृतियों का उदय आकर चला गया और उसका कुछ भी असर नहीं पड़ा, यही तो पुरुषार्थ है। इसलिए द्रव्य, क्षेत्रादि को परिवर्तित करने को कहा है। कर्म में अपने आप ऐसा रस आ जाता है। जिस प्रकार उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी के प्रारम्भ एवं अन्त में जो वर्षा होती है उसी प्रकार यहाँ पर कभी प्रशस्त कभी अप्रशस्त कर्म बरसते रहते हैं। **लौकिक बैंक तो कभी-कभी फेल भी हो सकते हैं किन्तु कर्म का बैंक कभी भी फेल नहीं हो सकता।** ''अपनी करनी आप करें, सिर औरन के धरता'' मोह के कारण ऐसा होता है। **जब सफलता मिलती है तो स्वयं का पुरुषार्थ मानता है और असफल**

होने पर दूसरों को दोष देता है। दूसरों को अपराधी के रूप में देखना यह मोह का परिणाम है। यह उल्टा ज्ञान कराता है। इसलिए सर्वप्रथम स्व क्या, पर क्या यह समझना चाहिए। मोह के कारणों को मिटाने का प्रयास करेंगे तो मोह कम हो सकता है। जैसे–हाथी के पैर खम्भे से बाँध दिए जाते हैं तो उस खम्भे को लेकर ही रमण करने लगता है, घूमने लग जाता है, उसे गहना मानता है और बाँधने का समय आने से पहले ही जाकर खड़ा हो जाता है। आप लोग भी इस प्रकार सात फेरे डलवा कर उसी में रमण करते हैं। **कर्मों का खेल समझदारों को भी समझ में नहीं आता है।** कर्त्ता–करण–उपादान–निमित्त आदि इन बिन्दुओं को लेकर चिन्तन करें तो अपनी गल्तियों का ज्ञान हो सकता है। हलिबेड़ी के समान आयु कर्म है। नामकर्म–'चित्रकारवत्' कहा है यह किसी के द्वारा किया हुआ नहीं है। ''उतरी घाटी हुई माटी'' अच्छे से अच्छा भोज्य पदार्थ भी गले के नीचे जाने पर मल रूप हो जाता है, यह क्रिया अपने आप चलती रहती है। ऐसे ही ये कर्म रहस्य हैं, जिन्हें मानना ही होता है।

अन्तराय कर्म–अच्छे–अच्छे कार्यों में अन्तराय डालने का काम अन्तराय कर्म का है। अन्तराय कर्म को अघाति कर्म कहने की विशेषता यह है कि उससे फल मिलता है। वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम वॉयर का काम करता है और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम करंट का काम करता है। अन्तराय कर्म घाति होते हुए भी अघाति है। ध्यान रखो केवलज्ञान भी परतन्त्र है, जब तक अनन्तवीर्य उत्पन्न नहीं होता तब तक केवलज्ञान कार्य नहीं करता।

बकरी, गाय और भैंस के दूध में दो पहर तक मधुरता रहती है, उसके बाद रस बदल जाता है। इसी प्रकार जीव में कर्म तब तक रहेंगे, जब तक उनका स्वभाव है, तभी तक उनकी स्थिति होती है। जैसे–जब तक शोध करेगा तब तक शोध छात्र कहलाता है। उदय में कर्म आते हैं तो निश्चित उसकी स्थिति समाप्त हो जाती है। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है–''**ततश्च निर्जरा**'' कर्म फल दे चुकने के उपरान्त झड़ जाते हैं। जो होठों के पास पपड़ी जैसी जम जाती है, वह आयुर्वेद में बुखार उतरने का प्रतीक माना जाता है। **दूसरा उदाहरण–**चाय की पत्ती डालकर चाय बनाई फिर उसे छान लेते हैं शेष को क्या करते हैं? फेंक देते हैं। उसी प्रकार कर्म फल देने के बाद निर्जरित हो जाते हैं। विसस्त्रोपचय रूप जो वर्गणाएँ हैं, वह कर्म नहीं। कर्म वर्गणा मात्र है।

''**तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेभ्यस्तद्विशेषः**'' सप्तम नरक पृथ्वी में अन्तर्मुहूर्त कम तैंतीस सागर तक सम्यग्दर्शन रहता है, लेकिन वहाँ से निकलने वाले जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होगा क्योंकि वहाँ सप्तम पृथ्वी के संस्कार ही ऐसे हैं कि नहीं हो सकता है। छठवीं पृथ्वी से निकला हुआ सम्यग्दर्शन लेकर आ सकता है, लेकिन लेकर जा नहीं सकता। इसलिए हमेशा अपने परिणामों को संभालना चाहिए। अप्रशस्त प्रकृतियों की गाढ़ता को पुरुषार्थ करके कम करना चाहिए, अन्यथा पूर्व संस्कारवश विषय कषायों में नहीं चाहने पर भी रमना ही पड़ता है, इसलिए बन्ध के समय

सावधान रहिये। "**विपाकोऽनुभवः**" द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को लेकर कर्म का अनुभाग मिलता है। क्षेत्र बहुत अच्छा है, प्रवचन सुन रहे हैं तो अप्रशस्त प्रकृति का अनुभाग (रस) नहीं हो पायेगा या नहीं के बराबर फल देकर निकल जाता है। इतना पुरुषार्थ तो हम कर सकते हैं। उपवास करेंगे, मंदिर में बैठेंगे, शास्त्र स्वाध्याय करेंगे तो उपवास याद ही नहीं आयेगा। क्षेत्र, द्रव्य आदि परिवर्तित करने को इसलिए कहा है। घाति कर्म कुछ देते नहीं केवल घात करते हैं। अघाति कर्म में घात होते हुए भी लेन-देन होता है। घाति कर्म में अनुभाग लता, दारु, अस्थि, पाषाण रूप होता है। शुभ प्रकृति में गुड़, खांड, शर्करा और अमृत रूप अनुभाग होता है। कभी-कभी कितने भी अच्छे परिणाम करने का प्रयास करो यदि अप्रशस्त प्रकृतियों का उदय है तो परिणाम नहीं सुधर सकते हैं और कभी-कभी अपने आप में बहुत विशुद्धि बढ़ती है। जो कोई भी परिणाम हो रहे हैं, उसमें साक्षात् तो कर्म ही कारण है। **यदि बहिर्दृष्टि (निमित्ताधीन) को छोड़कर अन्तर्दृष्टि पर श्रद्धा करो तो धन बढ़ेगा, ब्याज भी मिलेगा।** जो कुछ भी फल मिल रहा है वह स्वयं के कर्मों का फल है, मेरा यह स्वभाव नहीं है यह तो औदयिक भाव है ऐसा विचार करें यदि **कर्मोदय में राग-द्वेष कर लिया, परिणाम बिगाड़ लिए तो और सशक्त कर्म बन्ध होगा।** परतन्त्रता में कर्मों के आधीन होने से-"**पराधीन सपनेहुँ सुख नाहिं**" कुछ भी सुख नहीं है।

यदि चूना और हल्दी का मिश्रण कर दें तो लाल रंग बन जाता है तो क्या वह ऊपर-ऊपर लाल रंग होता है? नहीं। पूर्ण रूप से होता है। इसी का नाम अन्योन्यानुप्रवेश है। पारे की जो भस्म बनाई जाती है, वह खटाई का योग मिलने पर पुनः पारा रूप हो जाती है। उसी प्रकार कर्म वर्गणाएँ एक समय में सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्यों से अनन्तगुणे परिमाण में ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण बन्ध को प्राप्त होते हैं, यह प्रदेश बन्ध है, सम्यग्दर्शन सहित व्रत रूप परिणामों के द्वारा अप्रशस्त प्रकृतियों की संवर-निर्जरा कर सकते हैं। केवलज्ञान अनन्त को तब तक जान नहीं सकता, जब तक उनके पास अनन्तवीर्य न हो। इसलिए जहाँ कहीं भी क्षयोपशम का विधान आता है, वहाँ ज्ञान के क्षयोपशम के साथ वीर्यान्तराय का क्षयोपशम भी आवश्यक बताया है। अन्तराय कर्म सर्वघाति रूप नहीं है। अन्तराय कर्म के उदय से औदयिक भाव होता है ऐसा कहीं पर भी नहीं कहा या तो क्षय होगा अथवा क्षयोपशम रूप रहेगा। जब तक वायर (अन्तराय कर्म का क्षय) नहीं है तब तक करंट (केवलज्ञान) का कार्य देखने में नहीं आता है। स्थिति-आबाधा को लिए होती है वह कषाय सहित होती है। श्री धवला ग्रन्थ में कहा है-**योग के माध्यम से भी स्थिति-अनुभाग बन्ध होता है, भले ही एक समय वाला सूक्ष्म है क्योंकि ईर्यापथिक आस्त्रव रुकता नहीं है** इसलिए कथञ्चित् बन्ध नहीं कहा जाता है। कई लोग यह अर्थ लेते हैं कि पहले समय में आया हुआ कर्म दूसरे आदि समय में यदि टिकता है तो बन्ध है।

बीजवृक्ष न्याय-बीज पहले या वृक्ष? यह वैज्ञानिक प्रश्न है इसका उत्तर भी वैज्ञानिक दृष्टि

से होना चाहिए। बीज और वृक्ष की परम्परा को देखते हैं तो आदि नहीं मिलेगा। अनादि अनिधन यात्रा अभव्यों की अपेक्षा और अनादि सनिधन यात्रा भव्यों की अपेक्षा है। कर्मों में बीजत्व रहता है राग-द्वेष नहीं करते हैं तो गल सकता है पुनः बन्ध (वृक्ष) नहीं होगा।

भावसंवर और द्रव्यसंवर का लक्षण

चेदण-परिणामो जो कम्मस्सासव - णिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासव रोहणे अण्णो ॥३४॥

अर्थ—चेतन आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव के निरोध में कारण है, उसको निश्चय से भावसंवर कहते हैं और जो द्रव्यास्रव का रुकना है, वह द्रव्यसंवर है।

चेतनगुण से मंडित जो है, आतम का परिणाम रहा।
कर्मास्रव के निरोध में है कारण सो अभिराम रहा॥
यही 'भाव-संवर' है माना स्वाश्रित है सम्बल वर है।
कर्मास्रव का रुक जाना ही रहा 'द्रव्य संवर' जड़ है ॥३४॥

व्याख्या—भाव संवर के दो कार्य हैं—भीतरी परिणाम के माध्यम से कर्मों का आस्रव रुक जाता है, यह भाव संवर है और द्रव्यास्रव का रुक जाना द्रव्य संवर है। जैसे—छाया क्यों पड़ी ? अंगुली यूँ करने पर, अंगुली हटाये बिना एकान्त से छाया को मिटाना चाहो तो मिटा नहीं सकते। अगर छाया पड़ना उसकी योग्यता है तो हमेशा रहना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं है और अंगुली नहीं हटाओ और छाया अलग हो जाए यह भी सम्भव नहीं। **कर्म आगमन के परिणामों को अगर जान लो तो संवर हो जायेगा।** निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध किसके साथ है, यह समझ कर हम संवर कर सकते हैं। यहाँ हेतु शब्द निमित्त के लिए आया है। निमित्त को निमित्त रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। एक कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण होते हैं। उपादान एक तथा निमित्त अनेक होते हैं तब कार्य होता है। निमित्त की संख्या एक साथ अनेक हो सकती है किन्तु उपादान की संख्या एक साथ अनेक नहीं हो सकती है। यही इन दोनों में अन्तर है।

जिसको विद्या की इच्छा हमेशा बनी रहती है, सही विद्यार्थी वही है, जो अवकाश के दिनों में भी अभ्यास करता रहता है। पहले नई किताबें नहीं आ पाती थी तो जिसने वो क्लास उत्तीर्ण कर ली है, उससे दोस्ती करके ले आते थे और अगली कक्षा की पढ़ाई का अभ्यास करते रहते थे। उसी प्रकार परम वीतरागी को देखकर मुनिराज भी गुप्ति आदि में लीन होकर वीतरागी बनने का अभ्यास करते रहते हैं। **वीतरागता की चर्चा में जब इतना मिठास है, तब वीतरागता प्राप्त करने के बाद कितना सुख का अनुभव होता होगा इसलिए राग की चर्चा गौण और वीतरागता की चर्चा हमेशा प्रौढ़ होना चाहिए।** हम वह बात सुनें, वह दृश्य देखें—जिससे वीतरागता प्रौढ़ हो जाए और राग हट जाए, हर्ष भी एक प्रकार से संक्लेश का ही रूप है। हर्ष के अतिरेक में मोक्षमार्ग ढलान में

आ जाता है।

शीत का दुख अधिक माना जाता है, उष्ण का दुख कम। उष्णता जैसे–क्रोध, मान, माया पहले चली जाती है और शीत का दुख जैसे–लोभ कषाय जो दसवें गुणस्थान तक है। जड़ के पीछे चेतना जड़ जैसी होती जा रही है। जड़ अर्थात् बुद्धिहीन, विवेकहीन व्यक्ति ही जड़ की कीमत ज्यादा करता है। वह चेतना की ओर देखता ही नहीं है। पञ्चेन्द्रिय विषयों में डूबने वाला सबसे ज्यादा दुख की अनुभूति करता है। आकुलता अधिक करने वाला अपने उपयोग को बार-बार बाहर की ओर ले जाता है। ऊपर-ऊपर स्वर्गों में भूख, प्यास, गति आदि कम-कम होती गई है, एक सागर की आयु है तो एक हजार वर्ष बाद एक बार अमृतपान रूप आहार करते हैं। तैंतीस सागर की आयु वाले तैंतीस हजार वर्ष में एक बार अमृत का पान करते हैं और फिर उतने ही समय के लिए (तैंतीस हजार वर्ष के लिए) बैटरी चार्ज हो गई, आकुलता जितनी है दुख भी उतना है। दुख की मूर्ति को देखने से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहीं नहीं लिखा, बल्कि दुख की मूर्ति देखने से असाता का बन्ध सम्भव है। **सुख की मूर्ति जिनबिम्ब आदि को देखने से सम्यग्दर्शन होता है। इसलिए हमेशा-हमेशा उस प्रसन्न परमानन्द मूर्ति का दर्शन करते रहना चाहिए। ''दुखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य।''** परीषह के समय पर समतापूर्वक विजय कर लेता है तो संवर निर्जरा होती है। **''मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।''** संवर होता है, उस समय सुख ही हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है, कई लोगों ने यह कहना शुरु कर दिया कि जिस व्यक्ति को दुख की अनुभूति होती है, उसे संवर हो ही नहीं सकता, किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे–क्षुधा की वेदना होने पर भी समता से सहन करना संवर निर्जरा का कारण है। साता का उदय चाहने रूप जो भाव है, वह असाता के आस्रव का कारण है। हर्ष-विषाद नहीं करने रूप भाव का नाम संवर है। **A.C. में बैठकर स्वाध्याय करने की अपेक्षा धूप में यदि दिगम्बरत्व के साथ दुख का अनुभव होते हुए भी समतापूर्वक सहन करता है तो संवर होगा।** उसमें उसकी निष्ठा कितनी है यह देखा जाता है। शीत उष्ण का प्रतिकार नहीं करते हुए मूलोत्तर गुणों का पालन किया है तो संवर-निर्जरा होगी। असाता का उदय है तो निश्चित दुख का संवेदन होगा। असाता की उदीरणा छठवें गुणस्थान तक है। आगे सातवें आदि गुणस्थानों में उदीरणा नहीं है। **पूज्यपाद स्वामी** ने कहा है–**''सुखेन अर्जितं ज्ञानं दुःखेनसति विलीयते''** इसलिए मुनिराजों को कायक्लेश कभी नहीं छोड़ना चाहिए। **कायक्लेश संक्लेश के साथ है तो मात्र क्लेश है।** क्लेश से शरीर को ही नहीं उसके माध्यम से भगवान् आत्मा को भी कष्ट होता है। यदि निर्जरा करना चाहते हो तो हमें ये नहीं चाहिए, ऐसा क्यों कहते हो? **संवर करने वाला अच्छे साधन नहीं मिलने पर भी अपने परिणाम नहीं बिगाड़ता है।** जैसे–एक विद्यार्थी कहता है कि कोर्स बहुत अच्छा है, पढ़ना भी चाहता है, किन्तु कहता है–मैं पेपर नहीं दूँगा, परीक्षा नहीं दूँगा। वह पेपर देने से आखिर डरता क्यों है? जब पढ़ाई कर रहे हो, कोर्स भी मन माफिक है तो पेपर देना

चाहिए लेकिन हर कोई परीक्षा नहीं दे पाता है। परीषह विजय अपने प्रश्न नहीं है ये तो प्रश्न केवली भगवान् के बनाये हुए हैं, ये प्रश्न पहले भी थे, अभी भी हैं और आगे भी रहेंगे यह प्रश्न पेपर हमेशा आऊट है, नकल कर लो, घर में बैठकर ही भले पेपर दो भेदविज्ञान की छवि सामने आ जायेगी। असाता तथा चारित्रमोहनीय का उदय परीषहों के आने पर होता है। उस समय भेदविज्ञान पूर्वक समता के साथ जीतना है। जो व्यक्ति इन कठिनाइयों से गुजरना नहीं चाहता उसके भेदविज्ञान पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। इसलिए कल्याण के मार्ग में कष्ट सहिष्णु बनना चाहिए। "**प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः**" आदिनाथ भगवान् दीक्षा लेने के बाद परीषहों और उपसर्गों से च्युत नहीं हुए इसलिए अच्युत हैं ऐसा समन्तभद्रस्वामी ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है। **हाँ, मीठी और कड़वी दो तरह की परीक्षाएँ होती हैं, क्षुत्पिपासा आदि कड़वी परीक्षाएँ हैं और प्रज्ञा, सत्कार, पुरस्कार आदि मीठी परीक्षाएँ हैं।** जिनकी दृष्टि बाहर में चली जाती है वे इन परीषहों में फेल हो जाते हैं। सही भेद विज्ञानी ही इस मीठे जहर से बच सकते हैं। यह संयम की दुकान कहीं भी रहो, अच्छे ढंग से चलती रहती है, इसमें ताला चाबी कभी नहीं लगते। परीषह विजय को विकल्प की कोटि में रखने वाला वस्तुतः संवर तत्त्व से अनजान है। जैसे–अंगूर नहीं मिलते हैं इसलिए खट्टे कह देना ठीक नहीं। सर्वप्रथम पेड़ पर चढ़ो फिर फल खाओ। परीषह विजय के साथ बन्ध की कल्पना क्यों कर रहे हो? **भगवान् के सामने बैठ जाओ, नकल करके भी पास हो जाओ, भगवान् बन जाओ। दुनिया में इससे सरल कुछ नहीं।** अस्सी साल का वृद्ध फेल हो सकता है और आठ साल का बालक अन्तर्मुहूर्त में भगवान् बन सकता है। संक्लेश परिणामों से संवर नहीं होता है तथा सुख के समय संवर ही होता है ऐसा नहीं मानना चाहिए। जैसे–सामायिक में बैठे आधा घंटे बाद घुटने में दर्द प्रारम्भ हो गया, झुनझुनी आने लगी तो हर्ष–विषाद से दूर होकर असाता की उदीरणा को देखने वाला अधिक–अधिक संवर–निर्जरा कर रहा है। जब बैठा था उस समय कम संवर था लेकिन दर्द होने के बाद भी राग–द्वेष नहीं हैं तो तेजी से संवर–निर्जरा बढ़ रही है। जो कठिन प्रश्न होते हैं, उसके लिए दस नम्बर ज्यादा रखे जाते हैं और यह भी लिखा होता है कि यह प्रश्न हल करना अनिवार्य है। पहले सरल–सरल प्रश्न कर लिए किन्तु ध्यान तो कठिन प्रश्न की ओर ही है। यदि यह नहीं करूँगा तो फेल हो जाऊँगा। इसलिए कठिन प्रश्न से डरिए नहीं किन्तु एक–एक कदम आगे बढ़ाइये। पढ़िये नहीं बढ़िये। आपने पढ़ने में कमजोरी रखी इसलिए कठिन लग रहा है, यहाँ सभी परीषहों से बराबर निर्जरा होती है। जिससे उपवास नहीं बनता उसके लिए उपवास करो कहा जाता है। कोई भी प्रश्न आ जाए उसे हल करने की क्षमता रखे, वही सच्चा विद्यार्थी है। सुनते हैं भरत चक्रवर्ती ने एक भी उपवास नहीं किया और अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया। हाँ, लेकिन उपवास का संकल्प उन्होंने भी लिया था। भेदविज्ञान मजबूत हो तो सब कुछ हो जाता है।

प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक अशुद्ध निश्चयनय रहता है। एक से तीन तक घटता

हुआ अशुभोपयोग रहता है, चार से छह तक तारतम्यता से शुभोपयोग रहता है। सातवें से बारहवें तक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से एकदेश शुद्धनय रूप शुद्धोपयोग रहता है। इस प्रकार एक से बारहवें गुणस्थान तक अशुद्ध निश्चयनय में अशुभ, शुभ, शुद्ध तीन भेद हो जाते हैं। एक समय में एक ही उपयोग व एक ही योग रहता है। जैसे–M.B.B.S. कर रहे हैं, तब वकालत का काम नहीं कर सकते हैं। वही अध्यक्ष, वही मंत्री, वही कोषाध्यक्ष हो ऐसा नहीं होता है किन्तु काम निकाल लेते हैं, यह बात अलग है। दूसरे गुणस्थान में अशुभोपयोग इसलिए है कि वह सम्यक्त्व से गिर गया है कहने में आता है कि चोट से आहत हो गया लेकिन अब तो वह बच नहीं सकता है। द्वितीय गुणस्थान में मिथ्यादर्शन का उपशमकाल होते हुए भी सम्यग्दर्शन का अभाव है, मिथ्यात्व का प्रशस्त उपशम क्यों? क्योंकि वह उदय उदीरणा के योग्य नहीं होगा, इसलिए प्रशस्तोपशम कहा है। ग्यारहवें गुणस्थान में गया और प्रथम समय में ही मरण हो गया, उदयावली तो कषाय से रिक्त थी, किन्तु एक साथ अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान का उदय होगा। अपर्याप्तक अवस्था में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व तो रहा लेकिन उपशम चारित्र नहीं है अर्थात् सम्यक्त्व के क्षेत्र में व्यवधान नहीं है। जैसे–राष्ट्रपति का चुनाव होने पर पाँच वर्ष निश्चित हैं, लेकिन अन्य चुनाव आज हुए और दो दिन बाद पुनः मध्यवर्ती चुनाव भी हो जाते हैं अर्थात् पाँच साल पूर्ण कर भी सकता है और नहीं भी; मिथ्यात्व राष्ट्रपति के समान है, एक बार चुनाव को प्राप्त हो जाता है तो अपना कार्य पूरे समय तक करता रहेगा। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व कर्म की उदय उदीरणा एक समय भी नहीं रुकती, प्रत्येक समय दोनों साथ चलते हैं, लेकिन कषाय के विषय में ऐसा नियम नहीं है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन की हमेशा उदीरणा नहीं होती है। किसी भी एक कषाय का उदय तो रहेगा। यह उदीरणा का काल तीव्रता का प्रतीक है। उदय के साथ एक प्रकार से तीव्रता नहीं लगती इसलिए कहा है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर चलना चाहिए। अध्यात्म ग्रन्थों में कर्म की विशेष चर्चा न करके परिणामों की चर्चा की जाती है। निर्जरा अधिकार में कहा है–"**दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च**" द्रव्य कर्म का उदय हुआ तो नियम रूप से सुख-दुख, साता-असाता के साथ होगा, उसमें यदि हर्ष-विषाद नहीं किया तो निर्जरा को प्राप्त होगा। हमेशा-हमेशा आँख बंद करके बैठें तभी निर्जरा हो ऐसा नहीं है। कुछ लोगों के कर्मों का संवेदन कायगत, कुछ के वचनगत और कुछ के मनगत होता है। जिसे मनगत संवेदन है उसका काय में देखने में आये भी और नहीं भी। दुख का संवेदन करते हुए भी बाहर से प्रतिकार के भाव नहीं आये और प्रतिकार न करे, इसमें भीतरी पुरुषार्थ आवश्यक है। भगवान् बाहुबली ने एक वर्ष तक तन से प्रतिकार नहीं किया लेकिन मन में तो आया होगा। वृषभनाथ भगवान् छह महीने के बाद आहारचर्या को उठे तो क्या मन में विकल्प नहीं आया होगा? वे आहार को उठे यही आकुलता का प्रतीक है। आकुलता के बिना हाथ सामने यूँ करना नहीं हो सकता। हाँ, आकुलता भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है। चार ज्ञान हो गये, अकालमरण भी

उन्हें सम्भव नहीं, फिर आहार में उठने की क्या आवश्यकता थी? आहार करते समय तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध चलता रहता है किन्तु उदय नहीं रहता है, वर्धमान चारित्र है। स्नान नहीं करना, एक बार भोजन करना यह तो मूलगुण है किन्तु गर्मी के कारण सरोवर के पास बैठना यह उष्ण परीषह में कमी मानी जायेगी। जैसे–फेल होना और कम नम्बर मिलना इन दोनों में अन्तर है वैसे ही महाव्रत में कमी आ गई अर्थात् नम्बर कम हो गये। ऐसी स्थिति में संवर नहीं है ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान है तो संवर-निर्जरा तो होती ही है। कुछ लोगों को महाव्रत में कमियाँ ही कमियाँ दिखती हैं। अणुव्रत में तो कमियाँ दिखती ही नहीं। कमी आने पर कहते हैं हमारा तो अणुव्रत है तो यह असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा किस बल पर हो रही है? संयमासंयम के बल पर। उसी प्रकार परीषह सहन न करते हुए भी मुनि के शुद्धोपयोग के साथ असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। सुख-दुख की अनुभूति के साथ हर्ष-विषाद करता है तो बन्ध होता है। "**रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने, तिनमें न राग विरोध पञ्चेन्द्रिय जयन पद पावने**" इनमें हर्ष-विषाद नहीं करना ही तत्त्व विज्ञान है, इसी से संवर-निर्जरा होती है। असंख्यात गुणी निर्जरा मात्र सम्यग्दर्शन से या मात्र संयम से नहीं किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ संयम हो तब होती है। मरण भी सामने आ जाए तो भी व्रती होटल में जाकर नहीं खायेगा। संक्लेश तो हो सकता है, किन्तु असंख्यात गुणी निर्जरा नहीं छूटेगी हाँ, नम्बर कम हो सकते हैं किन्तु फेल नहीं कहलायेगा। अव्रती निर्जरा की बात तो कर सकता है परन्तु निर्जरा से बात नहीं कर सकता है। संक्लेश होना अर्थात् नम्बर कम मिलना और विशुद्धि होना अर्थात् अच्छे नम्बर से पास होना। शुभोपयोग शुद्धोपयोग का साधन है। चौथे से छठवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग के दर्शन नहीं हो सकते हैं। पण्डित बनारसीदासजी को कटु अनुभव हो गया था, अतः 'मेरी जीवन गाथा' में लिख दिया–

करनी को तो रस मिट्यो, आयो न निज को स्वाद।
भई बनारसी की दशा, यथा ऊँट को पाद॥

शुद्धोपयोग की बात तो बहुत की, तीन-तीन दिन तक कमरा बंद करके निर्वस्त्र होकर अनुभव करना चाहा किन्तु आत्मा का अनुभव (शुद्धोपयोग) नहीं हुआ।

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

सामान्य से पुण्य-पाप का बन्ध दसवें गुणस्थान तक है, आगे यथाख्यात चारित्र होने से पाप का बन्ध नहीं होता है। जहाँ-जहाँ पर संवर है वहाँ-वहाँ शुद्धोपयोग है, ऐसा अगर कहते हैं तो दूसरे आदि गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग मानना होगा, क्योंकि–

सोलस पणबीस णभं दस चउ छक्केक्क बंधवोछिण्णा।
दुग तीस चदुर पुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ॥९४॥ (कर्मकाण्ड)

१६, २५ आदि प्रकृतियों का संवर आगे-आगे के गुणस्थान में होता है। शुद्धोपयोग होना अलग वस्तु है और शुद्ध ध्येय होना अलग वस्तु है। यहाँ शंकाकार कहता है-उपादान कारण के सदृश कार्य होता है, ऐसा न्याय में कहा है तो फिर केवलज्ञान शुद्ध है तो उसका कारण भी शुद्ध होना चाहिए। आचार्य कहते हैं-स्वर्ण को निकालने के लिए स्वर्णपाषाण को विधिवत् तपाया जाता है, नहीं तो भस्म हो जायेगा। जैसे-दूध को विधिवत् तपाया जाता है, जमाया जाता है, फिर मथा जाता है, तब घी की प्राप्ति होती है। सौ टंच स्वर्ण चाहिए तो सोलह बार सोने को अग्नि में तपाया जाता है। तब शुद्ध सोलहवानी का सोना बनता है। **शुद्ध स्वर्ण तो सोलह ताप को स्वीकार या सहन करने को तैयार है लेकिन आज आप लोग बारह तप को ही सहन नहीं कर पाते जबकि स्वर्ण से चार तप और कम हो गये।** एक साथ छह तप भी नहीं हो पा रहे हैं। परम्परा से एक ताप भी सोलह ताप के लिए सहयोगी है। सोलहवानी स्वर्ण में पूर्व के पन्द्रह वानी एक-दूसरे के लिए कारण रूप है। पहली वानी दूसरी वानी के लिए उत्तरोत्तर कारण है। उसी प्रकार क्षायिक केवलज्ञान के लिए शुद्धोपयोग रूप क्षयोपशम ज्ञान उपादान कारण है। इसलिए उपादान के अनुरूप कार्य होगा, ऐसा एकान्त से नहीं कह सकते हैं। १२ वें गुणस्थान को प्राप्त कराने वाला शुद्धोपयोग भिन्न है और केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला शुद्धोपयोग भिन्न है। जैसे-घड़े रूप कार्य में-कुशूल, कोश, स्थास, मृतिका पिण्ड आदि उत्तरोत्तर एक दूसरे के कारण हैं। रोटी किसकी बनती है? गेहूँ की। तो गेहूँ से आटा बना है तो आटा खा लो और ऊपर से पानी पी लो क्योंकि उपादान सदृश कार्य होता है तो गेहूँ से ही रोटी बन जाना चाहिए, जिसने उपादान सदृश कार्य को एकान्त से रट रखा है, उनको समझ लेना चाहिए कि सामान्य से मिट्टी से घड़ा बनता है, परन्तु कुम्भकार, चक्र, डण्डा आदि कई चीजें आवश्यक होती हैं। क्षयोपशम अवस्था में केवलज्ञान की अनुभूति मानने वाला अभी सिद्धान्त से अनभिज्ञ है। "**कारणाभावो कार्य**" यह भी न्याय में सूत्र आता है। कारण का अभाव सो कार्य है। जब तक शुद्धोपयोग रहेगा तब तक केवलज्ञान रूप कार्य नहीं दिखेगा लेकिन शुद्धोपयोग को मिटाना नहीं वह केवलज्ञान में ढलेगा। यदि एकान्त से गेहूँ और रोटी में अन्तर नहीं है या एकान्त से गेहूँ या रोटी में अन्तर मानते हैं तो भी रोटी बन नहीं सकती और अभिन्न ही है तो गेहूँ की रोटी क्यों कहते हो? यदि अभिन्न है तो भी यह सिद्ध नहीं होता और भिन्न है तो भी यह सिद्ध नहीं होता। न्याय के क्षेत्र में भेदाभेद, कारण-कार्य की चर्चा रहती है।

गुण के पास और गुण न होने से गुण कभी भी गुणी नहीं हो सकता है। वह गुण जिस द्रव्य में हैं, वह गुणी है। ज्ञान की अपेक्षा ही ज्ञानी है, धन की अपेक्षा धनी है। क्षय ही जिसका प्रयोजन होता है, वह क्षायिक है। क्षायिक कहना अलग है और नित्योद्घाटित कहना अलग है, क्योंकि अब इसमें कोई भी आवरण नहीं डाला जा सकता है। सर्व जघन्य क्षयोपशम की अपेक्षा सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक का ज्ञान भी निरावरण है। केवल ज्ञानावरण का उदय जब तक है, तब तक एक अंश

भी उसका अनुभव सम्भव नहीं हो सकता है। **जिसको मतिज्ञान में ही केवलज्ञान की झलक दिखाई दे रही है, उसका श्रद्धान विपरीत है।** जैसे–रात के १२ बजे से दिन का परिवर्तन हो जाता है। १२ बजने में १ सेकेण्ड भी कम हो तो भी दूसरा दिन नहीं कहलाता क्योंकि एक सेकेण्ड में असंख्यात समय हैं। अभी मंगलवार है, बुधवार नहीं है यही कहा जायेगा। १२ वें गुणस्थान के अन्तिम क्षण तक केवलज्ञान का दर्शन सम्भव नहीं है। राख के माध्यम से अग्नि को छिपा दिया तो अग्नि ढक गई। इस प्रकार अग्नि ज्ञान है और राख आवरण है, उस अग्नि के ऊपर बहुत सारी राख डाल दो तो भी उसके धुएँ को कोई भी ढक नहीं सकता उसी प्रकार क्षयोपशम ज्ञान जो अन्तिम रूप में रह गया उसे कोई ज्ञानावरण नहीं ढक सकता। अन्यथा ज्ञान का ही अभाव हो जायेगा।

देखने के स्वभाव को भी कोई रोक नहीं सकता क्योंकि क्षयोपशम ज्ञान भीतर विद्यमान है। जैसे–आँख अच्छी तरह से मीच लेने पर भी अनुभव होने से प्रकाश झलक ही जाता है। देखने का पूर्ण रूप से अभाव नहीं होता लेकिन पूर्ण रूप से देख भी नहीं सकता। यही क्षयोपशम ज्ञान है। जैसे–मूंग है उसे किसान ने बो दिया, वर्षा हो गई, अंकुरित हो गए। फलियाँ सूख गईं, उनमें दाने आ गये तो किसान ने मूंग को बनाने के लिए भगोनी आदि सामग्री एकत्रित करके पकाना प्रारम्भ किया। ''उपादान कारण सदृश कार्य' तो मूंग बीज रूप में बोया था, वो सीजने वाला मूंग था लेकिन उसकी फली में कई QUALITY के मूंग उग आते हैं, कुछ ठर्रा मूंग भी आ जाते हैं। जो अंकुरित नहीं हो सकते, उसी का नाम ठर्रा है। मूंग से मूंग आ गया यह उपादान कारण है और ठर्रा नहीं बोये थे और ठर्रा आ गये यही अनेकान्त है। देव, शास्त्र, गुरु का उपदेश सुनने पर भी भावों में परिवर्तन नहीं आ रहा है तो देव, शास्त्र, गुरु का दोष नहीं क्योंकि वहाँ ठर्रा मूंग के समान चाहे कितना भी सिजाओ वह सीज नहीं सकता है। धरती माँ भी उसे स्वीकार नहीं कर सकती। हाँ, पिस सकता है, मंगोड़ी बन सकती हैं। देव, शास्त्र, गुरु की शरण लेने पर भी वह ठर्रा मूंग के समान अभव्य जीव जो है, वह नौवें ग्रैवेयक की सीमा तक तो जा सकता है। जिनवाणी माँ की कृपा से इतना विकास तो सम्भव है आगे सम्भव नहीं।

घाति कर्म का अभाव होने पर अघाति कर्म ''दग्धरज्जुवत्'' हो जाते हैं, जली हुई रस्सी में कोई बल नहीं रहता, फिर भी रस्सी तो है। ऐसा कहा है अर्थात् चार घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं तो क्षयोपशम भाव का अभाव हो जाता है ''**मोहक्षयाज्ज्ञान दर्शना-वरणांतरायक्षयाच्च केवलम्।**'' 'च' शब्द से इनमें सर्वघाति स्पर्धक होते हैं, एक अर्थ यह भी निकलता है। क्षयोपशम के बारे में आचार्यों ने कोई एकान्त नियम निर्धारित नहीं किया है। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के साथ क्षयोपशम लब्धि रहती है, लेकिन क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ भी क्षयोपशम लब्धि रह सकती है। बन्ध योग्य प्रकृति को ही मूल प्रकृति मानते हैं, इसलिए सम्यक् मिथ्यात्व एवं सम्यक् प्रकृति मूल प्रकृति नहीं है। सम्यक्त्वमिथ्यात्व में देशघातिपना होने से क्षयोपशम भाव माना है। ११ वें गुणस्थान में उपशम

सम्यक्त्व, उपशम चारित्र होते हुए भी लब्धियाँ तो क्षयोपशम ही रहेंगी और १२ वें गुणस्थान में भी लब्धियाँ तो क्षयोपशमिक ही रहेंगी। सात प्रकृति दर्शनमोहनीय की और २१ प्रकृति चारित्रमोह सम्बन्धी हैं इन दोनों का विभाग अलग-अलग है।

जहाँ पर ज्ञानावरण का विभाजन मति-श्रुत आदि रूप है, वहाँ पर सर्वघाति प्रकृति केवलज्ञानावरण है किन्तु सर्वघाति स्पर्धक सभी ज्ञानों में हैं। जैसे—मतिज्ञान में अवग्रह, ईहा हो गया, अवाय, धारणा नहीं हुई तो तत्सम्बन्धी सर्वघाति स्पर्धक के उदय के कारण ऐसा हो रहा है। सर्वघाति प्रकृति के कारण नहीं। स्पर्धकों के कारण ही आचार्यों ने क्षयोपशम को घटित किया है। मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान देशघाति प्रकृति है, किन्तु आज एक भी अंश नहीं हो रहा क्योंकि सर्वघाति स्पर्धकों का उदय चल रहा है। यदि ज्ञान क्षयोपशमिक है तो क्षायिक शक्ति (वीर्य) कभी घटित नहीं हो सकती है, क्षयोपशम के साथ क्षयोपशम शक्ति ही घटित होगी।

चार घातिया कर्म तो पूरे के पूरे जीव विपाकी हैं। वेदनीय की उदीरणा के साथ सर्वघाति स्पर्धकों का उदय चलता है, क्योंकि वेदनीय के उदय-उदीरणा में सुख-दुख रूप आकुलता उत्पन्न होती है, किन्तु सप्तम गुणस्थान में वेदनीय का उदय मात्र है, उदीरणा नहीं है इसलिए हर्ष-विषाद या सुख-दुख रूप आकुलता नहीं होती है। क्षयोपशम ज्ञान के साथ क्षायिकज्ञान की अनुभूति तीन काल में सम्भव नहीं है। छद्मस्थ अवस्था में रहने वाले तीर्थंकर भी क्यों न हों? शुद्धोपयोग रूप ढला हुआ क्षयोपशमिक ज्ञान मुक्ति का कारण है। शुद्धोपयोग विभाव है, केवलज्ञान स्वभाव है। यहाँ विभाव से ही स्वभाव की प्राप्ति होती है, इस बात को ध्यान से सुन लो। इसलिए जिस भाव से बन्ध होता है, उस भाव के द्वारा संवर-निर्जरा बाधक नहीं हैं। स्वाभाविक रूप केवलज्ञान का कारण वैभाविक रूप शुद्धोपयोग है। इसी प्रकार ध्यान स्वभाव नहीं है पर ध्यान के द्वारा ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान स्वाभाविक है। मैं अशुभ या शुभोपयोगात्मक नहीं हूँ। यहाँ तक कि मैं शुद्धोपयोगात्मक भी नहीं हूँ, क्योंकि शुद्धोपयोग भी ध्यानात्मक है इसलिए वैभाविक है स्वभाव नहीं है और केवलज्ञान ध्येयात्मक है। आत्मस्वरूप होना स्वभाव है। शुद्धोपयोग भी खण्डात्मक है, क्षायोपशमिक है इसलिए अखण्ड स्वाभाविक केवलज्ञान ही उपादेय है।

भाव संवर के भेद

वद-समिदी-गुत्तीओ धम्माणु-पेहा-परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवर-विसेसा ॥३५॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय (जो क्रमशः पाँच, पाँच, तीन, दश, बारह और बाईस प्रकार के हैं) तथा अनेक प्रकार का चारित्र, ये सब भावसंवर के विशेष भेद जानना चाहिए।

पञ्च-समितियाँ तीन-गुप्तियाँ पञ्च-व्रतों का पालन हो।
बार-बार बारह-भावन भी दश-धर्मों का धारण हो॥
तथा विजय हो परीषहों पर बहुविध-चारित में रमना।
भेद 'भाव संवर' के ये सब रमते इनमें वे श्रमणा ॥३५॥

व्याख्या—पाप से दूर होकर प्रशस्तता में प्रवृत्ति करना चाहिए। संवर दो प्रकार का है—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। मन में ही मान की सामग्री विद्यमान है। **मान का दृश्य सामने होने पर मार्दवता का प्रयोग कीजिए।** प्रशंसा के दो शब्द मिलते हैं तो रस आता है। जिस ज्ञान के माध्यम से मान के प्रभाव को रोका जाता है वही ज्ञान सार्थक है, इससे कर्म निर्जरा, आनन्द की अनुभूति तथा स्व-पर कल्याण भी होता है, एक बार यह लगन लग जाए तो भीतर ही भीतर कई ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। हमेशा शुद्ध भाव रखने से वचन शुद्ध होगा और वचन शुद्धि से वचन सिद्धि होगी। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान आदि ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, यह वर्धमान चारित्र का ही फल है। धर्म मुख्य रूप से स्व के लिए होता है। जैसे—नदी स्वयं समुद्र में मिलना चाहती है और भाग रही है। उस बहती गंगा में बीच में कई लोग हाथ धो लेते हैं, नहा लेते हैं पर वह रुकती नहीं है, इस प्रकार धर्म भी स्व के लिए होता है किन्तु उसके निमित्त से लाभ लेना चाहो तो ले लो, दूसरे के लिए धर्म्यध्यान नहीं होता अपने लिए होता है। धर्म को पर के लिए नहीं करना। यदि बँट रहा है तो बाँट दो। बाँटने से कम नहीं होता और बढ़ता है। ध्यान और शुद्धोपयोग ये दोनों स्वभाव नहीं हैं। लौकिक रूढ़ि है कि भोजन करने से सुख होता है लेकिन यह सुख नहीं है, दुख का प्रतिकार है **"परे प्रवीचारा"** कहा है। दुख को मिटाने का साधन प्रवीचार है। वास्तव में इसमें सुख नहीं है।

उत्कृष्टता की ओर जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे आरम्भ परिग्रह की सामग्री कम होती जाती है। समस्त शुभ-अशुभ रागादि विभाव भावों के विकल्प से रहित होना निश्चय से व्रत है और उसके साधन रूप हिंसादि पाँच पापों का जीवनपर्यन्त के लिए दृढ़ता से त्याग करना व्यवहार व्रत है। इस व्यवहार व्रत के बिना कभी भी निश्चय व्रत की गंध नहीं आ सकती। **जो व्यक्ति अपने उपयोग को बार-बार आत्मा की ओर ले जाता है वह चतुर माना जाता है। जैसे—शान पर औजार चढ़ाते हैं तो उस समय चमक आ जाती हैं, अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में राग-द्वेष छोड़ने की कोशिश करते रहना चाहिए।** जिस समय आपकी मोटर साईकिल FIRST गेयर में हो तो गति कम, पेट्रोल ज्यादा लगता है और टॉप में गाड़ी हो तो गति ज्यादा हो जाती है तथा पेट्रोल भी कम खर्च होता है। पेट का पानी तक नहीं हिलता। उसी प्रकार साधक व्यवहार में आता है तो उसमें भी प्रवृत्ति मूलक ही क्रिया हो, ऐसा भी नहीं है। आत्मा के साथ एकाकार हो जाने का नाम समिति है। जब बोलने की आवश्यकता होती है तभी भाषा समिति का प्रयोग होता है। ईर्या समिति में भूमि प्रासुक हो, सूर्य प्रकाश हो और वह भी आवश्यकता हो तभी आना जाना होता है। जैसे—घर में लाइट फिटिंग
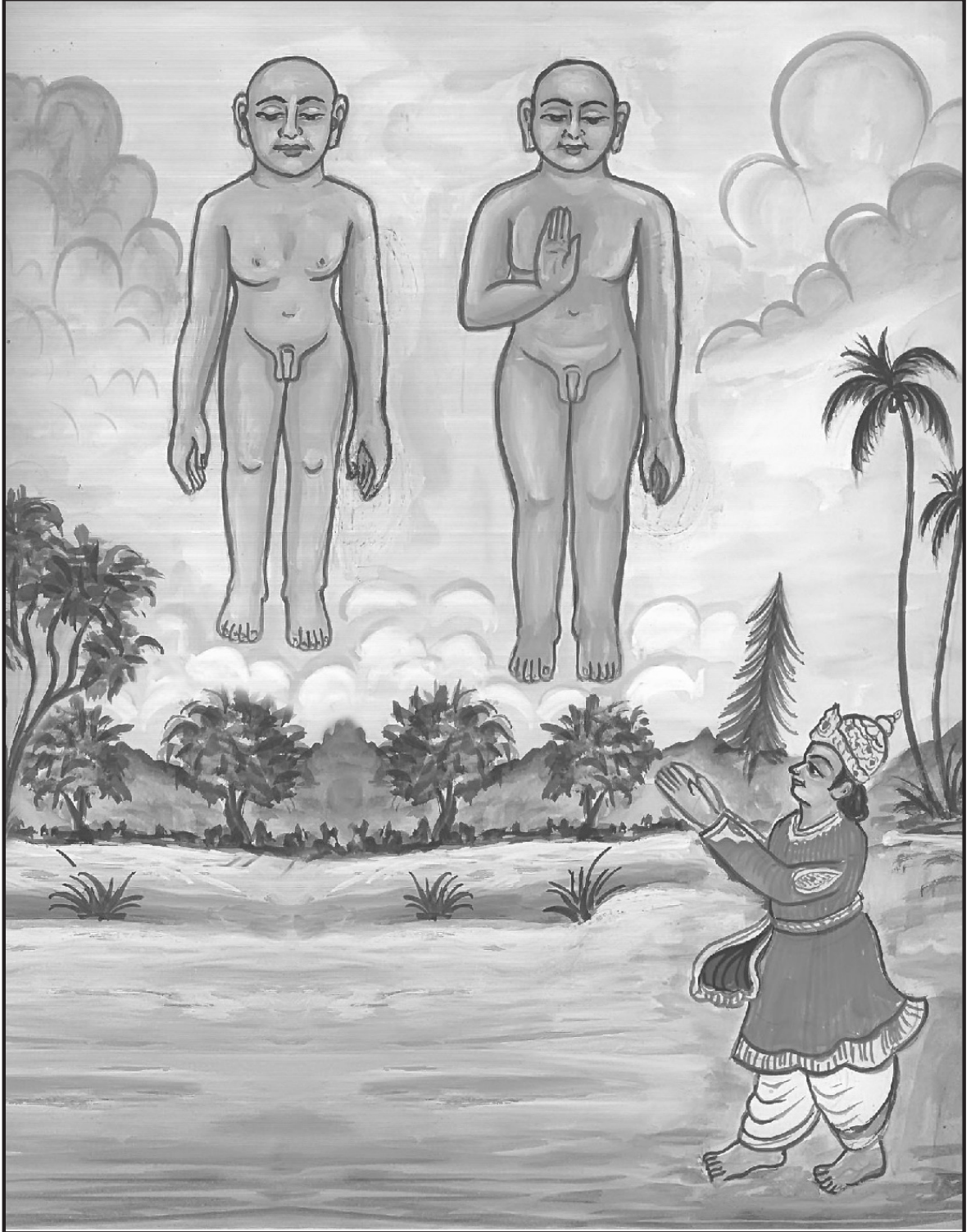
चारण ऋद्धिधारी मुनिराज

है तो दिन–भर जलाओ और फोन है तो दिन–भर फोन करो ऐसा करते हैं क्या? फिर तो आमद कम खर्चा ज्यादा होने से दिवालिया हो जाओगे। इसलिए आवश्यकता होने पर ही इसका उपयोग किया जाता है। मुनिराज भी सोचते हैं, आमद तो होती जाए किन्तु खर्च नहीं करना। व्यवहार में खर्चा ज्यादा होता है इसलिए निश्चय में रहते हैं।

इष्टोपदेश में **पूज्यपाद स्वामी** ने कहा है–वे योगी बोलते भी हैं तो बोलना पड़ रहा है यह सोचकर बोलते हैं, मन से नहीं बोलते। जैसे–सड़क पर आप गाड़ी चलाते हैं तो एक–सी गति हमेशा रहती है क्या? चौराहा, CORNER आदि में सँभालना पड़ता है, उसी प्रकार मुनिराज भी अपनी चारित्र की गाड़ी को सँभालते रहते हैं। जैसे–घर से बाहर निकलते हैं तो छाता ले लो, वाहन ले लो आदि प्रबन्ध किया जाता है, लेकिन घर में कभी वाहन का प्रयोग करते हैं क्या? घर में कपड़े भी पुराने पहनते हो। जिस प्रकार घर में कभी वाहन का प्रयोग नहीं होता और न हि अच्छे महँगे कपड़े पहनते हैं, उसी प्रकार निज गृह में रहने वाले को किसी की आवश्यकता ही नहीं रहती है एवं आत्मा के बाहर आये अर्थात् निश्चय को छोड़कर व्यवहार में आये तो वही दशा होती है जो दशा होली के समय घर से बाहर निकलने पर होती है। फाल्गुन में रंगपञ्चमी के दिन रंग किस पर लगता है? जो बाहर निकलता है और फिर चार–पाँच दिन तक धोते रहते हैं। यही दशा निश्चय रत्नत्रय की है, थोड़ा–सा बाहर झाँका कि विकल्प के फब्बारे आ जायेंगे। ऐसे मुनिराज भी होते हैं, जो हमेशा गुप्ति में लीन रहते हैं। कहाँ क्या हो रहा है कुछ पता नहीं। रागादि से रहित निजात्म–लीनता निश्चय गुप्ति है। आत्मा राग–द्वेषादि करने लग जाता है तो धर्म से च्युत हो जाता है। निश्चयनय में तो बोलना ही अच्छा नहीं माना गया है।

प्रवचन तो रविवार को होते हैं, किन्तु अभी क्लास में आगम के वचन बोले जा रहे हैं, यह है सत्य धर्म। स्वयं के लिए सत्य व्रत होता है, इस प्रकार यह विभाजन हो जाता है। आपके उपदेश को ही हम आदेश मानेंगे ऐसा जो जिज्ञासु होता है उसके लिए समझाना होता है। प्रवचन दुबारा नहीं होता है, किन्तु यदि किसी को समझ में नहीं आया तो दुबारा समझाया जा सकता है। बारह अनुप्रेक्षा १२ प्रकार के विषयों को लेकर चिन्तन करना होता है। समिति में प्रवृत्ति होती है तो उसमें प्रमाद की संभावना हो सकती है, उस समय दश धर्म का अवलम्बन लिया जाता है। जैसे–छाता घर में नहीं लगाते धूप और वर्षा से बचने के लिए लगाते हैं, उसी प्रकार प्रमाद से बचने के लिए दश धर्म यहाँ बताये हैं। कई लोग आकर कहते हैं–हमें क्रोध बहुत आता है ऐसा कोई मन्त्र दे दो, जिससे क्रोध न आये तो आचार्य कहते हैं–जो अपने पास क्षमा का जल है उसे छिड़क दो। जैसे–दीपक के पास अंधकार नहीं आ सकता उसी प्रकार क्षमा के पास क्रोध नहीं आ सकता। जहाँ पर ठंडक है, वहाँ धधकता हुआ दावा भी कुछ काम नहीं कर सकता। मान के द्वारा मार्दव धर्म को ही मार दिया है। वक्रता क्यों करते हो? सामने वाला ऐसा है इसलिए करना पड़ता है तो कोई न कोई निमित्त तो रहेगा

ही यदि क्षमा रखोगे तो कुटिल प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः वक्रता का त्याग कर सरलता अपनाओ। शुचिता का भाव यह शौच धर्म है, छह आवश्यकों में से किसी एक के प्रति लोभ नहीं यह भी शौच धर्म है। सज्जनों के प्रति अच्छे वचन बोलना सत्य है। एकेन्द्रिय आदि प्राणियों की पीड़ा का परिहार और इन्द्रिय जय करना संयम है। कर्मों का क्षय करने के लिए जो तपा जाता है वह तप है। तप दो प्रकार के हैं—१. बाह्य तप, २. आभ्यंतर तप। दोनों ही तप छह प्रकार के हैं। परिग्रह की निवृत्ति त्याग अथवा संयमी के योग्य ज्ञानादि के दान को भी त्याग कहते हैं। ''यह मेरा है'' ऐसे अभिप्राय की निवृत्ति आकिञ्चन्य है, जिसके पास कुछ भी नहीं है वह आकिञ्चन्य है उसका भाव अथवा कर्म आकिञ्चन्य है। जिसका अनुभव हो, उस स्त्री का स्मरण, चर्चा, स्त्री के बैठने की शय्या, आसन आदि के त्याग से ब्रह्मचर्य होता है अथवा स्वतंत्र स्वभाव की प्राप्ति के लिए निज ब्रह्म (आत्मा) में रमना, चर्या करना ब्रह्मचर्य है। एक घर में रहकर भी एक साथ टी० व्ही० नहीं देखते, अन्य के घर जाकर टी० व्ही० देखता है तो चक्षु और कर्ण इन्द्रियविजय नहीं होगी। शब्दों के लिए आकृष्ट हो जाना कर्णेन्द्रिय विजय नहीं है और सुनने में आ जाए तो भी उसमें राग-द्वेष नहीं करना कर्णेन्द्रिय विजय है। उदय काल में ही यह उपयोग का पुरुषार्थ माना जाता है। उपशमन शब्द आता है, वह उपशम के कार्य में लगे हुए पुरुषार्थ के अर्थ में है। उसके बाद कर्म उपशान्त होता है। कार्य होने के उपरान्त विशुद्धि होती है, वह अलग है तथा कार्य करते-करते विशुद्धि होती है, वह अलग वस्तु है। **संसारी प्राणी अनेक प्रकार के आवरणों और आभरणों से काया को सजाते हैं और आत्मा को धूल-धूसरित किए रहते हैं।** शरीर को चमकाओ, दमकाओ नहीं, किन्तु उसका जैसा स्वभाव है वैसा रखो। 'यथाजात' मल धारिणी काया मुनिराज की होती है। पञ्च परमेष्ठी की भक्ति, परम गुरुओं की यथायोग्य वंदना करना, गुरु कहीं भी रहें, वे समाधिस्थ भी हो जाएँ तो भी उनके प्रति समर्पित रहना यह विनय है। **अपने अनुकूल चलोगे तो स्वच्छन्द हो जाओगे लेकिन आगम व आचार्य के अनुकूल चलना विनय शुद्धि है।** जहाँ तक बने कम से कम प्रवृत्ति हो और यदि प्रवृत्ति करो तो समीचीन हो। **मूलाचार** में गाथा आयी है—जो हमेशा हम कंठस्थ रखते हैं।

पंचवि इंदिय मुंडा, वचि मुंडा हत्थ-पाय मणमुंडा।
तणुमुण्डेण वि सहिया, दस मुंडा वण्णिया समये ॥१५६॥

५ इन्द्रियों का मुण्डन आवश्यक है। वचनों के माध्यम से प्रभावना, अप्रभावना, मित्रता और शत्रुता दोनों होती है। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र में अहिंसा व्रत के पालन में ''**वाङ्मनोगुप्तीर्यादान-निक्षेपण-समित्या-लोकितपानभोजनानि पञ्च**'' कहा है। अहिंसा व्रत के पालन के लिए वचन मुण्डन आवश्यक है। दाँत और जिह्वा का झगड़ा हो गया तो दाँत कहते हैं कि पुरुषार्थ तो हम करते हैं और रस तू चख लेती है तू अकेली है और हम बत्तीस हैं। जिह्वा कहती है—मैं चाहूँ तो तुम बत्तीसों को एक मिनट में गिरा दूँ इसलिए अहिंसा व्रत के परिपालन के लिए वचन मुण्डन अनिवार्य है। कोई

भी बात किसी भी इन्द्रिय को अखरती नहीं है, लेकिन मन को अखरती है। इसलिए मन मुण्डन अनिवार्य है। श्मशान में ध्यान कौन लगाता है? जिनका मन मर जाता है, वे श्मशान में रह जाते हैं। मन के अनुकूल सब कुछ किया तो मन का मुण्डन नहीं। जब चलने के समय पाँचों प्रकार के स्वाध्याय का निषेध किया है तो चलते समय बोलना भी नहीं चाहिए। चलते समय और भोजन करते समय बोलने का निषेध किया है। आराधना ग्रन्थ में इसको उपयोगशुद्धि कहा है। आलम्बनशुद्धि, आलोकशुद्धि, पथशुद्धि और उपयोगशुद्धि, ये चार बातें ईर्यापथशुद्धि में होना चाहिए। तीर्थंकरों को आत्मा की अनुभूति भले ही कम हो जाए किन्तु प्रवृत्ति के समय उनके मूलगुण एवं उत्तरगुणों में किञ्चित् भी दोष नहीं लगाते हैं, वे केवलज्ञान होने तक बोलते ही नहीं हैं। इसलिए उनके छेदोपस्थापना चारित्र होता ही नहीं है। कषाय सहित वचन में कहीं न कहीं राग-द्वेष छुपा हुआ है। चलना तो अनिवार्य हो सकता है लेकिन बोलना कोई अनिवार्य नहीं है। जैसे–परीक्षा के समय लिखित परीक्षा होती है तो बिल्कुल सन्नाटा रहता है। जल्दी-जल्दी या विलम्ब से भी बोलना नहीं होता। जैसे–द्रुत विलम्बित छन्द में तीन शब्द धीरे, फिर जल्दी, फिर धीरे बोलते हैं। जैसे–उदक चंदन आदि बोलते हैं।

स्वाध्याय के तीसरे भेद अनुप्रेक्षा में तत्त्व, द्रव्य आदि के बारे में जो पढ़ा उसका चिन्तन होता है, उसकी अवधारणा होती है। अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग बारह भावना के लिए भी किया जाता है। इन्हीं का बार-बार चिन्तन किया जाता है। प्रवचनसार में तत्त्व का कथन करते हुए कहा है–"**आद पधाने**" तत्त्वों का ज्ञान होते हुए भी वह ज्ञान आत्म प्रधानता के लिए होना चाहिए। हम अन्य तत्त्व या द्रव्यों का ज्ञान आत्म तत्त्व व अन्य तत्त्वों में भिन्नता ज्ञात करने के लिए ही करते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने '**स्वहितमुपलिप्सु**' यह भव्य का महत्त्वपूर्ण विशेषण दिया है। वैसे ग्यारह अंग, नौ पूर्व का अभव्य भी ज्ञान कर लेता है, लेकिन आत्म तत्त्व की मुख्यता उसके लिए नहीं होती है। जिसके द्वारा द्रव्य कर्मों का आस्रव होता है, वे भाव कर्म के अन्तर्गत आते हैं तो रागादि भाव कर्म कहने से मोह की परिणति मात्र नहीं लेना किन्तु योगादि भी लेना है। 'कृत्स्नकर्म' से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म लेना। नोकर्म तीन तरह के होते हैं–चेतन में-वनितादिक, अचेतन में-स्वर्णादिक और मिश्र में चेतन-अचेतन दोनों आ जाते हैं। जैसे–आभरण से सहित स्त्री आदि। शरीर, कमण्डलु और पिच्छिका आदि अचेतन हैं, पर पकड़ने वाला जीव है। ये शरीरादि मेरे स्वभाव नहीं हैं, ऐसी बार-बार भावना करनी चाहिए। **वह औषध जो बार-बार अच्छी भावना के साथ बनाई गई है, भले ही वह मात्रा में कम भी हो तो भी वह गुणकारी होती है।** सम्यग्दर्शन के साथ बारह भावना का बार-बार चिन्तन करने में थकान नहीं लगती है। जो बारह भावना में विशेष रुचि लेते हैं एवं मुनिव्रत धारण करके मरण करते हैं, वे लौकान्तिक देव बनते हैं। अतः वहाँ से अनुप्रेक्षा का ही समर्थन करने तप कल्याणक में आते हैं। इसके पहले एक और नीलांजना आ गई तब भी लौकान्तिक देव नहीं आये। तीर्थंकर के

साक्षात् समवसरण में सभी तरह के मुनिराज बैठे हैं। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले छोटे महाराज भी बैठे हैं। बारहभावना भाने में अलग ही लहर आती है। **''कहाँ गये चक्री जिन जीता भरतखण्ड सारा''** वीरसेन स्वामी ने चार प्रकार की कथाओं का कथन किया है। मोक्षमार्ग संवेदनी निर्वेदनी कथा पर आधारित है। ये कथाएँ संवर का कारण हैं। दीक्षा के समय या उससे पहले संवेग, निर्वेग कथाओं से युक्त रहता है। बीच में आक्षेपिणी, निक्षेपिणी कथाएँ आ भी जाए तो अन्त में फिर पञ्च परमेष्ठी की ही शरण में आते हैं। विद्वत्ता के साथ ही आक्षेपिणी कथा होती है किन्तु संवेदनी, निर्वेदनी कथाओं से कषाय उपशान्त होती चली जाती है। पण्डित आशाधरजी कहते हैं– जैसे चन्द्रमा को देखने से विशेष रूप से ज्वार–भाटे उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार आक्षेपिणी, निक्षेपिणी कथा से भी ज्वार–भाटे जैसी कषाय उत्पन्न होने लगती है, यहाँ तक कि बड़े–बड़े मुनि, आचार्यों को भी ये कथाएँ क्षोभ उत्पन्न करा देती हैं। संज्वलन के अलावा अन्य कषाय भी आ सकती हैं या षट्लेश्या में से कोई भी हो सकती है। उपदेश भाषा समिति के रूप में ही होना चाहिए। उसमें संवेदनी–निर्वेदनी का सम्मिश्रण होना चाहिए।

खण्डन मण्डन में लगा, निज का ना ले स्वाद।
फूल महकता नीम का, किन्तु कटुक हो स्वाद ॥८६॥ (सूर्योदय शतक)

न्यायकारों ने कहा है–एक वीतराग कथा और एक जिजीविषु कथा। इस जिजीविषु कथा में राग–द्वेष हो सकता है, अतः विवाद से दूर रहना चाहिए। स्वाध्याय वाद–विवाद से रहित होना चाहिए। आज तो आक्षेपिणी, निक्षेपिणी कथा से आवेग, उद्वेग आदि प्रारम्भ हो जाते हैं। कषाय कुशील मुनि मात्र अष्टप्रवचन मातृका का ज्ञान होने पर भी नव नोकषाय की उदीरणा होने पर भी उससे प्रभावित नहीं होते। मात्र संज्वलन कषाय रहती है, उन्हें कषाय कुशील कहते हैं, यह उनकी साधना है, पुरुषार्थ है। **बारह सौ भावना मत भाओ, बारह भावना भाओ इससे उपयोग ठंडा हो जाता है, बारह भावना स्वाध्याय का निचोड़ है इससे उपयोग शान्त होता है।** इसमें ध्यान की निकटता है। स्वाध्याय से तो मन थक जाता है, लेकिन अनुप्रेक्षाओं में घंटों मन लगता है। स्वाध्याय का तो काल निश्चित किया है, लेकिन अनुप्रेक्षा के लिए कोई निश्चित समय नहीं। अनुप्रेक्षा से वैराग्य बढ़ने लगता है, निर्वेग की उत्पत्ति हो जाती है इसलिए ज्ञानार्णवकार ने ध्यान के लिए बारह भावना से शुरुआत की है। अध्यात्म में ध्यान व भावना ये दो मुख्य बात हैं।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिराभावा सव्वे संजोग लक्खणा ॥१०२॥ (नियमसार)

यह गाथा पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज को प्रिय थी। सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ने से थकान हो सकती है किन्तु ऐसे अध्यात्म पद याद रखने से शान्ति मिलती है।

अनित्य भावना–धर्मनाथ भगवान् गृहस्थ अवस्था में छत पर बैठे चित्रकारी कर रहे थे। तभी

बादल विलीन हो गये तो अनित्यता का ज्ञान होते ही वैराग्य हो गया पालकी में बैठ गये, दीक्षा ले ली। बारह भावना वैराग्य की उत्पत्ति के लिए माँ के समान है। पूज्य **ज्ञानसागरजी महाराज** ऐसा अर्थ लगाते थे–"**वैराग्य उपवन माहिं**" वैराग्य के उपवन में बैठ, माहिं–भीतर बैठकर सोचो।

अशरण भावना–देखो निश्चय रत्नत्रय में परिणत स्व शुद्धात्म तत्त्व निश्चय से शरण है और उसका बहिरंग सहकारी कारण पञ्च परमेष्ठी की आराधना भी शरण है। दिन ढलती हुई छाया बहुत बड़ी दिखती हुई भी एकदम ढल जाती है, उसी प्रकार पुण्य भी छाया के समान ढलने वाला है। महासमुद्र में पक्षी के लिए एक जहाज ही शरण है। उसी प्रकार पञ्च परमेष्ठी और आत्म तत्त्व ही शरण है बाकी जगह जायेगा तो डूबेगा। स्व–शुद्धात्म की शरण में आने पर आत्मा आस्रव–बन्ध रहित वज्र कोट के समान सुरक्षित रहती है। जैसे–नरकों में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले के छह महीने शेष रहने पर वज्र कपाट से सुरक्षा हो जाती है। **धर्म जहाँ पर है, वहाँ निर्भयता है।** नारायण–प्रतिनारायण का हमेशा–हमेशा अकालमरण ही होता है, क्योंकि वे धर्म को छोड़कर अन्य कार्य में लगे रहते हैं।

संसार अनुप्रेक्षा–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पाँच प्रकार का संसार है।

१. द्रव्य संसार–पञ्चेन्द्रिय के विषयों को अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ा है, इसके अलावा इतिहास में और कोई कार्य नहीं किया। शास्त्रों से यह सब ज्ञान होता है, लेकिन भूल जाता है। मैंने **ज्ञानसागरजी महाराज** से पूछा–जो यहाँ से सल्लेखना करके देव बने वे एक बार तो आकर बता देते कि हम वहाँ हैं, वे यहाँ क्यों नहीं आते हैं? तब गुरुमहाराज ने कहा था कि–वे वहाँ जाकर गाफिल हो जाते हैं देवगति में एक देव की कम से कम बत्तीस देवियाँ तो होती ही हैं। भूतकालीन भी कई सम्बन्धी वहाँ मिल जाते हैं किन्तु सब भूल जाते हैं और विषयों में डूब जाते हैं, अन्त में फिर जब छह महीने शेष रहते हैं, तब ध्यान आता है कहाँ जाना है ? शहरों में जैसे पहुँच जाए तो चहल–पहल भीड़ रहती है, इससे भी ज्यादा भीड़ स्वर्गों में रहती है। उन असंख्यात देवी–देवताओं की भीड़ में यह फँस जाता है। वहाँ न तपस्या है, न ध्यान है, न व्रत है। सम्यग्दृष्टि देव तो नन्दीश्वर द्वीप, समवसरण आदि में विक्रिया से चले जाते हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में वहाँ भी छोटे–बड़े के विकल्प होते रहते हैं, अवधिज्ञान के द्वारा भी पूर्ण नहीं जानता है। अवधिज्ञान के द्वारा सम्यग्दर्शन हो ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है, जातिस्मरण को तो हेतु बताया है, देवर्द्धिदर्शन, जिनमहिमा आदि से सम्यग्दर्शन बताया है, नीचे नरकों में वेदनानुभव से भी होता है। कठिन तपस्या से आदिनाथ भगवान् का जीव मुनि बनकर सर्वार्थसिद्धि गया, वहाँ कोई पञ्चेन्द्रिय विषय नहीं, आकुलता नहीं, प्रवीचार नहीं, किन्तु नीचे आये तो तेरासी लाख पूर्व वर्ष तक विषयों में लिप्त रहे। तब इन्द्र को भी चिन्ता हो गई एक और नीलाञ्जना की आवश्यकता पड़ गई। भरत, बाहुबली भी सर्वार्थसिद्धि से आये और राज्य के पीछे यहाँ लड़ाई हो गई। तीन कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान ये सर्वघाति हैं, इनमें विषय ही विषय दिखता है। प्रत्याख्यान का उदय है तो संयम धारण नहीं कर सकता अप्रत्याख्यान के कारण

1. अनित्य अनुप्रेक्षा

2. अशरण अनुप्रेक्षा
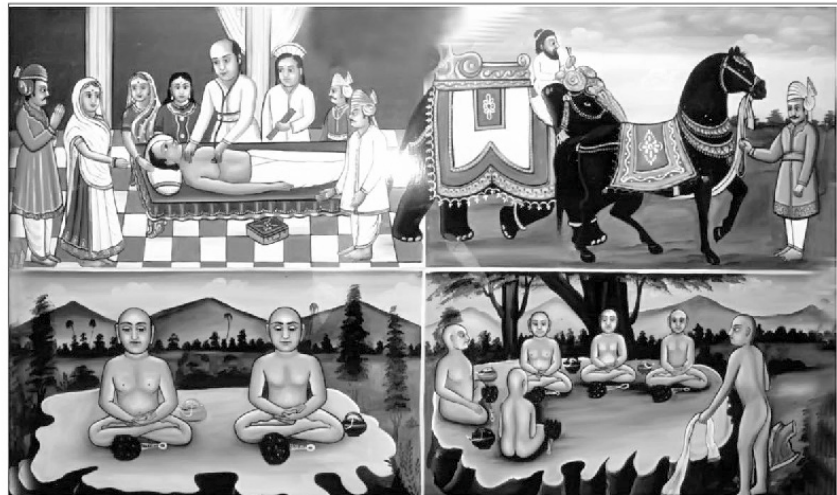
3. संसार अनुप्रेक्षा

देशसंयम नहीं ले सकता। सपूर्व-अपूर्व और मिश्र ऐसे पुद्गल द्रव्य हैं, उनको इस जीव ने अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा है, फिर भी इस जीव को ऐसा लगता है जैसे पहली बार ही यह भोग्य सामग्री मिली है पहले कभी खाया ही नहीं हो, देखा ही नहीं हो, भोगा ही नहीं हो ऐसा उसमें रचता है।

२ . क्षेत्र संसार—असंख्यात प्रदेशी लोक के एक-एक प्रदेश को व्याप्त करके जिस प्रदेश में यह जीव अनन्त बार जन्मा न हो, मरा न हो ऐसा कोई प्रदेश नहीं है।

दिन का हो या रात का, सपना-सपना होय।
सपना अपना सा लगे, किन्तु न अपना होय॥ (सूर्योदय शतक)

मोह का ऐसा प्रभाव है कि दिन का सपना समझ में नहीं आता। समयसार में तो यही लिखा है कि—निश्चय को छोड़कर व्यवहार में आकर ही समझाना होता है। जब तक उपदेश है, तब तक मुक्ति नहीं है। समवसरण में बैठे हुए अन्य मुनिराजों को तो मुक्ति हो सकती है, लेकिन समवसरण के नेता को मुक्ति नहीं हो सकती है। **सिंहासन के साथ मुक्ति नहीं, पहले सिंहासन निरोध फिर योग निरोध होता है।**

३. काल संसार—दश कोड़ाकोड़ी प्रमाण उत्सर्पिणी और दश कोड़ाकोड़ी प्रमाण अवसर्पिणी ये बीस कोड़ाकोड़ी प्रमाण एक कल्पकाल होता है। निगोदिया जीव को छोड़कर उसके एक-एक समय में यह जीव अनन्त बार जन्मा और मरा। कब कहने से काल का ज्ञान होता है और कहाँ क्या यह क्षेत्र की विवक्षा में कहा जाता है।

४. भव संसार—ग्यारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र वाले शुद्धोपयोगी जिसने पहले आयु का बन्ध कर लिया वह मरण को प्राप्त होता है किन्तु शुद्धोपयोग के साथ आयु का बन्ध नहीं होता है। आयु कर्म निरन्तर बँधी है, कम से कम अन्तर्मुहूर्त बँधेगी और उस समय शुद्धोपयोग का अभाव रहेगा। सौधर्म इन्द्र को ही शक्र कहा जाता है। शक्रमहिषी यानि सौधर्म इन्द्र की पट्टरानी यह एक भवावतारी होती है। इन्द्र से पहले यह मोक्ष चली जाती है। एक इन्द्र के काल में चालीस नील प्रमाण शचि इन्द्राणी होती हैं। सोचो! इन्द्र अपने काल में कितने पञ्च कल्याणक भगवान् के मनाता है। एक सौ सत्तर कर्मभूमियाँ हैं। विदेहादि में तो निरन्तर तीर्थंकरों के कल्याणक होते ही रहते हैं। इन कल्याणकों के सान्निध्य से एक भव शेष रहता है। **निजात्मा की भावना भव विध्वंसक है। जिसको अपनी आत्मा का भान नहीं है, वह सात तत्त्वों का कितना भी चिन्तन करे, उससे कुछ नहीं होगा।** मेरा क्या होगा, कब तक भ्रमण करना पड़ेगा, ऐसा विपत्ति के कारण या प्रतिकूलता के कारण नहीं सोचना, किन्तु आत्म कल्याण की दृष्टि से सोचना चाहिए। हठ योग के द्वारा कुछ लोग मन को बाँधना चाहते हैं, किन्तु उससे दिमाग और बँध जाता है, जिससे ऊर्जा कम होती जाती है, शारीरिक, मानसिक, वाचनिक ऊर्जा को सिद्धान्त में ओज या बल कहा है। शोक, खेद-खिन्न, दुर्ध्यान आदि से ऊर्जा में कमी होगी, इसलिए ज्यादा चिन्तन का भी मना किया है, पहले आप चिन्ता छोड़

दीजिए, फिर अपने आप चिन्तन होने लगेगा। एक वस्तु पर मन टिकाने से पसीना आने लगता है, इसलिए ध्यान में भी ज्यादा देर तक नहीं टिक सकता। वज्रवृषभनाराच संहनन वालों को भी अन्तर्मुहूर्त के बाद बाहर आना पड़ता है, यह आवश्यक है। समयसार में कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं ॥२१९॥

उसी आत्म तत्त्व में निष्ठ हो जाओ, उसी में संतुष्ट हो जाओ, उसी में रुचि करो, उसी में ठहर जाओ, इसी आत्म तत्त्व के द्वारा तृप्ति होगी संतुष्टि का स्रोत आत्म द्रव्य ही है। सुख शान्ति भी उसी में है। पञ्च परावर्तन के बारे में सोचने से आत्म तत्त्व की रुचि, ज्ञान और संवेग भाव होता है। सात घन राजू का योग ३४३ राजू प्रमाण लोक है, इसमें चारों गति के जीव रहते हैं। इस पञ्च परावर्तन से डरना चाहिए। मैं रोगी नहीं हो जाऊँ और कुछ न हो जाए आदि दुख से नहीं डरना चाहिए, दुख के कारणों से डरना चाहिए। असंख्यातलब्धि स्थान लाँघने पड़ते हैं तब कहीं वीतरागता, यथाख्यात चारित्र भाव की प्राप्ति होती है। इससे असंख्यात लब्धिस्थान केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए लाँघना आवश्यक है।

५. भाव संसार—चतुःस्थान पतित में—अनन्तगुणहानि और अनन्तभागवृद्धि ये दो नहीं होते हैं। प्रतिक्रमण में कहा है—**''अभावियं भावेमि भावियं ण भावेमि''** इस जीव ने रत्नत्रय की भावना आज तक नहीं भायी, उसी की भावना भाना हैं। **''यदीय प्रत्यनीकानि भवंति भव पद्धतिः''** ऐसा समन्तभद्रस्वामी ने कहा है। जबलपुर जाने वालों के लिए और दमोह जाने वालों के लिए रोड़ तो एक ही होता है उसी प्रकार मार्ग दो नहीं हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मुक्ति मार्ग तथा विपरीत अपनाने से संसार मार्ग हो जाता है। आत्मा भी एक ही है, मार्ग भी एक ही है। किन्तु विवक्षा कथन से दो हो जाते हैं। जिनबिम्ब के दर्शन से क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हो सकता है तथा भाव निक्षेप युक्त साक्षात् भगवान् के दर्शन से क्षायिक सम्यग्दर्शन हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि के मन में यही भाव आते हैं कि यह पाप कैसे छूटे, दुख कैसे दूर हों, यह सोचता है। **लघुतत्त्वस्फोट** में **अमृतचन्द्र आचार्य** ने कहा है—हे भगवन्! मेरे द्वारा अज्ञान दशा में अर्जित पापों के द्वारा यह संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति हुई है, उसके फलों को मैं चखना नहीं चाहता हूँ। यह चखना न पड़े ऐसा कोई उपाय बताओ। सोचो! जिनको आज तक त्रस पर्याय नहीं मिली उनका क्या होता होगा? आप लोगों को तो कम से कम त्रसत्व की हवा लग गई है। त्रसत्व की दुर्लभता के बारे में सोचो। अपना रोना छोड़कर जितना मिला है उसी में संतुष्ट रहो, इधर-उधर मत देखो, अपने उदर को देखो अच्छे ढंग से खाओगे तो रस भी बनेगा और आगे के लिए प्रशस्तता हो जायेगी।

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भाव कलंक सुपउरा, णिगोद वासं ण मुंचंति ॥१९७॥ (जीवकाण्ड)

नित्य निगोद वह है, जिन्हें आज तक न त्रस पर्याय मिली है न मिलेगी। दूसरा मत है व्यवहार राशि में आकर पुन: निगोद में चला जाता है। अर्द्धपुद्गल परावर्तनकाल इतर निगोद की उत्कृष्ट सीमा है एवं अन्तर्मुहूर्त में भी वहाँ से निकल कर आ सकता है। इन निगोदिया जीवों के बारे में भी विचार करो। ज्यादा धनादि होने पर जीव गाफिल हो जाता है। ऐसे भी कई जैन हैं जिनको भगवान् की भक्ति, भगवान् का नाम लेना भी नहीं रुचता है उन्हें तो मदिरापान आदि व्यसन रुचते हैं। दिन-रात विषय भोग, नृत्य-गान, राग-रंग में निकल जाता है। आज दुखित लोग ही धर्म को धारण करते हैं, सुखी धनी नहीं के बराबर। सातिशय मिथ्यादृष्टि को अनुपम, अद्वितीय कहा है। भरतचक्रवर्ती के ९२३ पुत्र थे, वे सभी गूँगे, बहरे थे अर्थात् रागी-द्वेषी से नहीं बोलते थे। वे सभी अनादि मिथ्यादृष्टि थे किन्तु भव्य थे। वे अपने माता-पिता से भी नहीं बोले लेकिन जैसे ही वृषभनाथ भगवान् के समवसरण में पहुँचे तो उन्हें जातिस्मरण हो गया कि हम नित्य निगोद की यात्रा करके आये हैं, तत्काल वैराग्य हो गया और उसी समय वृषभनाथ भगवान् से बोले हमें जिन दीक्षा दे दो। दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त में उत्कृष्ट तपादि करके केवलज्ञान हो गया और मोक्ष चले गये। अनादि मिथ्यादृष्टि प्रथम बार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तो पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त करता है ऐसा कथन भी आता है। लेकिन यहाँ ऐसा कुछ नहीं कहा। बिना २, ३, ४, ५ गुणस्थान के मुक्ति मिल सकती है, किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में मुक्ति नहीं मिलेगी। प्रथम से सीधे सातवें गुणस्थान को प्राप्त कर मुक्त हो सकता है। छठवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान, ग्यारहवाँ गुणस्थान को छोड़कर, अनिवार्य है।

भाव संसार का वर्णन करते हुए निक्षेपों का कथन आया है। निक्षेप अर्थात् रखना। प्रमाण और नयों के द्वारा वस्तु को जानने के पहले चार निक्षेपों के द्वारा रखा जाता है। भाव निक्षेप के अभाव में स्थापना निक्षेप कार्यकारी होता है। भगवान् साक्षात् नहीं हैं तो उनके गुण स्मरण में जिनबिम्ब माध्यम है। वह प्रतिमा जड़ नहीं दिखती। शास्त्र पढ़ते हैं तो कागज नहीं दिखता, इससे स्पष्ट है कि स्थापना निक्षेप, भाव निक्षेप की निकटता का अनुभव करा देता है। भावनिक्षेप में प्रभु सान्निध्य में क्षायिक सम्यग्दर्शन हो सकता है, किन्तु बिम्ब दर्शन से उपशम, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन तो हो सकता है, क्षायिक नहीं। विषय-कषायों के पोषक, रागी बिम्ब के देखने से सम्यग्दर्शन नष्ट हो सकता है। निक्षेप का अर्थ-जिस वस्तु की हम जानकारी करना चाहते हैं उसको नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों में बाँटा जाता है। जैसे-चित्रकारी करना है, तो रंग, पेंसिलादि साधन रख लेते हैं और अच्छे से चित्र बनाने के लिए कागज के चारों कोनों में पिन लगा देते हैं। उसी प्रकार वस्तु को पकड़ने के लिए या वस्तु की जानकारी के लिए नामादिक निक्षेप रूपी पिन लगायी जाती है। अत: सुव्यवस्थित व्यवहार के लिए नामादि निक्षेप की आवश्यकता होती है। भव्य जीव पञ्च परावर्तन के बारे में बार-

बार चिन्तन करता है तो मिथ्यात्व आदि से हटकर स्व-शुद्धात्म की रुचि कर लेता है। बार-बार आत्मा का वह चिन्तन करता है, कब से आ रहे हैं ? कहाँ से आ रहे हैं आदि-आदि।

एकत्व भावना—शरीर के प्रति ममत्व का अभाव तभी हो सकता है, जब ज्ञान शरीरी केवलज्ञानमय अपने को स्वीकार कर लो। **स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने से एकत्व भावना चरितार्थ होती है।** अध्यात्म ग्रन्थों में कहा है—जो अपनी आत्मा का ही ज्ञान करे और बाह्य में भी मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रखे वही सही ज्ञान है। हितकारी मात्र अपना एक आत्म तत्त्व ही है। संयम दो प्रकार का है—(१) अपहृत संयम (२) उपेक्षा संयम। अपहृत संयम—शुभोपयोग के साथ, भेद रत्नत्रय वाला और उपेक्षा संयम—अभेद रत्नत्रय, निर्विकल्प समाधि, शुद्धोपयोग की भूमिका की अपेक्षा है।

जिसके द्वारा आकुलता पैदा होती है, उसमें सुख कैसे? पुत्र, धन, कुटुम्ब आदि न ही साथ आते हैं, न साथ जाते हैं। जीव अकेला ही आता-जाता है। यहाँ तक कि शरीर भी यहीं रह जाता है। जिसके बारे में तुम दिन-रात सोच रहे हो वह आपके बारे में क्या सोच रहा है? मरने के बाद कोई किसी को याद नहीं रखता है। शरीर निरोग चाहिए और निरोग शरीर मिला तो विषय भोगों में गँवा रहे हैं। जो भी संसार में मिल रहा है वह सब कर्मकृत है। "**कर्म परवशे सान्ते दुखैरन्तरितोदये**" सम्यग्दर्शन को निर्दोष अखण्डित बनाना चाहते हो तो निःकांक्षित अंग मजबूत बनाओ। एक हाथ हिलाने से चलना नहीं होता पैर के साथ दोनों हाथ चलते रहते हैं। एक घड़ा या बाल्टी एक हाथ में हैं तो बेलेन्स नहीं बनेगा। उसी प्रकार आठों अंगों का बेलेन्स होना चाहिए। अपना जितना है, उसके बारे में सोचो। पर के बारे में सोचने से क्या मिलेगा? संसारी प्राणी इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग के बारे में कुछ न कुछ सोचता रहता है तो "**स्मृतिसमन्वाहार**" दोष तो हो जायेगा। अस्सी साल के दादा हो गये तो भी नाती पोते के बारे में ही सोचते रहते हैं। तप के द्वारा सभी स्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु आत्मध्यान के द्वारा जो स्वर्ग को प्राप्त करता है वही सार्थक सुख है। बाहरी तप के द्वारा भीतरी तप कर लो तो कर्मों की लड़ियाँ टूट जायेंगी। भले इस समय मोक्ष नहीं है, फिर भी ध्यान के द्वारा स्वर्ग जाने के उपरान्त शाश्वत सुख को भी प्राप्त कर सकते हैं।

अन्यत्व भावना—यह जो कुछ भी ठाठ-बाट दिख रहा है परिवार, धन, धान्यादि ये सब मेरे नहीं हैं, इसलिए घर में बैठकर कभी बारह भावना नहीं भाई जाती है। एक बार एक जगह शादी हो रही थी फेरे लग रहे और "**राजा राणा छत्रपति**" का म्यूजिक चल रहा था। महाराज के आहार के उपरान्त भजन गाने लगे "खाया अनादि से है खाओगे और कब तक।" कहाँ क्या बोलना चाहिए? इसका भी विवेक आवश्यक है। हमारा ज्ञान ही वैभव है, वही स्वभाव है, नित्य है, शेष सब मुझसे अन्य है। ऐसा चिन्तन करना चाहिए। आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज कहते थे—गृहस्थ की बारह भावनाएँ वास्तव में भावना नहीं मानी जाती हैं गृहस्थ को मेरी भावना "**सुखी रहें सब जीव जगत**

4. एकत्व अनुप्रेक्षा

5. अन्यत्व अनुप्रेक्षा

6. अशुचि अनुप्रेक्षा
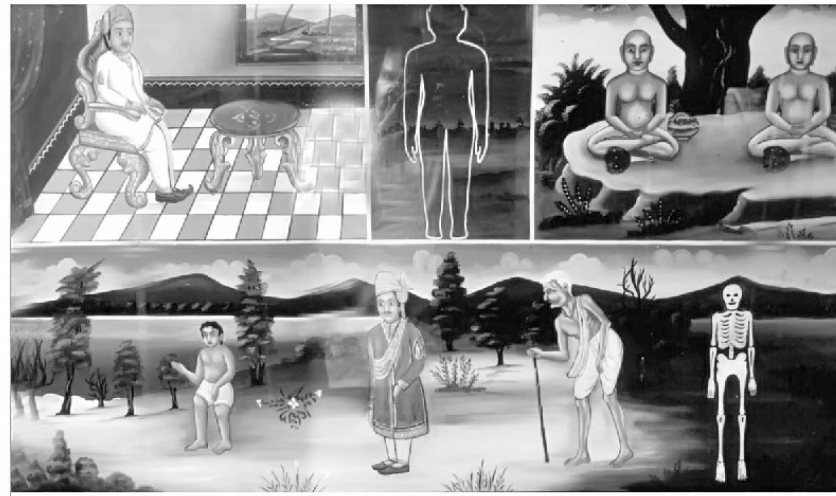
के'' भाना चाहिए, क्योंकि बारह भावनाएँ विषय कषायों के साथ नहीं भा सकते, बारह भावना के लिए तो सामायिक आवश्यक है। निर्दय होकर ही मोह को भस्म किया जाता है, दया करने पर मोह छूट नहीं सकता। एकत्व भावना में विधि परक तथा अन्यत्व भावना में निषेध परक भावना भाई जाती है।

अशुचि भावना—शरीर तो अशुचि है किन्तु जिन भावों के द्वारा इसका निर्माण हुआ उन राग-द्वेष-मोह रूप भावों को धिक्कारना चाहिए। राग-द्वेष आदि भावों के द्वारा आयु, गति, नामकर्म का बन्ध हुआ, जिसके कारण शरीर का निर्माण हुआ है। निश्चय से शुचि परमार्थ तत्त्व ही है अन्य नहीं। **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में कहा है—**''मल बीजं मल योनिं''** यदि क्रोध कामादि भीतर हों और ऊपर से कितना भी स्नान करें तो भी पवित्र नहीं होगा। **ब्रह्म** अर्थात् आत्मा में जो चर्या होती है उसी का नाम ब्रह्मचर्य है। **''ब्रह्मचारी सदाशुचिः''** जन्म से तो सभी शूद्र उत्पन्न होते हैं इसलिए जन्म के उपरान्त दश दिन का शोर होता है। पैंतालीस दिन के उपरान्त गाजे-बाजे के साथ मंदिर ले जाते हैं यह विधि है, फिर महामन्त्र के श्रवण से ही श्रोत्रिय होता है। जो ब्रह्मचर्य से रहता है, वही सही ब्राह्मण माना जाता है।

आत्मा नदी संयमतोय पूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मि।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डुपुत्र! न वारिणा शुद्धयति चांतरात्मा॥

आत्मा रूपी नदी में संयम का जल, सत्य को धारण करने वाला शील रूपी तट और दया की तरंगें जिसमें उठ रही हैं, उसमें स्नान करो तब अन्तरात्मा पवित्र होगा। आपके कमण्डलु में जो यह जल आया है, उसमें जलकायिक आदि जीवों का भी घात होता है तब वह प्रासुक होता है इसलिए बूँद-बूँद पानी का भी विवेक से काम लेना चाहिए। **भोजन के साथ ठण्डा पानी पीते हैं तो भीतर जाकर दोनों के योग से सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति हो जाती है,** इसलिए व्रतियों के लिए प्रासुक पानी पीने को कहा है। भीतरी जीवोत्पत्ति से बचाव हो जाता है।

आस्रव भावना—कर्मों के आस्रव होने के कारण आत्मा ज्ञान स्वभावी होने पर भी अपने ज्ञान को जान नहीं पा रहा है, इन्द्रियों की सहायता से जान पाता है। पाँचों पापों को छोड़े बिना अविरति दशा में शुद्धात्मानुभूति नहीं होती। **शुद्धात्मानुभूति प्रतिकूलानि हिंसादि प्रवृत्ति रूपाणि पञ्चाव्रतानि।** सराग दशा में सम्यक्त्व क्रिया, पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति, पूजा, स्तुतिरूप होती है और वीतराग दशा में वीतराग सम्यक्त्व रूप में परिवर्तित हो जाती है। राग-द्वेष-मोह कषाय से डरना चाहिए क्योंकि इससे बहुत दिनों का किया हुआ तप भी एक क्षण में जल जाता है जैसे—द्वीपायन मुनि। क्रिया करते हुए जो आलस्य आता है उसके प्रति भी जागृत रहना चाहिए। एक घंटे का संकल्प लेकर तो बैठे थे लेकिन मन कहीं चला गया तो उतना समय चला गया पता नहीं चला यह ध्यान नहीं है। इससे अच्छा तो आधे घंटे का संकल्प लेकर ध्यान करना अच्छा है। आलस्य करने से विशेष रूप

बालक को पैंतालिस दिन उपरान्त मंदिर में महामंत्र श्रवण कराते हुए।

से आस्रव होता है।

संवर भावना—नाव की शोभा प्रतिकूल धारा में भी तैर जाए तब है। प्रतिकूलता में ही संवर होता है।

उस नाविक की क्या परीक्षा, जहाँ धारा प्रतिकूल न हों।
उस पथिक की क्या परीक्षा, जहाँ पथ में शूल न हों॥

निर्जरा भावना—कर्मरूपी मल संगृहीत हो गया है, उसे निर्जरा के द्वारा निकालते जाओ, पर उसमें डालो कुछ नहीं। मिथ्यात्व रागादि कर्म मल सञ्चय हो जाने से अजीर्ण हो गया है। इस भीतरी सड़न-गलन को ही निकालना है। जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख में समता भाव रखना ही भाव निर्जरा है। समता एक अभेद मन्त्र है "**संवर सहित करो तप प्राणी मिले मुक्ति रानी**" संवर भी अपने आप में तप है। आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी भी समता के धारक साधु को नमोऽस्तु कहते हैं। बाह्य की बात पूछते हैं तो आकुलता होती है। भीतरी बात पूछने से निराकुलता होती है, **अस्वस्थ होते हुए भी हम स्वस्थ हैं, ये धारणा बना लेना चाहिए, तभी समता आ सकती है।** समता के द्वारा कर्म अपने आप पक जाते हैं, ध्यानाग्नि को उद्दीप्त करने में समता काम करती है। यह समता अमोघ शस्त्र है। बार-बार बाहरी स्वास्थ्य के बारे में पूछने पर भी अस्वस्थता बढ़ती है किन्तु जो जिनेन्द्र भगवान् के वचन रूपी औषधि का सेवन करता है, उसकी समता से असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती रहती है। समता के धारक को तो आनन्द ही आनन्द बरसता रहता है। "**आर्त्तानरा धर्म परा भवन्ति**" दुखी मनुष्य ही धर्म में तत्पर होता है। विवेकी मनुष्य दुख के समय घबराता नहीं है। इसलिए कुछ न कुछ दुख पीड़ा बनी रहनी चाहिए ताकि धर्म में रुचि बनी रहे। "**दुख में सुमरन सब करें सुख में करें न कोय**" दुख जाने पर भी उस दुख की घड़ी को नहीं भूलना चाहिए। धर्म में, धर्म के फल में हर्ष उल्लास हमेशा होना चाहिए।

लोक भावना—अनन्त अलोकाकाश के बारे में चिन्तन करें तो राग-द्वेष कम हो सकते हैं। "**चौदह राजू उतंग नभ, लोक पुरुष संठान**" "**किनहूँ न कर्‌यो, न धरैं को, षट् द्रव्यमयी न हरै को।**" कमरे में किसी को बाँध करके रख दिया जाता है तो वह दुखी हो जाता है। जिसका उत्पाद होता है, उसका व्यय भी होता है ऐसा सम्यग्ज्ञान हो जाने पर संसार परिभ्रमण छूट सकता है। **समता के अभाव में ही संसारी प्राणी तीन लोक में भ्रमण करता हुआ दुख का अनुभव कर रहा है।** (१) एक गिलास उल्टा करके नीचे रखो उसके उपरान्त दो गिलास के मुख जोड़कर उसके ऊपर रख दो यह लोक का आकार हो गया। (२) एक गिलास उल्टा करके नीचे रखो उसके ऊपर पूरा मृदंग रखने पर भी तीन लोक का आकार बनता है। (३) दोनों पैरों को खोलकर कटि स्थान पर दोनों हाथ रखकर आसानी से खड़े मनुष्य के आकार के समान लोक का आकार है। जहाँ राजू का प्रमाण आता है, वहाँ योजन कोई मायना नहीं रखता है। लोक की ग्रीवा के स्थान पर नव विमान हैं, इसलिए इनका नाम

7. आस्रव अनुप्रेक्षा

८. संवर अनुप्रेक्षा
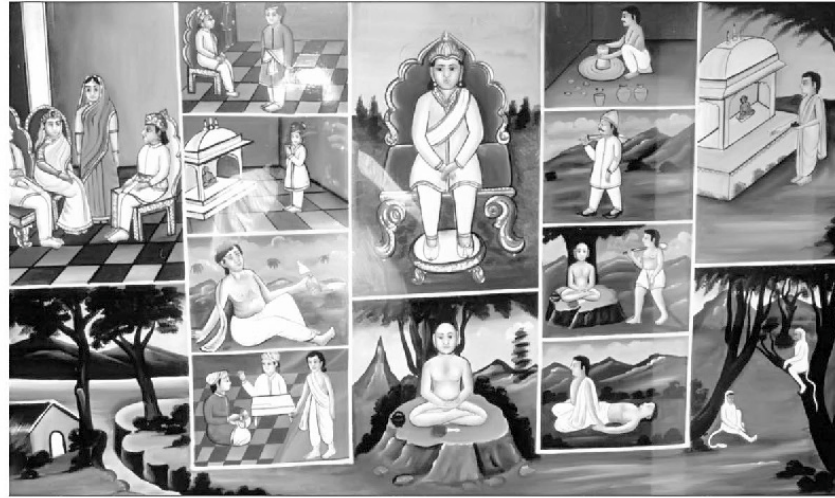
९. निर्जरा अनुप्रेक्षा

नव ग्रैवेयक है। लोक नाड़ी चौदह राजू प्रमाण है और त्रस नाड़ी तेरह राजू से कुछ कम है, क्योंकि नीचे एक राजू में कोई त्रस जीव नहीं है। लोक नाड़ी थर्मामीटर के समान है। थर्मामीटर में पारा एक जगह पर एकत्रित रहता है जिह्वा पर लगाने पर पारा चढ़ने लगता है। जहाँ तक पारा जाता है वह त्रस नाड़ी है बाकी लोक नाड़ी है। यह वृत्ताकार मूसल के समान राजू विस्तार वाली है, ऐसा सर्वार्थसिद्धि, तिलोयपण्णत्ति आदि में कहा है। मध्यलोक में जम्बूद्वीप गोल है और अन्तिम द्वीप–समुद्र तक वलयाकृत दुगुने–दुगुने हैं। शिखर सहित मन्दिर की ऊँचाई के समान मेरुपर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन और कलश के समान चालीस योजन की चूलिका है। नरक की प्रथम पृथ्वी के ऊपर मनुष्य हैं। इसलिए नीचे की हवा यहाँ आती रहती है। सात पृथ्वी के नीचे का स्थान निगोद आदि पाँच प्रकार के स्थावरों से भरा हुआ है, ऊपर की रत्नप्रभा आदि पृथ्वी रूप नहीं मात्र पोल है। उसमें निगोद आदि पञ्च स्थावरों का भी स्थान है। एक नरक में असंख्यात नारकी रहते हैं पर एक साथ निकलते नहीं और जाते भी नहीं हैं। एक से तीन पृथ्वी तक तीर्थंकर प्रकृति को बाँधने वाले असंख्यात नारकी हैं। भवनत्रिक को छोड़कर ऊपर के स्वर्गों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि और भावी तीर्थंकर भी हैं। नव ग्रैवेयक आदि से आकर नारायण–प्रतिनारायण नहीं होते हैं क्योंकि वे निदान बन्ध सहित स्वर्ग गये हैं, ऐसे जीव सोलहवें या बारहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं। श्री धवला आदि ग्रन्थ में आया है कि राघवमच्छ, तंदुलमच्छ सप्तम नरक जा सकते हैं और संयमासंयम भी धारण कर सकते हैं, इनका वज्रवृषभनाराच संहनन होता है। जीवों के भावों में परिवर्तन आने में देर नहीं लगती है। नौकर –चाकरों में भी आप लोगों के बीच रहकर भाव में परिवर्तन आता है। असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा भावों के ऊपर निर्धारित है और नवीन कर्म बन्ध भी भावों पर निर्भर है। जैसे–नरकायु के बन्ध वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि को पहले नरक में जाना ही पड़ता है। घर में किसी का वियोग या मरण होने पर घर में रहने वाले गाय आदि को भी दुख होता है।

हिंसादि होने मात्र से कर्म बन्ध हो ऐसा नहीं किन्तु भाव होने से कर्म बँधते हैं, यह परिणामों का खेल है। एक ही भव में तीर्थंकर भी बन सकते हैं किन्तु अन्य महापुरुष चक्रवर्ती आदि उसी भव में नहीं बन सकते हैं। अन्यत्र यह मिलता है कि सातवें नरक से आया हुआ तिर्यञ्च ही होगा वह भी पर्याप्तक गर्भज ही होगा, पर सम्यग्दृष्टि नहीं होगा, किन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन का निषेध नहीं किया है। आज कोई भावलिंगी मुनि है वह पाँचवें नरक से भी आ सकता है लेकिन सम्यग्दर्शन को लेकर यहाँ कोई नहीं आया है। यदि सम्यग्दर्शन लेकर आये तो चारों पुरुषार्थों का योग, तीर्थंकर आदि का योग मिलता लेकिन आज यह नहीं है, फिर भी हमारा सौभाग्य है कि जिनवाणी की शरण, गुरु की शरण मिल गई है। असंज्ञी जीव प्रथम नरक जा सकता है, लेकिन वहाँ से आकर असंज्ञी नहीं होगा वह कर्मभूमि मनुष्य तिर्यञ्च ही होगा। छट्ठी पृथ्वी से आया हुआ श्रावक शिरोमणि बन सकता है। पहले नरक में आठ बार जा सकता है, दूसरे में सात बार, तीसरे में छह बार, चौथे में पाँच बार, पाँचवें

में चार बार, छठवें में तीन बार और सातवें में दो बार जा सकता है। निद्रा कर्म का उदय भी कथञ्चित् साता का प्रतीक है। नरकों में निद्रा कर्म का उदय भी नहीं है तो सपने कहाँ से आयेंगे? निद्रा अपने आप में औषध है। तीव्र कर्मोदय में निद्रा नहीं आती है। सर्प काट जाता है तो निद्रा आ जाती है, किन्तु बिच्छू काट जाए तो न स्वयं सोता है और न सोने देता है। जिसे सर्प काटता है उसे सोने नहीं देते हैं किन्तु बिच्छू ने जिसे काटा है, उसे सुलाने का प्रयास करते हैं। ये ऐसे निकाचित कर्म हैं जिनका औषधि द्वारा निराकरण नहीं होता है। ध्यान रखना, नोकर्म तभी साथ देता है, जब कर्म साथ होता है। जैसे–पित्त भड़क जाने पर व्यक्ति काबू में नहीं रहता है उसी प्रकार आज प्रत्येक जीव कर्म से प्रेरित होकर कार्य कर रहा है। भावों का खेल बहुत विचित्रता को लेकर चलता है। राजा श्रेणिक ने मुनि महाराज के गले में सर्प डालकर सातवें नरक का बन्ध कर लिया और फिर पश्चाताप होने पर क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर प्रथम पृथ्वी की मध्यम आयु बाँध ली। नारकी सदा उद्विग्न रहते हैं। नरकों में ''**मेरु समान लोह गल जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय**'', आप लोगों को यहाँ पंखा चाहिए, कूलर चाहिए किन्तु नरक में कूलर–पंखा नहीं मिलेंगे। छाँव के लिए जायेगा तो ''**सेमर तरु दल जुत असिपत्र**'' तलवार के समान पत्ते गिरने से हाथ पैर कट जाते हैं। प्यास लगने पर वैतरणी नदी के पास जाता है तो हाथ डालते ही अंगुलियाँ गल जाती हैं। यह डराने के लिए नहीं कहा है वहाँ वैसा है तभी तो कहा जाता है, यह कपोल कल्पित नहीं है। वहाँ नरकों में सुख किञ्चित् भी नहीं है। इस प्रकार नरकों के दुखों को जानकर भेदाभेद रत्नत्रय की भावना करना चाहिए। रामचन्द्रजी तीर्थंकर नहीं बन पाये पर लक्ष्मण आगे जाकर तीर्थंकर बनेंगे ऐसा क्यों? यह सब भावों को लेकर काम होता है। इसलिए यह जो भाव हो रहे हैं वह मेरा स्वभाव नहीं है यह औदयिक भाव हैं ऐसा सोचें, इससे कषायों का उपशमन होता है। तैंतीस सागर आयु तक नरक–स्वर्ग में निद्रा नहीं, वहाँ रात–दिन का भेद नहीं होता है। तीन लोक के बारे में बार–बार चिन्तन करना चाहिए। अधोलोक में वस्तु तत्त्व के ज्ञान के बिना कितने दुखों को सहा, यह याद करने से संवेग, वैराग्य प्राप्त होता है। अवसर्पिणी में अच्छाई का घटना और बुराइयों का बढ़ना होता है। मध्यलोक में उत्कृष्ट आयु, उत्सेध आदि शुभ प्रकृति के साथ होता है और अधोलोक में जितना–जितना दुख बढ़ेगा, उतनी–उतनी आयु व उत्सेध बढ़ेगा, यह कर्मभूमि की व्यवस्था है। जघन्य, मध्यम, उत्तम भोगभूमि में क्रमशः एक, दो, तीन कोस की काया होती है, यहाँ परिवर्तन नहीं होता है। अधोलोक का वर्णन पढ़कर लगता है कि वह अनादिनिधन दुखों का स्थान है। भिन्न–भिन्न दुखों में परिवर्तन होता रहता है, पर एक सेकेण्ड भी दुख का अभाव नहीं होता। जो सम्यक् पुरुषार्थ करता है, वह इन दुखों से बचकर निकल जाता है। प्रथम नरक में जितने भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं, उनकी जो दश हजार वर्ष जघन्य आयु है, वह नहीं होती है। सम्भवतः वह असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा है।

बोधिदुर्लभ भावना–बोधि (रत्नत्रय दुर्लभता) कठिनाई से प्राप्त होती है। इन्द्रियों के विषय

चारों गति में हैं। देवगति में इनका बाहुल्य है, मनुष्य गति में मध्यम है, तिर्यञ्चगति में क्रम से कम होते जाते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक में तथा नरकगति में प्रतिकूल विषय मिलते हैं, दुखकारी हैं इसलिए अच्छे नहीं लगते हैं। प्रतिकूल होने से विषयों का अभाव नहीं कह सकते। वे जैसा चाहते हैं वैसा प्राप्त नहीं होता है। अनुकूल विषय न मिलने से दुर्लभ हो, ऐसा नहीं। दुर्लभ तो मात्र रत्नत्रय है। **बोधि की प्राप्ति होने पर कैसा भी वातावरण मिले अखरता नहीं है।** ज्ञान में जब एकाग्रता बन जाती है तो फिर किसी की भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है। दुर्लभ संसार में वह है, जिसके मिलने से संसार का विच्छेद हो जाए। बोधि की प्राप्ति के बाद किसी चीज की चाह नहीं होती, यदि होती है तो समझो बोधि में अभी कुछ कमी है। बोध के भी उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य भेद हैं। छठवें- सातवें गुणस्थान से आगे वर्तमान में नहीं जा सकते, यही तो बोधि दुर्लभता है। छठवें गुणस्थान में साधक को जाना पड़ता है। आज तक किसी ऐसे लकड़हारे को नहीं देखा जो ऊपर कुल्हाड़ी न ले जाए और लकड़ी काट ले और ऐसा झूला भी नहीं हैं, जो नीचे न आये और ऊपर एकदम पहुँच जाए। कई बार ऊपर-नीचे होता है तब एक बार बहुत ऊपर पहुँच जाता है उसी प्रकार छठवें-सातवें गुणस्थान में भी ऊपर-नीचे झूले की भाँति आना-जाना पड़ता है। जिन्हें पाँचवें गुणस्थान की क्षमता मिली है, इसकी दुर्लभता के बारे में चिन्तन करना चाहिए।

प्रत्येक समय आयु के निषेक खिर रहे हैं, प्रत्येक समय आवीचिमरण हो रहा है। अन्त में धर्म करेंगे ऐसा नहीं, प्रत्येक समय समाधिमरण की भावना भानी चाहिए। सबसे दुर्लभ यही है। एकेन्द्रिय से संज्ञी पञ्चेन्द्रिय की उत्तरोत्तर दुर्लभता है। गति में मनुष्य गति दुर्लभ है देवगति नहीं। देवगति पाना बहुत सुलभ है। यदि मनुष्य थोड़ा-सा ध्यान में बैठ जाए तो देव आकर परिक्रमा लगाने लगते हैं, कर्मभूमि मिलने के उपरान्त भी आर्यखण्ड, उत्तम देश मिलना भी दुर्लभ है। सोने का उत्पादन करना और सोने को बेचना, कपड़े की मील खोलना और कपड़े की दुकान खोलना इसमें बहुत अन्तर है। दुकान खोलना तो वैश्य कर्म है लेकिन फैक्ट्री आदि शिल्प में आयेगा। शिल्प कार्य जघन्य में आ जायेगा। उत्तम खेती, मध्यम व्यापार, जघन्य नौकरी। वित्त मिलना इतना कठिन नहीं है जितना उसका उपयोग किस क्षेत्र में करें यह बुद्धि मिलना दुर्लभ है। जैसे—धन, सत्ता और बुद्धि तीनों मिलना दुर्लभ है वैसे ही धर्मश्रवण, धारण, ग्रहण, सम्यक्त्व, संयम ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। संयम लेने के उपरान्त भी कषायों का उपशमन कठिन है। इसके उपरान्त अभेद रत्नत्रय रूप परम समाधि अत्यन्त दुर्लभ हैं। वे महान् साधक माने जाते हैं, कुन्दकुन्ददेव जैसे जो बार-बार शुद्धात्म तत्त्व को स्पर्श कर उसी की बात करते हैं। छात्र पहले छत्तीस नम्बर से पास होना चाहते हैं, फिर ४०, ६०, ९०, ९९ नम्बर भी मिलते हैं तो एक नम्बर क्यों कम आया यह विकल्प रहता है। संतुष्टि पाना दुर्लभ है। गणधर देव भी अभेद रत्नत्रयधारी को नमस्कार करते हैं क्योंकि अभेद रत्नत्रयधारी दुर्लभ है। रोटी कोई नहीं खाता है, ग्रास खाते हैं क्योंकि आप कवलाहारी हैं। कवल का अर्थ रोटी नहीं ग्रास है। संसारी प्राणी की यह

10. लोक अनुप्रेक्षा

11. बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा
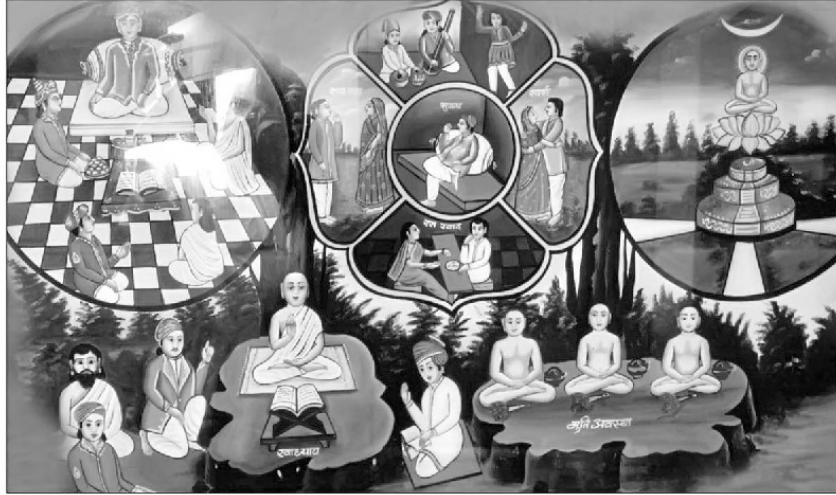
12. धर्म अनुप्रेक्षा

दशा है कि एक ग्रास के बाद दूसरा ग्रास मिल जाए यह आशा रहती है। तृष्णा का कोई अन्त नहीं है। लखपति, करोड़पति होना चाहता है और करोड़पति, खरबपति होना चाहता है फिर खरबपति बनने के बाद क्या खरभाग, पंकभाग अव्बहुल भाग में जायेगा? क्योंकि "**बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः**" बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह, नरकायु के बन्ध का कारण है। विषयों का भोग दुर्लभ नहीं है अपितु कुछ समय के लिए विषयों को रोकना दुर्लभ है। एक सप्ताह में सात वार होते हैं। ये वार कभी रुकते नहीं हैं। वार उसी को बोलते हैं जो बार-बार आता है। सोमवार के बाद मंगलवार यह क्रम रुकता नहीं है।"**सूरज चाँद छिपे निकले**" दुर्लभ रत्नत्रय की भावना से जो रहित रहता है उसका संसार में बार-बार पतन होता रहता है। इन सात वारों के बीच रहकर भी रत्नत्रय को पाना दुर्लभ है। यह दुर्लभता चतुर्थकाल, पञ्चमकाल से सम्बन्ध नहीं रखती। चतुर्थकाल में भी जन्म लेकर दुनिया की पञ्चायत में पड़ जाए तो पञ्चमकाल जैसा ही है। पञ्चमकाल में कितनी भी पञ्चायत करे पर सप्तम पृथ्वी का द्वार नहीं खुलेगा लेकिन चतुर्थ काल में पञ्चायत करे तो सातवें नरक का द्वार खुल जायेगा। चार आराधनाओं का जिसने पालन कर लिया उसके लिए चतुर्थ काल है। यदि बोधि को प्राप्त होकर भी प्रमादी हो जाए तो वह बेचारा संसाररूपी भयंकर वन में चिरकाल तक भ्रमण करता है। **अष्टपाहुड** में स्पष्ट लिखा है—रत्नत्रय की दुर्लभता समझ में आ जाए तो उसे एक-एक क्षण अमूल्य लगता है। इसलिए सावधान होकर रत्नत्रय का पालन करो। प्रमाद यदि थोड़ा-सा भी हुआ तो वह नरक निगोदादि में कहीं पर भी गिर सकता है। मोक्ष प्राप्त न हो तब तक रत्नत्रय की भावना करना चाहिए। देवगति में चले जाए तो भी इसके संस्कार रहते हैं। वहाँ पर भी नन्दीश्वरद्वीप आदि की वंदना एवं पञ्च कल्याणक आदि में रुचि रहती है। **सम्यग्दृष्टि देव लोग मनोरंजन करते हुए भी निरंजन को नहीं भूलते।** सौधर्म इन्द्र एक साथ कई पञ्च कल्याणकों में विक्रिया द्वारा पहुँच जाता है। सौधर्म इन्द्र समवसरण में कई अग्र देवों का भी देव माना जाता है। अग्रणीय प्रतिनिधि के रूप में खड़ा रहता है। सम्यग्दृष्टि देव की भावना हमेशा मनुष्य बनने की रहती है, वह मरण को प्राप्त होता है तो लेश्या परिवर्तित नहीं होती है, किन्तु मिथ्यादृष्टि देवों की लेश्या परिवर्तित हो ही जाती है। देवों में सागरोपम आयु अमृत चखने वाला मिथ्यादृष्टि देव संक्लेश परिणामों के कारण एकेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त हो जाता है इसलिए हमेशा देव, शास्त्र, गुरु का समागम करना चाहिए। **कषाय के आवेश में आकर देव, शास्त्र, गुरु की विराधना कर दी तो क्या गति होगी?** वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जायेगा। कर्मोदय में कर्म फल का विचार करते हुए सम्यग्दर्शन को दृढ़ करना चाहिए। रत्नत्रय बड़ी मुश्किल से मिला है, उसे सुरक्षित रखो। उपशम-क्षयोपशम सम्यग्दर्शन असंख्यातों बार होकर छूट सकता है। अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल में संयमासंयम भी असंख्यातों बार हो सकता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन वाले के चार भव उत्कृष्ट से शेष रहते हैं। हमें भी जल्दी मिले यह भावना तो होनी चाहिए, लेकिन आज तक वैसा पुरुषार्थ भी नहीं किया। रत्नत्रय की दुर्लभता को समझो रोगी

का रोग दूर होने के उपरान्त भी उसे एकदम दाल रोटी नहीं दी जाती है। पहले मूंग की दाल का पानी दिया जाता है। फिर धीरे-धीरे भोजन की मात्रा बढ़ाई जाती है। यह विषय कषायों का संस्कार भी एकदम छूटना मुश्किल है। सम्यग्दर्शन सुरक्षित रहे और जो चारित्र लिया है उसका निर्दोष पालन करते चले जाएँ यही बोधि दुर्लभता का उपाय है।

धर्म भावना—बड़े-बड़े पदों की पूज्यता और रत्नत्रय की पूज्यता इन दोनों में बहुत अन्तर है, किन्तु धर्म भावना दोनों पद को प्राप्त कराती है। धर्मात्मा को लौकिक एवं आत्मिक दोनों प्रतिष्ठा मिलती है। सम्यग्दर्शन के साथ जन्म लेता है तो ''**महाकुला महार्था, मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूता:**'' होता है। जैसे—मनुष्यों में म्लेच्छखण्ड को हीन माना जाता है उसी प्रकार देवों में भवनत्रिक को भी हीन माना जाता है। ये भवनत्रिक देव होते हुए भी मध्यलोक के माने जाते हैं। सम्यग्दृष्टि देशव्रती महिलाएँ इन्द्रादिक विशेष पद पर आरूढ़ नहीं होती हैं। हाँ, प्रतीन्द्र तो हो सकती हैं। मिथ्या चारित्र का पालन कर मरण करे तो असुरों के इन्द्र बनेंगे।

धर्म में मुख्य अहिंसा धर्म की प्रभावना होनी चाहिए। धर्म कहने से सर्वप्रथम अहिंसा लक्षण वाला धर्म लेना चाहिए। समन्तभद्रस्वामी ने चाण्डाल की अहिंसा का वर्णन किया है क्योंकि जहाँ अहिंसा नहीं वहाँ धर्म है ही नहीं, प्रायोगिक धर्म होना चाहिए। जो रोगी है, दुखी है, असमर्थ है उसकी सेवा में कोई लगा हुआ है और देवदर्शन नहीं कर पाया तो भी वह धर्मात्मा है। जीवन्धर ने एक मरणासन्न कुत्ते को णमोकार मन्त्र सुनाया यह करुणा का एक प्रयोग है। आज तो ऐसा करेंगे तो लोग हँसेंगे इस कारण करना नहीं चाहते हैं, लेकिन यह ठीक नहीं है। ''**दयादमत्याग- समाधिनिष्ठ:**'' जिसके घट में दया है, वही समाधि को प्राप्त कर सकता है। दया से ही इन्द्रियों का दमन कर सकते हैं। रत्नत्रय के आराधक शुद्धोपयोग से ओतप्रोत मुनिराज भी जब शुद्धोपयोग से बाहर आ जाते हैं तो वे प्राणियों के प्रति दया से द्रवीभूत हो जाते हैं। यह भी अपायविचय धर्म्यध्यान है। दया एक ऐसा धर्म है, जिससे जैनी और जैनेतर को भी आप प्रभावित कर सकते हैं। **अष्टपाहुड** में **कुन्दकुन्दस्वामी** ने कहा है—''**हिंसारहिये धम्मे**'' इस प्रकार धर्म की परिभाषा दी है। रुग्ण को, दुखी को विश्वास दिलाना आवश्यक है। भोजन समय पर नहीं मिलने पर उस व्यक्ति को क्रोध आए बिना नहीं रहेगा ऐसा 'अनगार धर्मामृत' में आया है। जो रुग्ण है, भूखा है, अनाथ है, ज्ञान से विमुख है उसकी जाकर सेवा करना, अभयदान देना यह जीव दया के बिना सम्भव नहीं है। विषय भोगी ही कषायी और हिंसक होता है। ऐसे-ऐसे मुनिराज हुए हैं जिनका संकल्प रहता था कि सौ-पचास जैनी बनायेंगे तभी हम आहार करेंगे और आज जैन को अजैन बनाया जा रहा है। आज लोकतन्त्र में लोभ संग्रह हो रहा है। लोक संग्रह में चेतन की ओर दृष्टि तथा लोभ संग्रह में अचेतन की मुख्यता है। **बड़े बाबा के पास शस्त्र नहीं इसलिए अहिंसक हैं और वस्त्र नहीं इसलिए दिगम्बर हैं।** आपने बड़े बाबा को देखा है। उनका कोई वैरी नहीं अर्थात् वीतरागता दिखी लेकिन केवलज्ञान नहीं दिखता। तिर्यञ्च भी

भगवान् की शरण में आकर अहिंसक हो जाता है। मांस का त्याग तो हो ही गया किन्तु हरे पत्ते भी नहीं खाता है। **बेमौसम की वस्तु खायेंगे तो बेमौसम में मृत्यु भी तो आ सकती है।** "**अहिंसाभूतानांजगति...।**" कारुण्य, दया, वात्सल्य, अनुकम्पा नहीं है तो जीव तत्त्व के बारे में सोचना कोई सार्थक नहीं। कषाय करने वाला व्यक्ति धर्म का मर्म नहीं समझ सकता है। पञ्चेन्द्रिय के विषयों का भोग कषाय के बिना नहीं हो सकता है। यह कर्मठ कमठ नहीं होता तो पार्श्वनाथ भगवान् को इतनी जल्दी केवलज्ञान नहीं होता। '**भवितव्यं**' अर्थात् कर्म उदय जैसा आया है, वैसा फल मिलेगा। मुख में कड़वी चीज रखने से मुख कड़वा नहीं होता और मीठा रखने से मीठा नहीं लगता यह कर्म उदय से होता है यदि प्रशम भाव, उपशम भाव रखेंगे तो प्रशस्त कर्म थोड़ा भी है तो वह फल देगा इसलिए वर्तमान में समता परिणाम रखें। जैसे–पञ्चकल्याणक के थोड़े दिन पहले आप लोग भूमि पूजन करते हैं। उसी प्रकार तीर्थंकर के भूमि पर आने से पहले ही रत्नों की वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। प्रद्युम्न जहाँ कहीं भी गया स्वागत हुआ पुण्य से वैरी भी मित्र हो गये और एक अकृतपुण्य की कथा देखो सोना भी उसके हाथ में आने पर कोयला हो गया। भोगोपभोग तथा वीर्यान्तराय कर्म का उदय आ गया। यह तो ऐसी बात है कि जब अंगूर नहीं पके थे तब खाने की इच्छा थी और अंगूर पक गये तो कण्ठ में रोग हो गया। यह उपभोग अन्तराय के कारण ऐसा होता है। धर्म से ही सब अनुकूलताएँ उपलब्ध होती हैं। इसलिए धर्म की शरण में ही रहना चाहिए।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को वीतरागता में भी देह ही दिखती है। रावण की दृष्टि में राम काँटे जैसा चुभता है और राम सोचते हैं—बेचारा अज्ञानी है, सीता सोचती है मेरा रूप इतना सुन्दर नहीं होता तो रावण की यह दशा नहीं होती। लक्ष्मण भले ही क्रोधित हो जाता है किन्तु राम क्रोधित नहीं होते। जब विभीषण आता है तो लक्ष्मण उबल जाता है किन्तु राम प्रेम से उससे वार्तालाप करते हैं। लक्ष्मण जो कि तीर्थंकर बनने की योग्यता लिए हुए हैं, फिर भी उनकी वृत्ति कुछ समझ में नहीं आती। जिनका मोह दूर हो गया है, उन्हें ही समझ में आ सकती है। उधर भीम और युधिष्ठिर में भी यही स्थिति थी। बारहभावना, सोलहकारण भावना, अनगारभावना, सद्भावना आदि भाते रहना चाहिए। इन अनुप्रेक्षाओं का फल लौकान्तिक देवत्व है, जो कि पाँचवें स्वर्ग में होते हुए भी शुक्ल लेश्या वाले एक भवावतारी प्रवीचार से रहित तथा राग के प्रसंग में ये नहीं फँसते हैं, यह पूर्व का संस्कार है कि वीतरागता का संवेदन होता रहता है फलस्वरूप वहाँ भी बारहभावना का चिन्तन करते हैं। संवर और निर्जरा के कारणभूत सामग्री की जानकारी रखना चाहिए, ये कहाँ पर कैसे प्राप्त होती है, इसके लिए विषय और कषायों से ऊपर उठने की आवश्यकता है। कुछ भी नहीं आता है तो कोने में बैठे-बैठे बारहभावना का चिन्तन करो। इसके लिए न तो कुछ दान देना पड़ता है और न ही परिश्रम करना पड़ता है।

परीषहजय—बाईस परीषह में से कुछ परीषह शारीरिक होते हैं, कुछ मानसिक होते हैं। जैसे–भिन्न-भिन्न ड्रेस पहनने से भिन्न-भिन्न अनुभूति होती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न परीषहों के

सहन करने से विशेष संवर–निर्जरा की अनुभूति होती है। परीषह के बिना हमारे पास स्थिरता है कि नहीं इसकी अनुभूति नहीं हो सकती।''**कचलोंच करत न डरत परीषह सो लगे निज ध्यान में।**'' इसी तरह अपने ज्ञान का उपयोग करते रहना चाहिए। परीषहों को सभी सहन करते हैं, फिर भी भिन्न–भिन्न तारतम्यता से संवर–निर्जरा होती है। परीषहजयी की विशुद्धि व समता–क्षमता के आधार पर संवर–निर्जरा रूप नम्बर प्राप्त होते हैं, करते हुए भी नम्बर कटते हैं। जैसे–आहार के उपरान्त प्रत्याख्यान करना चाहिए लेकिन यदि शक्ति रही तो प्रातःकाल उपवास ले लेंगे, इस प्रकार डाँवाडोल स्थिति रहती है तो पूरे नम्बर नहीं मिलेंगे। यदि यह विकल्प लगा है कि कल उपवास करना है, इसलिए आज अच्छे ढंग से भोजन कर लें, ऐसे भाव से कर्म निर्जरा कम हो जाती है। उत्तरगुणों का पालन करते समय मूलगुणों को सुरक्षित रखना चाहिए। इससे असंख्यात गुणी निर्जरा होगी और काय से थोड़ा भी शिथिलाचार हुआ तो नम्बर कम आयेंगे। देखने में भी आता है कुछ गाय, भैंस देखने में दुबली–पतली होती है पर दूध अच्छी मात्रा में देती है। उसी प्रकार बाहरी प्रभाव से अप्रभावित रहकर हर्ष–विषाद रहित रहते हैं तो अच्छे नम्बर मिलते हैं।

चारित्र–जो अध्यात्म प्रेमी हैं उनके लिए चारित्र की बहुत अच्छी बात कही जा रही है। जैसे–शुद्धोपयोग घर में नहीं होता है, वैसे ही निश्चय रत्नत्रय भी नहीं होता। शुद्धोपयोग की भूमिका सप्तम गुणस्थान के नीचे हो ही नहीं सकती। जब तक मुनि जीवन है तब तक व्यवहार रत्नत्रय जीवनपर्यन्त बना रहता है लेकिन निश्चय रत्नत्रय (अभेद रत्नत्रय) अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। शुद्धोपयोग की भूमिका रूप ग्राहक से सौदा हो जाता है तो मालामाल हो जाता है। जैसे–शान पर औजार तो बहुत समय रहता है लेकिन एकाध क्षण को उसमें स्फुलिंग उठती हैं, उसी प्रकार अभेद रत्नत्रय अन्तर्मुहूर्त को होता है। शस्त्र का उपयोग करने वाला कुशल योद्धा होता है तो रणांगन में जीत जाता है, मात्र शस्त्र धारण करने से नहीं। यह मन की एकाग्रता व उत्साह की बात है। समता भाव रखें, विभाव को तजे तो असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

निश्चय से सभी जीव केवलज्ञान स्वरूप से युक्त हैं, इसलिए सभी के प्रति साम्य भावना भानी चाहिए। यह समता युक्त भावना ही सामायिक है, इसमें पैसा नहीं लगता है। **मोह और क्षोभ से रहित परिणाम ही मानसिक सामायिक है।** व्रत प्रतिमाओं आदि के द्वारा आत्मा के परिणामों का शुद्धिकरण किया जाता है। अपने व्रतों को अपने ही भावों से एवं मन से पश्चाताप की अग्नि द्वारा साफ शुद्ध किया जाता है।''**रागादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो**'' ऐसा **समयसार** में कहा है। व्रत को लेने के बाद पापरूपी धूल की सफाई आवश्यक है, क्योंकि जैसे–गाड़ी में सफाई के लिए दो वाइपर होते हैं। उसी प्रकार सामायिक, छेदोपस्थापनारूप वाइपर न हो तो दुर्घटना की संभावना बनी रहती है। जैसे–ड्राइवर इधर–उधर नहीं देखता, एकाग्र रहता है। उसी प्रकार अपने व्रतों को स्वयं ही एकाग्रता से साफ कर सकते हैं। **समयसार** आदि में कहा है–राग–द्वेष, कषाय का त्याग करना

परम प्रत्याख्यान है। ''**मध्येवर्तते इति माध्यस्थं**'' जो मध्य में रहता है उसका नाम माध्यस्थ है न सुख की ओर झुकाव है न दुख की ओर झुकाव है। जिस प्रकार अस्सी–नब्बे की स्पीड से गाड़ी चलती है तो उस समय सड़क के आजू–बाजू की वस्तुएँ तो दिखती हैं, किन्तु उपयोग नहीं जाता है, उसी प्रकार सामायिक कर्त्ता माध्यस्थ होकर बैठ जाए तो साता–असाता के उदय में दृष्टि नहीं जाती तब कर्म और तेजी से उदय में आते हैं लेकिन निर्जरित होते जाते हैं। यदि बाहर देखने लग जाए तो ACCIDENT हो जाता है अर्थात् आत्मानुभूति से वंचित रह जाते हैं। विदेशों में बहुत कम दुर्घटनाएँ होती हैं क्योंकि वे ध्रुव की ओर दृष्टि रखते हैं। इसी प्रकार सामायिक करने वाले कर्मोदय को साक्षीभाव से देखते रहते हैं। शरीर को पड़ोसी बनाकर घंटों बैठे रहते हैं। गुफाओं में बैठकर तीव्र तप तपते रहते हैं, वे मुनिराज धन्य हैं। मोह नाश की भूमिका में सामायिक, छेदोपस्थापना ये दो चारित्र ही मुख्य रूप से काम करते हैं। छेदोपस्थापना चारित्र के दो भेद हैं–१. व्रतों में दोष रूप २. अनुभूति से चलायमान रूप। निर्विकल्प से विकल्प में आना ही तीर्थंकर के लिए छेदोपस्थापना चारित्र है। जीवों को व्याघात न पहुँचने रूप चेष्टा परिहारविशुद्धि चारित्र है। यह काय और इन्द्रिय असंयम का परिहार करने से होता है। कुन्दकुन्द स्वामी और समन्तभद्रस्वामी की आगामी तीर्थंकर की घोषणा हो गई। तीर्थंकर भगवान् के बिना हम लोगों का कल्याण होने वाला नहीं है। अभी से लोभ कम करना प्रारम्भ कर दो तभी दसवें गुणस्थान के स्टेशन पर गाड़ी रुक सकती है। प्रत्येक मोक्षगामी जीव को सूक्ष्मसाम्पराय नामक स्टेशन अवश्य मिलेगा इसके बिना वह आगे जा ही नहीं सकता। अनादि मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च भी सीधा पाँचवाँ गुणस्थान चढ़ सकता है और मनुष्य सप्तम गुणस्थान चढ़ सकता है। एक से सातवें गुणस्थान तक जो अपूर्वकरण है उसमें और आठवें गुणस्थान के अपूर्वकरण में अन्तर है। ''**जात्यन्तर अपूर्वकरणत्वात्**'' कहा है। जिस प्रकार बोर्ड की परीक्षा सभी दे रहे हैं, कोई पाँचवीं बोर्ड, कोई आठवीं, कोई दसवीं, यहाँ बोर्ड की परीक्षा सब दे रहे हैं किन्तु कक्षाएँ सभी की अलग–अलग हैं। संयमी कॉलेज का छात्र जैसा है। संयम अर्थात् पाँच प्रकार का चारित्र है, जिस प्रकार पानी आदि गरम करने वाली अग्नि और लोहे को तपाने वाली अग्नि ये दोनों अग्नि होते हुए भी भिन्न है। जिससे पानी गरम होता है उस रॉड से लोहा नहीं तप सकता है। उसी प्रकार देशसंयम से पाँच प्रकार के चारित्र के समान कार्य नहीं हो सकता है। चारित्र लेने के बाद ही संवर–निर्जरा होती है। जैसे–बैंक में पैसे की FD होने पर ही ब्याज मिलता है। तीर्थंकर ही क्यों न हो शुभोपयोग के साथ ही आहार करते हैं। इसलिए शुभोपयोग से मात्र आस्रव ही होता है यह कहना गलत है। व्यवहार रत्नत्रय से भी सावधानी के साथ संयम पालन होता है। भूमिका के अनुसार बोलना, चलना, पढ़ना आदि होता है। शुभोपयोग व्यवहार रत्नत्रय के साथ पाप के संवर का कारण है। शुद्धोपयोग पुण्य के संवर का कारण है। एक व्यवहार निश्चय का साक्षात् कारण है। शुभोपयोग केवलज्ञान के लिए असाक्षात् कारण है, शुद्धोपयोग साक्षात् कारण है। उपदेश देकर शुभोपयोगी श्रमण ही दिशाबोध देते
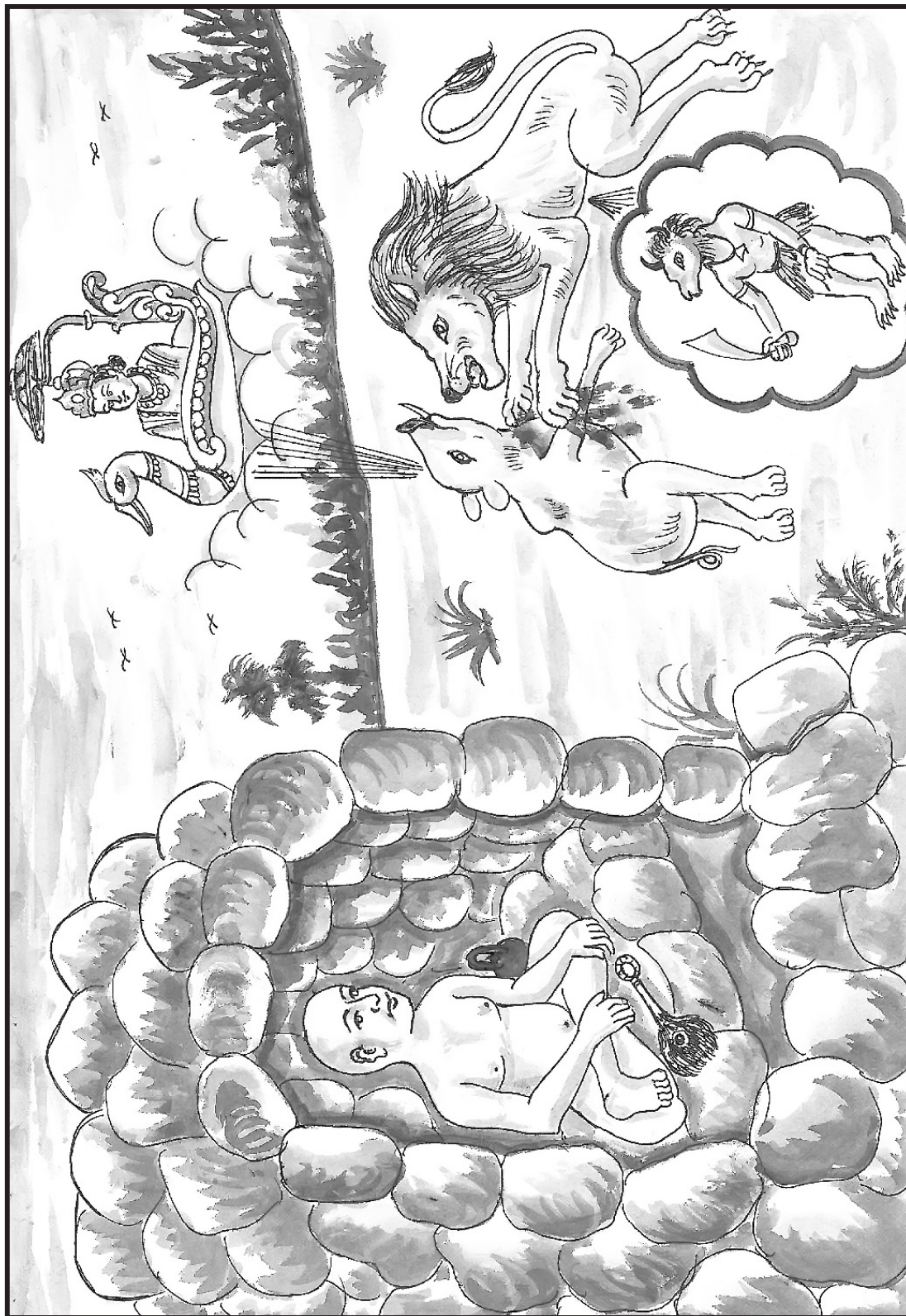
सूकर और शेर में लड़ाई हुई तो सूकर में मुनि रक्षा के भाव होने से देव बना तथा शेर मारने के भाव से नारकी बना।

हैं। संसारी प्राणी के तारने में कारण शुभोपयोगी श्रमण हैं। व्यवहार में प्रवृत्ति होने के कारण संवर नहीं सा लगता है, पर ऐसा नहीं। मिथ्यादृष्टि के पाप का संवर नहीं होता है। सूकर और शेर में लड़ाई हुई तो सूकर में मुनि रक्षा के भाव होने से देव बना तथा शेर मारने के भाव से नारकी बना। दोनों लड़ रहे थे अतः दोनों को नरक जाना चाहिए लेकिन आचार्य कहते हैं—अविरति दशा में छहों लेश्या होती हैं। एक प्रवृत्ति मूलक संवर भेद रत्नत्रय में होता है और दूसरा निवृत्ति मूलक संवर अभेद रत्नत्रय में होता है। भेद रत्नत्रय के द्वारा पाप का ही संवर होता है, पुण्य का संवर तीन काल में सम्भव नहीं है। **चलते फिरते संवर तो हो सकता है किन्तु चलते फिरते सिद्ध नहीं हो सकते।** हाँ, कोई समुद्र आदि में पटक दे, उपसर्ग कर दे तो सिद्ध हो सकते हैं। जैसे—श्वेताम्बर परम्परा में चलते-फिरते केवलज्ञान मानते हैं। हाथी पर बैठे-बैठे, झाड़ू लगाते हुए गृहस्थ को भी केवलज्ञान मानते हैं जबकि मुक्ति के लिए दिगम्बरत्व आवश्यक है। जीवनमुक्ति के लिए निर्ग्रन्थ होना अनिवार्य है। तत्त्वार्थसूत्र का छठा अध्याय आस्रव का ही वर्णन करता है ऐसा जो मानते हैं, उन्हें व्रत के सूत्र पढ़ लेना चाहिए क्योंकि व्रत पापास्रव के संवर का कारण है। समन्तभद्र महाराज ने चौबीस तीर्थंकर की स्तुति दो स्तोत्रों के माध्यम से की है—१.स्वयंभू स्तोत्र, २.स्तुति विद्या। ''**स्तुतिः स्तोतुः साधोः, कुशलपरिणामाय स तदा।**'' हे भगवान्! स्तुत्य सामने रहे या न रहे, स्तुति का फल संवर-निर्जरा तो हमें मिलेगा ही। **आप्तमीमांसा** में भगवान् महावीर की स्तुति की, उनका जीवन तो स्तुति करते हुए निकल गया। भिन्न-भिन्न आइटम से अपनी दुकान को सजाओ, कभी गुप्ति, कभी समिति, कभी स्वाध्याय, कभी पूजा, कभी वैय्यावृत्ति, स्तुति आदि से। मुख्य रूप से गुप्ति के द्वारा ही संवर होता है। तीर्थंकर कोई भी दूसरी क्रिया नहीं करते। तीर्थंकर केवलज्ञान के पूर्व शास्त्र स्वाध्याय आदि नहीं करते, उपदेश नहीं देते, गुरु वंदना, देववंदना, अर्हत् भक्ति आदि कुछ नहीं करते हैं। गृहस्थ अवस्था में भी श्रावकवत् चर्या रहती है, लेकिन श्रावक जैसे कार्य नहीं करते। मुनि बनने के उपरान्त आहार के लिए चले जाते हैं, फिर ध्यान में बैठ जाते हैं। त्रिगुप्ति गुप्त दशा में रहते हैं, कोई प्रवृत्ति नहीं करते। जो गुप्ति में नहीं बैठ पा रहे हैं, ध्यान नहीं कर पा रहे हैं तो जो कर रहे हैं, उनके पास जाकर बैठो, वैय्यावृत्ति करो, व्रत-समिति आदि का पालन करो। कभी भक्ति, कभी स्तुति, कभी स्वाध्याय, कभी जाप, कभी तीर्थवंदना आदि में अपना मन लगाओ यही कहा है।

निर्जरा का लक्षण और भेद

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३६॥

अर्थ—आत्मा के जिस भाव से यथाकाल अथवा तप के द्वारा कर्म रूपी पुद्गल फल देकर नष्ट होता है, वह भाव निर्जरा है और कर्म पुद्गलों का झड़ना-गलना द्रव्य निर्जरा है। भाव निर्जरा तथा द्रव्य निर्जरा की अपेक्षा से निर्जरा दो प्रकार की है।

अपने सुख-दुख फल को देकर जिन भावों से विधि झड़ना।
यथाकाल या तप-गरमी से भाव निर्जरा उर धरना॥
पुद्गल कर्मों का वह झड़ना द्रव्य निर्जरा यहाँ कही।
भाव निर्जरा द्रव्य निर्जरा सुनो! निर्जरा द्विधा रही ॥३६॥

व्याख्या–संवरपूर्वक निर्जरा ही महत्त्वपूर्ण होती है। सविपाक-यथाकाल समय पर जो निर्जरा होती है, वह बन्धमूलक होती है। अविपाक-असमय में जो निर्जरा होती है, वह संवरमूलक होती है। मुक्ति अविपाक निर्जरा से ही सम्भव है। "**पहली सबके होय नहीं कुछ सरै काम तेरा।**" उसी प्रकार तपादि से कर्मरूपी जलांश नष्ट हो जाते हैं। जैसे–हल्की-हल्की धीमी आँच में खोवा बन नहीं सकता, वैसे ही सम्यग्दर्शन रूपी थोड़े से ताप से श्रेष्ठ संवर करना सम्भव नहीं है। चावल धीमी आँच में भी बन जाते हैं किन्तु चने आदि को अधिक ताप की आवश्यकता होती है तो कुछ कर्म ऐसे हैं, जो तपादि से ही झड़ते हैं। "**जेण भावेण**" अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ दर्शनमोहनीय का क्षय तो कर सकता है किन्तु अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान आदि का घर बैठे उपशम, क्षय नहीं हो सकता। अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान के क्षय के लिए वज्रवृषभनाराच संहनन, चतुर्थकाल, तद्भव मोक्षगामी, क्षायिक सम्यग्दृष्टि आदि ही चाहिए। उपशम श्रेणी वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती ने चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम किया किन्तु उन भावों के द्वारा क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते इसलिए "**येन भावेन**" कहा। उदय में आये बिना बँधा हुआ कर्म जा नहीं सकता। "**भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।**" सम्यक् प्रकृति के उदय में स्तिबुक संक्रमण के द्वारा दर्शनमोह की सारी प्रकृतियाँ जा रही हैं। इसलिए इतनी कुशलता रखो कि कर्म स्वमुख से फल न दे। इसी को अविपाक निर्जरा कहते हैं। कर्मोदय परमुख से भी फल देकर ही जायेगा। काललब्धि अर्थात् कर्म में जो स्थिति पड़ती है, वह प्रकृति जब तक जीवित रहेगी वह स्थिति है। शरीर के प्रति लगाव को कम करने के लिए भिन्न-भिन्न तप किये जाते हैं। जैसे–फोड़ा सूखने को होता है तो पपड़ी आ जाने से क्या मिट जायेगा? नहीं। पपड़ी निकालते हैं तो दुबारा और ज्यादा मोटी पपड़ी आ जाती है तो इसका अर्थ हुआ '**भुत्तरसं**' अभी समाप्त नहीं हुआ है, वह भोगना ही पड़ेगा। दूध में घी बनने की क्षमता है तो क्या एक घंटे में बन जायेगा? नहीं। उसे विधिवत् तपाया जायेगा तब घी की प्राप्ति होगी। इच्छा निरोध का नाम तप है। अष्टपाहुड में तो अविरत सम्यग्दृष्टि की निर्जरा गजस्नानवत् कही है। वज्रवृषभनाराच संहनन मिलने पर भी कई जीव कुछ नहीं कर पाते क्योंकि अनेक प्रकार की आकुलताएँ बनी रहने से संक्लेश बना रहता है। जो ज्ञान का प्रयोग करता है उसे ज्ञान का फल मिलता है। देव, शास्त्र, गुरु से राग का वर्धन नहीं होता है किन्तु उनके दर्शन से स्वरूप सम्बोधन हो जाता है। भगवान् के समागम से पञ्चेन्द्रिय के विषय छूट जाते हैं और यदि तीर्थंकर का पादमूल मिल जाए तो क्षायिक सम्यग्दर्शन हो सकता है, एवं तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध भी प्रारम्भ हो सकता है। इनके चरणों में देव-देवी, मनुष्य, तिर्यञ्च को

सम्यग्दर्शन की भूमिका बन जाती है, यह पुण्यानुबन्धी पुण्य माना जाता है। जिन व्रतों को ले लिया उसमें लगे दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है, लेकिन व्रत याद होंगे तो ही प्रतिक्रमण कर पायेगा।

मोक्ष तत्त्व का स्वरूप

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो ॥३७॥

अर्थ–सभी कर्मों के नाश का हेतु आत्मा का जो परिणाम है उसको भाव मोक्ष जानना चाहिए और कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् होना द्रव्य मोक्ष है।

सब कर्मों के क्षय में कारण आतम का परिणाम रहा।
भाव-मोक्ष वह यही बताता जिनवर मत अभिराम रहा॥
आत्म -प्रदेशों से अति-न्यारा तन का, विधि का हो जाना।
'द्रव्य-मोक्ष' है, मोक्षतत्त्व भी द्रव्य-भावमय सोपाना ॥३७॥

व्याख्या–दर्शनमोहनीय की निर्जरा हो रही है तो समझो चारित्र के सन्मुख है। निर्जरा एकदेश ही होती है किन्तु क्षय सर्व प्रकार से होता है। जीवन-मुक्ति अर्थात् केवलज्ञान, कर्म-मुक्ति अर्थात् मोक्ष। सोलह प्रकृतियों का संवर प्रथम गुणस्थान में नहीं, द्वितीय गुणस्थान में होता है। इसका मतलब आस्रव-बन्ध प्रथम में होता है। बन्धन से ही मुक्ति मिलती है मुक्ति का एक अलौकिक आनन्द है। शारीरिक सुख, मानसिक सुख पर ही आधारित होता है। सिद्ध परमेष्ठी के सुख में वृद्धि ह्रास नहीं होता है। वे स्वयं अतिशय युक्त हैं, बाधा से रहित हैं। सीमातीत सुख ही शाश्वत रहता है। अनुपम, अपार, नित्य, सर्वदा, उत्कृष्ट तथा अनन्त, सारभूत परम सुख उन सिद्धों के होता है। **भगवान् की भक्ति करने से आत्म सुख उत्पन्न होता है लेकिन सुख का उपादान कारण आत्मा ही है।** भगवान् की स्तुति करने से सोया हुआ सुख जागृत हो जाता है। **अपने आपको कमजोर मत समझो और भगवान् से बलजोर भी मत समझो। ''उपादान की योग्यता घट में ढलती सार''** शाश्वत सुख की यदि पहचान हो जाए तो इन्द्रिय सुख की ओर जो दौड़ थी वह रुक जाती है। अतीन्द्रिय सुख का संवेदन इन्द्रियों के माध्यम से नहीं हो सकता है। आगम प्रमाण से उसका अनुमान कर सकते हैं। जब तक साधना है तब तक इस सुख का संवेदन नहीं कर सकते। चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक रसोई बनाने की प्रक्रिया चल रही अर्थात् सिद्धत्व का संवेदन नहीं है। जैसे तैयारी के बिना सेवन नहीं किया जा सकता और तैयारी के समय भी सेवन नहीं किया जा सकता। जब तक साधना है तब तक साध्य की प्राप्ति नहीं है। आज अतीन्द्रिय सुख के बारे में लेख लिखे जा रहे हैं।

इष्टोपदेश में कहा है–

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

व्यवहार से बाहर हो गये इसलिए आनन्द आ रहा है। व्यवहार में जाना पड़ रहा है ऐसा मन में आये तो व्यवहार छूटने में देरी नहीं लगेगी। **अध्यात्म कला जब तक साधक को नहीं आयेगी तब तक अतीन्द्रिय सुख नहीं हो सकता है।** इसमें मात्र दृष्टि स्थिर करने की आवश्यकता है। प्रज्ञा चक्षु खुलने पर ही **व्यवहारबहिः स्थिते:** हो सकता है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में भी यह कार्य सम्पन्न हो सकता है और पूरी आयु निकल जाने पर भी नहीं होता। कर्म हमेशा बलवान नहीं रहते हैं मंदोदय में उसे जड़ से निकाल सकते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में अन्दर के बुखार को पहले बाहर लाया जाता है, उसी प्रकार कर्मों को उदय में लाकर उसे जड़ से निकाल देते हैं। मदोन्मत्त विशालकाय हाथी को एक छोटा-सा बच्चा भी नियंत्रित कर सकता है, उसे गड्ढे में गिराकर चार-पाँच दिन भूखा रखने पर फिर उसके पास जाकर थोड़ा-सा भोजन पानी आदि दे दिया जाता है तो UNDER में हो जाता है, इस प्रकार मित्रवत् बनाकर उसे अंकुश लगा देता है उसी प्रकार दुबला-पतला साधक भी रत्नत्रय के द्वारा कर्मोदय को जीत सकता है। कर्मों की जड़ को पहचान लेने पर उसे जड़ से उखाड़ देता है। जब आसन अपने आप नहीं लग सकता है तो वह अपने आप बदल भी नहीं सकता, यह बुद्धिपूर्वक ही होता है। जैसे—सामने एक सर्प है पीछे एक सर्प है और हाथ पर एक बिच्छू बैठा है और आप आसन लगाकर बैठ गये अब थोड़ा भी हिलोगे तो बिच्छू डंक मार देगा इस कारण हिलेंगे नहीं क्योंकि डर है हिलेंगे तो काटेगा। अपनी रक्षा के लिए जब स्थिर बैठ सकते हैं तो कोई जीव मर न जाए ऐसा भाव आने पर साधक आसन बदल नहीं सकता। कनिष्ठा और अंगूठे के बीच में मुरमुरा खड़ा रख दो तो वो चूरा नहीं हो सकता, किन्तु छोटा बालक भी मुरमुरे को आड़ा करके चूरा कर देता है, इसी प्रकार कर्म को आत्म बल के द्वारा आड़ा करके अर्थात् मंद करके चूर-चूर कर सकते हैं। **कर्म बलवान नहीं, कर्त्ता बलवान है।** लब्धि के सम्मुख, आत्म सम्मुख व देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति एवं गुणानुवाद से कर्म अपने आप ढीले हो जायेंगे। पुरुषार्थहीन नहीं बनें। सही दिशा में यदि पुरुषार्थ हो तो फल अवश्य मिलेगा।

''**ज्ञातुं इच्छा इति जिज्ञासा**'' अपने शुद्ध आत्म तत्त्व की जिज्ञासा सबसे दुर्लभ मानी जाती है जो इस संसार में बहुत कम लोगों को हुआ करती है उसमें भी सफलता बहुत कम व्यक्तियों को मिलती है। परिग्रह को प्राप्त करने के लिए जितनी कोशिश होती है, उससे यदि लक्षवाँ भाग भी आत्म तत्त्व की खोज में लगा दो तो पर्याप्त है। ध्यान करना सिखाया नहीं जाता, ध्यान तो होता है। तत्त्व ज्ञान होते ही वह अपने आप ध्यान में लग जाता है। जो अहितकर विषय कषाय हैं वहाँ से अपने ज्ञान को हटा दो तो ध्यान हो जायेगा।

पुण्य व पाप कथन

सुहअसुह-भाव-जुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥३८॥

अर्थ—शुभ तथा अशुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्य व पाप रूप होते हैं। साता वेदनीय, शुभ आयु, (देव, मनुष्य व तिर्यञ्च) शुभ नामकर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ और उच्च गोत्र, ये ब्यालीस पुण्य प्रकृतियाँ हैं, शेष पाप प्रकृतियाँ हैं।

शुभ-भावों से सहित हुआ सो जीव पुण्य हो आप रहा।
अशुभ-भाव से घिरा हुआ ही जीव आप हो पाप रहा॥
सुर-नर-पशु की आयु-तीन ये उच्चगोत्र औ सुख साता।
नाम-कर्म सैंतीस पुण्य हैं, शेष पाप हैं दुखदाता ॥३८॥

व्याख्या—शुद्ध पुण्यास्रव कराने वाला शुद्धोपयोग है। एक अन्तर्मुहूर्त के ध्यान से पुण्य की बाढ़ ऐसी आती है कि केवलज्ञान हो जाता है। बारहवें गुणस्थान में शुद्ध भावों के द्वारा साता का आस्रव होने से तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। तेरहवें गुणस्थान में अन्त तक साता रूप आस्रव होता है। मोह और योग के बिना आस्रव नहीं हो सकता। केवलज्ञानी को साता को छोड़ अन्य का आस्रव नहीं होता क्योंकि शुद्धोपयोग का अभाव है। अज्ञान अध्यवसाय भाव है। स्वभाव भाव का आश्रय लेने से बन्ध नहीं होता है। एकमात्र पुण्यास्रव होने पर ही केवलज्ञान का मुख देख सकते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में भी साता का आस्रव है, किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त का साता का आस्रव केवलज्ञान को प्राप्त नहीं करा सकता, वह दलदल पैदा करने वाली साता है। बारहवें गुणस्थान की वर्षा धूम धड़ाके की होती है जिसमें घातिया कर्म रूपी जड़ें धड़ाधड़ अन्तर्मुहूर्त में उखड़ जाती हैं रास्ता साफ कर देती हैं, ऐसे पुण्य की वर्षा आबाधा काल के बिना होती है, उसे कोई रोक नहीं सकता, इसमें एक अन्तर्मुहूर्त में ही चार घातिया कर्म उखड़ जाते हैं और चार अघातिया कर्म की जड़ें भी ढीली पड़ जाती हैं। प्रथम व द्वितीय शुक्लध्यान में साता की बाढ़ अन्तर्मुहूर्त तक आयी तो ध्यान के प्रभाव से केवलज्ञान हो गया। यहाँ तृतीय शुक्लध्यान के साथ भी आस्रव है, किन्तु चतुर्थ शुक्लध्यान में आस्रव रहित संवर हो रहा है इसलिए संवर सहित निर्जरा मात्र चौथे शुक्लध्यान में होती है। चतुर्थ शुक्लध्यान में बाढ़ नहीं आती, भीतर ही भीतर कर्मों की सफाई होती है। एक सावद्य उद्योग होता है जो संसार वृद्धि का कारण है तथा दूसरा उद्योग अर्थात् उत्कृष्ट उद्यम (पुरुषार्थ) मुक्ति का कारण है। वर्णादि जो बीस हैं वे पुण्य-पाप दोनों रूप होते हैं। कर्मों का फल क्षेत्र आदि के अनुरूप मिला करता है। निधत्ति-निकाचित कर्मों का वैचित्र्य बड़ों के ऊपर भी होता देखा गया है। जैसे—पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी आदि। तीर्थंकरों का बल चरमोत्कर्ष होता है पर वह स्पर्धा के लिए नहीं कर्म नाश के लिए होता है।

जैसे—कोई व्यक्ति अच्छा कार्य करता है तो पुलिस उसकी रक्षा करती है और चोरी आदि करे तो उसे मारती है, जेल ले जाती है उसी प्रकार शुभ आयु के साथ वर्णादि बीस शुभ रूप तथा अशुभ आयु के साथ में अशुभ रूप परिणत हो जाते हैं। नरक में अच्छी विक्रिया, अच्छे कार्य करना चाहता है पर क्षेत्र का प्रभाव होने से नहीं कर पाता। कर्म अपना फल द्रव्य, क्षेत्र आदि के अनुसार देता है।

नरक में द्रव्य से कृष्ण लेश्या है। रंग काला है तो पहली पृथ्वी से क्रमशः आगे-आगे और अधिक-अधिक काला रंग होता है और स्वर्गों में ऊपर-ऊपर लेश्या शुभ-शुभतर-शुभतम होती चली जाती है। जिसने जैसे परिणाम किये उसके अनुसार उसके कर्म तो बँध ही गये। खाते में जितना लिखा है उतना तो देना ही पड़ेगा, चाहे आज दो या कल। कर्म बाँधा है तो फल मिलेगा ही। सोलहकारण भावनाओं से जो तीर्थंकर विशेष पुण्य प्रकृति है उसका बन्ध होता है। तीर्थंकर जब तक घर में रहेंगे तब तक कोई प्रभुत्व वाला नहीं हो सकता। चक्रवर्ती भी नहीं और घर से निकलते ही वहाँ चक्रवर्ती आदि हो सकते हैं। स्वयंभूस्तोत्र में नेमिनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—बलदेव और नारायण ने जिनको नमस्कार किया है। श्रीकृष्ण का शंख कोई फूँक नहीं सकता था, पर नेमिकुमार ने नाक से ही फूँक दिया क्योंकि सबसे उत्कृष्ट बल तीर्थंकर में ही होता है। यह प्रकृति क्षायिक सम्यग्दृष्टि को ही बँधे ऐसा नहीं है, क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि को भी हो सकती है। इसका प्रारम्भ मनुष्यों को ही होता है। श्री धवला, गोम्मटसार आदि में केवली, श्रुतकेवली की आवश्यकता बताई है लेकिन तत्त्वार्थसूत्र की टीका, उपटीका में ऐसा कथन नहीं है। पच्चीस दोषों से रहित क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करके भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो ही यह नियम नहीं। मात्र दर्शनविशुद्धि भावना नहीं, सोलह-कारणभावना से यह बन्ध होता है।

लोक की परम्पराओं को धर्म ही मान लेना मूढ़ता है। सम्यग्दर्शन वज्र से भी कठोर है और फूल सम कोमल भी है। जैसे—अधार्मिक बातों को कोई मनाना चाहे तो वज्र से भी कठोर बन जाओ और अनुकम्पा के समय दया से द्रवीभूत हो जाओ। मद करना सम्यग्दर्शन के लिए कलङ्क है। इससे सम्यग्ज्ञान भी कलंकित होता है। इन दोनों के माध्यम से चलने वाला सम्यक् चारित्र भी कलंकित हो जायेगा। निर्दोष चारित्र के लिए निर्दोष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान भी चाहिए। स्वामी समन्तभद्र आचार्य ने षट् अनायतनों को नहीं लिया है। "**श्रद्धानं परमार्थाना-माप्ता-गम-तपो-भृताम्।**" नियमसार में कुन्दकुन्दस्वामी ने षट् अनायतनों को लिया है। आप लोग बर्तन तो खरीद लेते हैं लेकिन उन्हें साफ नहीं करेंगे तो अच्छे-अच्छे व्यञ्जन भी अच्छे नहीं लगेंगे। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन अष्ट दोषों से रहित होने पर ही निर्दोष बनता है। अष्ट अंग रहते हुए दोष और मद आ नहीं सकते इसलिए दोष रहित सम्यग्दर्शन के लिए निज शुद्धात्म तत्त्व उपादेय है ऐसी सम्यक् भावना भानी चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि सोलहकारणभावना भाने से विकल्प होता है इससे बन्ध होता है तो उन लोगों की इस धारणा से तो उन्हें तीर्थंकर का साक्षात् दर्शन तक नहीं मिल सकता है। आहारकद्विक के बन्ध का प्रत्यय संयम और तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का प्रत्यय सम्यक्त्व कहा है, लेकिन प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है ऐसा नहीं, पर जिसको भी होगा वह सम्यक् के साथ ही होगा यह नियम है। जैसे—लोकसभा में ४५० सीट होती हैं, उसमें से मात्र पचास सीट ही प्रधानमंत्री की हैं तो कोई भी पचास ही व्यक्ति चयन किये जायेंगे, उसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले तो बहुत

हैं, लेकिन तीर्थंकर प्रकृति के उदय की अपेक्षा बहुत कम सीटें हैं। १७० ही रहेंगी। समवसरण में जाने के उपरान्त तो वहाँ के आनन्द का पार ही नहीं रहता। परम भक्ति के साथ रत्नत्रय की भावना भाने से ही तीर्थंकर भगवान् का सान्निध्य मिलता है। सोलहकारणभावना, बारहभावना, अनगारभावना से ही हम रत्नत्रय को निर्मल बना सकते हैं। **''सम्यग्दृष्टि परम भक्ति करोति'' ऐसा यहाँ कहा है, हेय बुद्धि करोति ऐसा नहीं कहा।** भक्ति छोड़ने योग्य नहीं यह तो बड़े पुण्योदय से मिलती है। इसलिए आदर के साथ करनी चाहिए। इससे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। सीता को राम के विषय में और राम को सीता के विषय में हनुमान के द्वारा सब समाचार मिलते रहते थे। सीता कहती है कि–मैं कैसे विश्वास करूँ कि तुम वहीं से आये हो? तब हनुमानजी राम के द्वारा दी हुई अंगूठी दे देते हैं, तब उन्हें विश्वास हो जाता है उसी प्रकार चारित्रमोह के उदय से व्रत–संयम आदि नहीं ले पा रहे हैं तो जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हैं उनकी भक्ति, वंदना आदि करते हैं। विश्वास के साथ इन्द्र, अणुव्रती श्रावक आदि सभी संयम की महिमा गाते हैं। समयसार, नियमसार, प्रवचनसार आदि के उपसंहार में कहा है–जो इसे भक्ति–भावों से पढ़ता है, सुनता है, सुनाता है वह अक्षय सुख को पाता है। ये भक्ति आदि ही उसमें विशेष कारण हैं। पञ्चपरमेष्ठी आदि की भक्ति, स्तुति, दान, पूजा आदि से विभूति को प्राप्त होने पर भी उसे जीर्ण तृण के समान गिनता हुआ पञ्च विदेह में जाता है वहाँ देखता है कि यह वही समवसरण है, वही गणधर देव हैं, जिनको मैंने पहले सुना था, आज प्रत्यक्ष देखा है, ऐसा मानकर धर्म में बुद्धि को दृढ़ करता है, भोगों का सेवन होने पर भी धर्म्यध्यान से देवायु के काल को पूर्ण कर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव आदि पदों को प्राप्त कर पूर्व के भेदविज्ञान के संस्कार से मोह नहीं करता है और जिनेन्द्र दीक्षा को धारण कर पुण्य–पाप रहित जो निज परमात्म तत्त्व है उसका ध्यान कर मोक्ष को पाता है और जो मिथ्यादृष्टि है, वह पुण्य से तीव्र निदान बन्ध करके रावण आदि प्रतिनारायण के समान भोगों को प्राप्त कर नरक को जाता है।

॥ इति द्वितीय महाधिकारः समाप्तम् ॥

तृतीय महाधिकार

व्यवहार व निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप

सम्मद्-दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तिय-मइयो णिओ अप्पा ॥३९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को व्यवहार नय से मोक्ष का कारण जानो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मयी निज आत्मा को निश्चयनय से मोक्ष का कारण जानो।

सच्चादर्शन तत्त्वज्ञान भी सच्चा, सच्चा चरण तथा।
'मोक्षमार्ग-व्यवहार' यही है प्रथम यही है शरण-कथा ॥
परन्तु 'निश्चय-मोक्षमार्ग' तो निज आतम ही कहलाता।
क्योंकि आतमा इन तीनों से तन्मय होकर वह भाता ॥३९॥

व्याख्या—मुख्यता और गौणता केवल प्रतिपादन के लिए हुआ करती है। व्यवहार मोक्षमार्ग साधन रूप है इसलिए उसका वर्णन पहले करते हैं। कार्य कारण अपेक्षा कभी व्यवहार की मुख्यता, कभी निश्चय की मुख्यता प्रतिपादन की अपेक्षा होती है। यहाँ पर मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा है तो पहले व्यवहार मोक्षमार्ग होगा, निश्चय मोक्षमार्ग नहीं। कर्म सिद्धान्त अपेक्षा भी निश्चय सम्यग्दर्शन पहले नहीं होगा अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यग्दर्शन सर्वप्रथम नहीं होगा और उपशम सम्यग्दृष्टि को भी क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होगा। सत्ता में ही मिथ्यात्व का क्षय तीन काल में नहीं हो सकता। वह तो उदयावली द्वारा उदय में लाकर क्षय किया जाता है, इसलिए कर्म सिद्धान्त में मुख्यता-गौणता नहीं होती है। प्रथमोपशम से पहले क्षायिक सम्यग्दर्शन हो गया, ऐसा कर्म सिद्धान्त में कहीं नहीं बताया है चाहे कर्मकाण्ड हो, जीवकाण्ड हो, श्रीधवला हो, श्री जयधवल हो, श्री महाधवल हो किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थ में सर्वप्रथम निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं बताया। मोक्षमार्ग में गौणता-मुख्यता नहीं, मोक्षमार्ग के प्रतिपादन में मुख्यता-गौणता होती है। अपर्याप्त दशा में सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होगा। कृतकृत्य वेदक अपर्याप्त दशा में रह सकता है। पर्याप्त दशा में प्रारम्भ किया था और मरण हो गया तो अपर्याप्त दशा में पूर्ण करता है चाहे तीर्थंकर भी क्यों न हों, वे भी पहले व्यवहार मोक्षमार्ग को ही अपनाते हैं। कृतकृत्य वेदक वाला भी शरीर पर्याप्ति पूर्ण होते ही क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। जैसे-आजकल ऐसे कैमरे भी हैं जिनमें नेगेटिव-पॉजेटिव दोनों बन जाते हैं, एक साथ दोनों होने पर भी पॉजेटिव के लिए थोड़ी बाहर की हवा चाहिए। तीर्थंकर भी जब पाँच पापों को दूर कर व्रत को ग्रहण करते हैं, उस समय निश्चय मोक्षमार्ग नहीं, व्यवहार मोक्षमार्ग ही होता है,

निर्विकल्प दशा प्रथम नहीं होती है। व्रत ग्रहण करने के उपरान्त उपेक्षा संयम आता है। जैसे–कागज, पेन आदि ग्रहण करने के उपरान्त अब लेखन पर ही दृष्टि रखता है, इधर–उधर नहीं देखता है, उसी प्रकार उपेक्षा संयम होता है। त्यागी–तपस्वियों को उपेक्षा दृष्टि रखना चाहिए, त्यागी की दृष्टि में आदान, हान के बाद उपेक्षा अवश्य होनी चाहिए यदि अपेक्षा रहती है तो वह विकल्पों से घिर जाता है। दूसरा उदाहरण – सोने का विकल्प है तो सर्वप्रथम बिस्तर बिछा लिया, लाइट बन्द कर दी, हल्ला बन्द करने का कह दिया यह तो हो गया हान उपादान और जब नींद आ जाती है तब उपेक्षा होती है क्योंकि नींद में तकिया कहीं,चादर कहीं, स्वयं उत्तर से दक्षिण में पहुँच गया। इसी प्रकार पहले व्यवहार मार्ग फिर निश्चय मोक्षमार्ग होता है। यह इस उदाहरण से समझ लेना चाहिए। उपेक्षा में जो आनन्द है वह अन्यत्र कहीं नहीं आता। व्यवहार को जब तक गौण नहीं करेंगे तब तक निश्चय का आनन्द नहीं आ सकता। वह निश्चय मोक्षमार्ग अन्तर्मुहूर्त के लिए होता है शेष पूरा समय व्यवहार में जाता है। जिसे एक बार निश्चय में रस आ जाता है वह फिर बार–बार उसी को पाने लालायित रहता है। श्रावक का प्रातः भरपेट भोजन होता है और शाम को अन्थऊ थोड़ा–सा भोजन करते हैं इससे स्पष्ट होता है शाम को थोड़ा बहुत मुँह गीला कर लेते हैं। उसी प्रकार निश्चय का प्रेमी व्यवहार को अन्थऊ के समान झटपट करता है किन्तु जिन्हें व्यवहार में रस आता है, वह सुबह–शाम भरपेट भोजन करने के समान उसी में लगे रहते हैं। निश्चय के माध्यम से उपेक्षा संयम का लाभ ले लेना चाहिए। निश्चय के स्वाद बिना रत्नत्रय का कोई स्वाद नहीं आयेगा। जैसे–रोटी के ग्रास को चबाकर पतला बनाये बिना खाने से उसका स्वाद नहीं आता है बल्कि चबाने पर जब रस एकमेक हो जाता है तब स्वाद आता है निश्चय में ''**तत्तियमइओ णिओ अप्पा**'' तीनों में एकपना होता है और व्यवहार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की भिन्नता है। जैसे–रस्सी गूँथते हैं, तीन लड़ी बना लेते हैं और फिर तीनों को एकमेक करके एक–सा गूँथते हैं, इसको बोलते हैं व्यवहार निश्चय में ढल रहा है उसी प्रकार रत्नत्रय लेने के उपरांत निश्चय के माध्यम से रस्सी गूँथते हैं उसमें एक भी लड़ कमजोर नहीं होनी चाहिए। कुँए से पानी रस्सी के माध्यम से खींचा जाता है उसी प्रकार शुद्धोपयोग रूप आत्मामृत का स्वाद निश्चय रूपी रस्सी के माध्यम से ही आता है किन्तु आज एक ही लड़ रूप सम्यग्दर्शन के माध्यम से रस्सी बनाने की प्रक्रिया की जा रही है, जो कि असम्भव है। जो संवेदनात्मक है वह मैं हूँ। यह शरीर मैं नहीं हूँ, इस प्रकार आत्म तत्त्व दिखना चाहिए। जैसे–प्रकाश कहने से दीपक की ओर दृष्टि जाती है, प्रकाश ही दिखता है और बुझने पर अंधकार दिखता है। उसी प्रकार आत्म दृष्टि (प्रकाश को देखने की दृष्टि) होनी चाहिए। रात में भगवान् के पास जाते हैं तो भगवान् के ऊपर रात्रि में लाइट नहीं डालनी चाहिए, अंगुली नहीं दिखाना चाहिए, यह हमें सिखाया गया था। पच्चीस सौ वाँ निर्वाण महोत्सव हुआ, तब यह प्रश्न छिड़ गया कि भगवान् की फोटो छापना चाहिए या नहीं? दोनों पक्ष जोर लिए हुए थे। टार्च दिखाना, अंगुली दिखाने के समान अपमान माना

जाता है। आस्था, विनय, मौन के साथ जिनायतनों में कार्य होना चाहिए, आज तो कुछ भी नहीं रहा। चाबी के गुच्छे, वस्त्रों आदि पर भगवान् की तस्वीर बनाई जाने लगी है। अँगूठी में भगवान् के दर्शन वाली कथा याद रखना चाहिए। राजा को नमस्कार न करना पड़े इसलिए मुद्रिका में भगवान् की तस्वीर लगाकर नमस्कार करता था। तत्त्व की बातें एकाग्रता से शान्ति से सुनने-सुनाने की हैं। एकाग्रता के लिए व्यग्रता का त्याग अनिवार्य होता है। यह एकाग्रता आपकी रुचि व पुरुषार्थ के ऊपर निर्भर है।

पहले तो शास्त्र विराजमान करने से पहले सावधान किया जाता था किन्तु आज तो बगल में शास्त्र दबाकर ले जाते हैं, पहले सोले के शुद्ध वस्त्र पहन कर ही स्वाध्याय करते थे, आजकल तो अटैच रूम है, वहीं पर शास्त्र रखे जाते हैं। शास्त्र स्वाध्याय के लिए पवित्र स्थान होना चाहिए। पचास-सौ हाथ की दूरी होना चाहिए। हम जिन शास्त्रों को हाथ जोड़ते हैं, नमोऽस्तु करते हैं और उन्हीं शास्त्रों को बिल्टी बना करके भेजा जाता है तो उन पर कोई भी बैठ जाता है, कहीं पर भी पटक देते हैं, गायब तक हो जाती हैं, यह सब सुन करके बहुत दुख होता है। व्यवहार मोक्षमार्ग भी सही-सही अपनाना बहुत दुर्लभ है। **राजवार्तिक** में लिखा है-ज्ञान जब व्यग्रता का रूप ले लेता है तो एकाग्रता का अभाव हो जाता है और मन की यह विचित्रता है कि मंदिर आते हैं तो घर याद आ जाता है और घर में रहते हैं तो यहाँ की याद आती है। यहीं पर रह करके यहीं के हो जाना बहुत कठिन है। राग के कारण विषय कषायों से सम्बन्ध होने के कारण यहाँ रहते हैं तो वहाँ की याद आती है। **ज्ञानार्णव** में लिखा है-ध्यान के लिए संयम, दम रखा है। प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रिय विषयों से मन को हटाना। प्रदर्शनी में लिखा रहता है-DON'T TOUCH ONLY SEE छुएँ नहीं, मात्र देखें। छूना राग का प्रतीक है, वीतरागी होकर कुछ भी सोचो, बन्ध नहीं होगा। घर में बड़े को समझाने के लिए कहते हैं-यह छोटा भाई देखो, तुमसे तो ज्यादा अच्छा है, उसी प्रकार उलझे मुनियों के लिए कहा जाता है-

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥ (र० श्रा०)

ऐसा समन्तभद्रस्वामी जी ने कहा है। कनकपाषाण जो अग्नि से तप रहा है, वह व्यवहार हो गया और कनक की प्राप्ति हो जाना यह निश्चय मोक्षमार्ग हो गया। व्यवहार रत्नत्रय फूल की भाँति और निश्चय रत्नत्रय फल की भाँति है। पत्ते व फूल का एक साथ दर्शन हो सकता है किन्तु फूल और फल का एक साथ दर्शन नहीं होता। हाँ, फूल के बिना भी फल (निश्चय) नहीं। फूल ही फल रूप में परिवर्तित होता है, उसी प्रकार फूल व्यवहार और फल निश्चय है। परीक्षा के बाद समीक्षा होती है, शोध होता है। आलोचना और समालोचना में अन्तर है।

आधार-आधेय का सम्बन्ध जिसे ज्ञात है, उसे रत्नत्रय की आराधना में आधारभूत आत्म द्रव्य भी दृष्टि में आ जाता है। जैसे-आकाश को देखने पर चन्द्रमा भी दिख जाता है और चन्द्रमा को देखने पर आधार रूप आकाश भी देखने में आता है, किन्तु जब चन्द्रमा को विषय बनाते हैं तो आकाश

धुँधला दिखता है और आकाश को विषय बनाते हैं तो चन्द्रमा छोटे से तारे के समान दिखता है इसी प्रकार किसी विषय का चिन्तन करते हैं तो उसकी गुण, पर्याय भी दिखेगी। जब व्यापकता की दृष्टि से सोचते हैं या आत्म द्रव्य को विषय बनाते हैं तो ज्ञान को विश्राम मिलता है, परद्रव्य पर टिको नहीं। यदि किसी पर टिक गये तो निश्चित रूप से डिग गये (बिक गये) इसलिए तीर्थंकर स्वयंबुद्ध आत्मनिर्भर होते हैं, उनका विस्तृत दृष्टिकोण होता है। वे वर्तमान के माता–पिता को औपचारिकता से मानते हुए भी पहले के सभी माता–पिता को एक–सा समझते हैं। माता–पिता मेहमान की तरह उनके आदर सत्कार में लगे रहते हैं। उनके एक ही लाड़ला पुत्र होता है और वे हमेशा गम्भीर रहते हैं। द्रव्य को अपनी दृष्टि का विषय बनाना और गुण, पर्याय को विषय बनाने में भेद है। किसी भी वस्तु का चिन्तन करो तो पहले शब्द आ धमकता है। जैसे–सो... ना। वह कैसा है? तो पीलापन आयेगा। पहले शब्द में बुद्धि जाती है तो उस समय श्रुतज्ञान नहीं रहता बल्कि स्मृत्यात्मक मतिज्ञान रहता है। आत्मा कहने से श्रोत्र इन्द्रिय मुख्य शेष गौण हो जाती हैं। जब देखते हैं तो चक्षु इन्द्रिय मुख्य शेष इन्द्रिय गौण। खिड़कियाँ पाँच हैं और जानने वाला ज्ञान एक है। इसलिए चार खिड़कियाँ बन्द हो जाती हैं और एक में उपयोग चला जाता है। पाँच इन्द्रिय रूपी खिड़कियाँ बन्द कर दो। मन की ओर से भी दृष्टि हटा दो। ध्यान लगाते समय यदि कुछ स्मरण में नहीं आता है तो नहीं आने दो, जो कुछ संवेदन हो रहा है, उसे अनुभव करो। स्मरण करने का प्रयास मत करो। स्व के संवेदन के लिए इन्द्रिय और मन की आवश्यकता नहीं है सामायिक के समय किसी दूसरे को परिचय देने की आवश्यकता नहीं, संवेदन में श्रुतज्ञान को लगा दो।

स्व–संवेदन के लिए पर की आवश्यकता नहीं होती है। बोलने की भी आवश्यकता नहीं है। आत्मा की ओर उपयोग "**अभ्यास दशायां स्वत:अनभ्यासदशायां तु परत:**" ऐसा कहा है। यह आत्मानुभूति क्या है? तो कहते हैं–

आत्मा ही तो निश्चय मोक्षमार्ग का कारण

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्ण–दवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खक्स कारणं आदा ॥४०॥

अर्थ–आत्मा को छोड़कर अन्य पुद्गलादि द्रव्यों में रत्नत्रय रूप–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं रहता, अत: रत्नत्रयमयी आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण होता है।

ज्ञानादिक ये तीन रतन तो आत्मा में ही झिल–मिलते।
शेष सभी द्रव्यों में झाँको कभी किसी को ना मिलते॥
इसलिए इन रत्नों में नित तन्मय हो प्रतिभासित है।
माना निश्चय मोक्षसौख्य का, कारण आतम भावित है॥४०॥

व्याख्या–निश्चय से आत्मा में षट्कारक होते हैं, व्यवहार में भी आएँ तो मोक्षमार्गी को

आत्मा की बात करना चाहिए। आज हमारा व्यवहार इतना लचीला हो गया है, औपचारिक हो गया है कि दूसरों से भी मिलते हैं तो शरीर की ही बात होती है। जबकि रत्नत्रय की बात पूछना चाहिए। रत्नत्रय व उसके साधन ठीक हैं कि नहीं यह पूछना चाहिए, साता है, सुख है कि नहीं यह पूछना चाहिए। हम क्या पूछते हैं? दुकान अच्छी चल रही है कि नहीं? व्यवहार में शरीर भी एक उपकरण है, साधन है लेकिन यथाजात शरीर हो। जो परीक्षा दे रहा है उसे कोलाहल में बैठना अच्छा नहीं लगता। उसी प्रकार स्व-संवेदक को कोलाहल पसन्द नहीं आता है, यह शरीर अन्न का कीड़ा है, थोड़ा-सा प्रतिकूल आहार हो, अन्तराय हो तो आवाज बदल जाती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि है फिर भी चक्र चलाया। उनके सामने पद प्रतिष्ठा आ गई तो क्रोध में चक्र फेंक दिया, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में प्रतिकूलता के समय सावधानी आवश्यक है। प्रतिकूलता में कषायों के ऊपर नियन्त्रण करना बहुत कठिन है। मोक्षमार्ग में इस पुरुषार्थ के बिना सब फीका-फीका है। कैसी ही माँ क्यों न हो? गाय जैसी भी क्यों न हो? यदि बालक कहना नहीं मानता है तो माँ सींग हिलाये (क्रोध किये) बिना नहीं रहती। निश्चय सम्यग्दर्शन की चर्चा में जब इतना आनन्द आता है तो उसकी अर्चा में कितना आनन्द आयेगा, कोई विकल्प ही नहीं। विकल्प ही संसार की जड़ है। देखे, सुने, अनुभव में आए विषय-कषाय से राग-द्वेष रूप परिणाम ही अपध्यान है। बहुत सूक्ष्म है सद्ध्यान। विषय-कषायों की ओर ले जाने वाली वाणी जिनवाणी नहीं, वीतरागता का उपदेश देने वाली वाणी ही जिनवाणी है। जैसे-ठंडाई बनाने के उपरान्त पानी, सौंफ, मीठा आदि अलग-अलग नहीं दिखते हैं, उसी प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग में आत्मा ही रत्नत्रय रूप है। निज शुद्धात्मा को छोड़कर मुक्ति का कारण और कोई नहीं है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥

अर्थ—जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है तथा इस सम्यक्त्व के होने पर ही ज्ञान दुरभिनिवेश—संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित होकर सम्यक् होता है।

जीवा -जीवादिक तत्त्वों पर करना जो श्रद्धान सही।
'सम-दर्शन' है वह आतम का स्वरूप माना,जान सही ॥
जिसके होने पर क्या कहना संशय - विभ्रम भगते हैं।
समीचीन तो ज्ञान बने वह प्राण-प्राण झट जगते हैं ॥४१॥

व्याख्या—द्रव्य आधार गुण आधेय है। द्रव्य के बिना आत्मा का स्वरूप, सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं मिल सकता है। जैसे—पीलापन को छोड़कर स्वर्ण नहीं मिल सकता, पीलापन उसका गुण है। जैसे—अपने आपको याद करो, ज्ञान के बिना तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि करण के बिना

कर्त्ता का बोध नहीं हो सकता है। अब कर्त्ता को रख दो, हमें तो पीलापन चाहिए, सोना नहीं तो वह भी सम्भव नहीं है। जब कर्त्ता-करण में विसंवाद होने लगे तो अधिकरण की ओर चले जाना चाहिए। वह सामान्य होते हुए भी अपने आपमें विशेष रहता है। स्वाध्याय में उस वाणी को सुनो, जिसमें वर्षों की अनुभूति बताई जा रही है, उसको सिर्फ पिओ, तभी तो उसकी अनुभूति आयेगी। निश्चय से राग आत्मा में नहीं है, कषाय भी नहीं है, लेकिन राग का आधार आत्मा ही है। आत्मा तो गुणों का पिटारा है, उसमें मुख्य गुण ज्ञान है। राग-द्वेष ऊपरी-ऊपरी हैं ऐसा भी नहीं है। ऊपर-ऊपर में राग है तो हवा से राग-द्वेष उड़ा दो वस्तुतः ऐसा नहीं है। जो अपना होता है उसी का परिहार किया जाता है। अपने घर में जो भटक रहा है, उसे कोई रास्ता कैसे बताये? उसकी भटकन कभी समाप्त नहीं हो सकती। जो बाहर में भटका हुआ हो उसे तो रास्ता मिल ही जायेगा। **जब राग अपने भीतर से गया ही नहीं तो जिनवाणी कैसे भीतर जायेगी?** राग को छोड़ो और अपनी आत्मा में लीन हो जाओ। ये दो बातें नहीं हैं। पर का सहारा लेने से ही राग होता है। वह बीत जाए तो वीतरागता आ जाए। पर के प्रति राग करने से अपना ज्ञान रागमय हो जाता है। पर पदार्थ के प्रति कुछ न कुछ राग संयोजना होने से ही पर का ग्रहण होता है। सिद्धों का ध्यान करते समय श्रद्धान तो क्षायिक रूप हो सकता है किन्तु पर के प्रति राग होने से आत्मा रागमय रहता है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वरूप है। सम्यग्दर्शन के होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है फिर भी सम्यग्दर्शन नहीं होने पर ज्ञान सम्यक् नहीं होता है। आत्मा के सम्मुख होना, स्वाध्याय करना आदि सम्यग्दर्शन के पूर्व का पुरुषार्थ है। मनुष्य और तिर्यञ्चों को शुभ लेश्या के साथ ही सम्यग्दर्शन होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त छहों लेश्याएँ हो सकती हैं। देव और नरक में लेश्या परिवर्तन नहीं होती है, लेकिन मनुष्य और तिर्यञ्चों को सम्यक्त्वोत्पत्ति के लिए शुभ लेश्या अन्तर्मुहूर्त के लिए अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के पहले भी आत्मा तत्त्वाभिमुख होता है लेकिन तिर्यञ्च सात तत्त्वादि के बारे में चिन्तन नहीं करता है। निराकार दशा में विकल्प उत्पन्न नहीं होते और विकल्प (साकार उपयोग) के बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता ही नहीं है और वीतराग दशा में विकल्प अभिशाप सिद्ध होते हैं। अनन्त का विश्वास और एक आत्मा के विश्वास में बहुत अन्तर है। **''हातुं योग्य हेयं, ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं''** ज्ञान का ज्ञेय के प्रति आयाम, पुरुषार्थ या उद्यम भी अध्यवसाय है। कार्य के प्रति उत्सुकता का अभाव अनध्यवसाय है। संशय या अनिर्णीत ज्ञान को उभय कोटि स्पर्श ज्ञान भी कहा है। **समन्तभद्रस्वामी** ने सम्यग्ज्ञान की परिभाषा बतायी है-**''अन्यूनमनतिरिक्तं''** अन्यून अर्थात् न्यूनता रहित अर्थात् वस्तु की जानकारी में अधूरापन नहीं होना। सम्यग्ज्ञान की परख ज्ञेयों के माध्यम से भी होती है। सराग दशा में पदार्थ के कारण मोह व संदेह हो जाता है तो पदार्थ के कारण निर्मोहीपना, निःसंदेहपना भी आ सकता है। निरक्षर भी सम्यग्ज्ञानी हो सकता है और ग्यारह अंग दश पूर्व वाला भी मिथ्याज्ञानी हो सकता है। अन्यून का अर्थ क्षयोपशम ज्ञान कम नहीं होना ऐसा अर्थ नहीं लगाना

किन्तु न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित यथार्थ स्वरूप को शंका रहित जानता है, उसे शास्त्रज्ञ सम्यग्ज्ञान कहते हैं। पात्र-अपात्र और कुपात्र ये तीन हैं। तीर्थंकर घर में रहते हुए कुपात्र तो नहीं हैं और अभी पात्र भी नहीं हैं क्योंकि कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है-"**णवि सिज्झइ वत्थधरो**" घर में रहते हैं तब तक भोजन करते हैं, आहार नहीं करते हैं। तीर्थंकर के मुनि बनने के बाद प्रत्येक आहार में पञ्चाश्चर्य होते हैं। **पात्र को आहार देना प्रीतिभोज नहीं प्रतीति भोज है।**

अचरित्री जो होता है वह अभी क्लास में बैठा ही नहीं है, परीक्षा ही नहीं दी, उसके लिए फेल-पास की बात ही नहीं। जो मिथ्याचारित्री है, वह मिथ्यादृष्टि अवश्य है। जिसके पास पैसे नहीं हैं वह तथा जिसके पास पैसे हैं वह दोनों टिकट घर को देख जान रहे हैं। जिसके पास पैसे हैं वह लाइन में लग जाता है उसे टिकट मिल जाता है, इसी प्रकार असंयमी बिना पैसे वाला जैसे टिकट घर देख रहा है वैसा है और संयमी लाइन में लगने वाले के समान है। लौकिक ज्ञान की दौड़ गलत है। ज्ञान गलत नहीं है। **मूलाचार** में व्याकरण, छन्द आदि को लौकिक शास्त्र में गिना है, **अनगार धर्मामृत** में आया है कि-**जिस व्यक्ति की दृष्टि अध्यात्म की ओर नहीं है, उसे व्याकरण, छन्द आदि का ज्ञान करना सर्प को अमृत पिलाने जैसा जहर का काम करता है।** सुना है घी, दूध से आम्र वृक्ष का सिञ्चन होता है तो फलों में मिठास आ जाती है और वह फल विशेष मात्र राजा के लिए ही होता है। इन्द्रभूति के पास बहुत ज्ञान था लेकिन मिथ्याज्ञान था। ज्ञान को यदि समीचीन देखना चाहते हो तो ज्ञान की मात्रा की ओर मत देखो, ज्ञाता माता-प्रमाता की ओर देखो। जैसे-ऊँट का मुख ऊँचा ही रहता है, उसे जब खाना रहता है तो गर्दन झुकाना मुश्किल होता है इसलिए उसके गले में ही घास आदि बाँधी जाती है। वैसे ही मोक्षमार्ग में ऊपर देखकर चलना उचित नहीं, चार हाथ देखकर चलो, दूरदृष्टि (दूरबीन) की आवश्यकता नहीं, दृष्टि में व्यापकता होना चाहिए। एक काल में अनन्त कार्य होते हैं फिर भी जो व्यक्ति काल को सहायक नहीं मानता है उसके लिए भी आचार्यों ने काललब्धि कहा है। आत्मपुरुषार्थ से जीव अनन्तकाल को अन्तः कोटा-कोटी प्रमाण कर देता है। परिवर्तन में काल अनिवार्य है। काल चाक के कील की भाँति है। स्थाई चार द्रव्य हैं, घूमने वाले दो द्रव्य हैं। कील (काल) नहीं घूमती। काललब्धि अर्थात् प्राप्ति। काल के ऊपर संसार चक्र घूम रहा है। गाथा आदि का रूप देना, शब्द रूप गूँथना यही सही प्रकाशन व सम्पादन है, लेकिन आज तो पुस्तक छपना ही प्रकाशन माना जाता है। गणधरदेव ने द्वादशांग को शब्द रूप में गूँथा यही सम्पादन/प्रकाशन है। मानस्तम्भ देखने से व्यवहार सम्यग्दर्शन हुआ, भगवान् के चरण निकटता से क्षायिक सम्यग्दर्शन हुआ और निर्विकल्प दशा में लीन होकर केवलज्ञान की प्राप्ति होने से परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन हुआ।

पञ्चम गुणस्थानवर्ती के भी दुर्ध्यान है और प्रथमादि चार गुणस्थान में भी दुर्ध्यान है लेकिन इन दोनों में अन्तर है तो पञ्चम गुणस्थानवर्ती के दुर्ध्यान होने पर भी नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य में उत्पन्न नहीं होगा यह विशेषता है। मूढ़ता अर्थात् मूर्खता या अज्ञान होता है यह सम्यग्ज्ञान का अभाव रूप

मूढ़ता है ये मूढ़ताएँ केवल भरत–ऐरावत क्षेत्र में ही हैं, विदेह आदि क्षेत्र में नहीं। विदेहक्षेत्र में तीर्थंकरों का अभाव नहीं होता है। वहाँ हमेशा कम से कम बीस तीर्थंकर तो होते ही हैं। इसलिए वहाँ पर गृहीत मिथ्यात्व नहीं होता है। तीर्थंकर के होते हुए भी ३६३ मत होते हैं, यह हुण्डावसर्पिणी काल की देन है। किसी ने आकर के कहा कि–महाराज! आप क्षेत्रपाल पद्मावती को मानते हैं कि नहीं? मैंने कहा कि–भैया मानना तो पड़ेगा क्योंकि छहों द्रव्यों में वे भी जीव द्रव्य हैं, भवनवासी हैं। जैसा आगम में उल्लेख है वैसा मान लेना चाहिए। आस्तिक्य गुण की विशेषता से जो जिस रूप में है, उसे उस रूप में नहीं मानेंगे तो मिथ्यात्व की कोटि में आना पड़ेगा। '**याथातथ्यं**' कहा है। उनकी पूज्यता अपूज्यता के बारे में ही क्यों चर्चा करते हैं ? जबकि सौधर्म इन्द्रादि की पूज्यता के बारे में नहीं पूछते हैं? और सर्वार्थसिद्धि वाले देव तो सभी पूर्व भव में चारित्र लिए हुए थे, वे सभी सम्यग्दृष्टि ही होते हैं फिर भी उनकी पूजा करने को नहीं कहा है। सबसे ज्यादा कमजोर भवनत्रिक के देव हैं। थोड़ी–सी एकाग्रता से प्रभु की भक्ति कर लो तो आकर खड़े हो जाते हैं। हाँ, आपका सम्बन्ध पूर्व भव का हो या पुण्य–पाप का उदय हो तो–''**शापानुग्रहशक्ति**'' से ये आपके ऊपर प्रयोग करेंगे। विद्याधर साधना के माध्यम से विद्याएँ सिद्ध करते हैं। साधना से जो सिद्ध होती हैं वे विद्याएँ कही जाती हैं तथा मन्त्र पढ़ने से जाप से मन्त्र सिद्धि होती है। जैसे–प्रद्युम्नकुमार को कुल परम्परा से मन्त्र सिद्ध थे और बाद में और भी सिद्ध करते हैं। अंजना के साथ बसंतमाला थी वह जंगल में विद्याओं के द्वारा भोजनादि की व्यवस्था करती थी। रावण के पास तो अनेक विद्याएँ थीं लेकिन कुछ नहीं हुआ। आज यन्त्र युग होने से मन्त्र गौण हो गया है। ''**न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्।**'' आज डॉक्टर चिकित्सा के द्वारा रोग दूर करते हैं। पहले मन्त्रों के द्वारा रोगादि दूर होते थे। **शान्ति भक्ति** में कहा है– ''**विद्या-भेषज-मन्त्रतोय-हवनैर्याति प्रशान्तिं यथा।**'' इसका अर्थ यह नहीं कि मिथ्यात्व की आराधना हो गई। वीतरागता को दृष्टि में रखकर आराधना होती है। **तिलोयपण्णत्ति** में कहा है–पाँचवें गुणस्थान तक विद्याएँ रहती हैं इनका उपयोग होता है, लेकिन इसका त्याग किये बिना छठवाँ, सातवाँ गुणस्थान नहीं होता है। इस प्रकार विद्याधरों के भी चौदह गुणस्थान हो सकते हैं। कोई कर्म क्षय के निमित्त से साधना करते हैं तो भी मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं। विद्या सिद्ध करना यदि सम्यग्दर्शन में बाधक है तो चतुर्थ गुणस्थान विद्याधरों के नहीं कहना चाहिए। पहला गुणस्थान ही कहना चाहिए लेकिन सम्यग्दर्शन ऐसा मोम का नहीं है कि वह पिघल जाए और मिथ्यादर्शन ऐसा बलजोर नहीं है कि वह जबरदस्ती आ धमके। भवनत्रिक में मिथ्यात्व के साथ जन्म लेते हैं किन्तु वहाँ मिथ्यादर्शन ही रहता है ऐसा नहीं। कुन्दकुन्द स्वामी को भी विद्याएँ थीं लेकिन उनका प्रयोग नहीं किया, उनके बारे में प्रशस्ति है। ऋद्धिधारी मुनिराजों को साधना के बल से विद्या सिद्ध भी हो जाती है तो भी उनकी उस ओर दृष्टि नहीं जाती है। सात सौ बड़ी व पाँच सौ लघु विद्याएँ सिद्ध हो जाने पर यदि उससे मुनिराज आकर्षित हो जाते हैं तो मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। धरसेनाचार्य को स्वप्न में दो

बैल दिखे तो ''**जयतु श्रुत देवता**'' ये शब्द मुख से निकले। ऐसे वचन महान् आचार्यों के मुख से बिना विश्वास के नहीं निकलते। उनको विश्वास हो गया था कि दो पात्र आ रहे हैं, जो श्रुत की रक्षा करेंगे, उन्हें निमित्तज्ञान था। जय जिनेन्द्र का प्रयोग साधर्मियों के साथ होता है, किन्तु भगवान् से जयजिनेन्द्र नहीं कहते हैं। वीतराग सम्यक्त्व में अपना निरंजन निर्दोष जो परमात्मा है वही देव हैं ऐसी निश्चय बुद्धि ही समय मूढ़ता रहित अवस्था है। निश्चयापेक्षा देव, गुरु, शास्त्र पर श्रद्धान करना देव मूढ़ता है ऐसा नहीं कहना चाहिए। अशुद्ध निश्चयनय से हमारे रागादि रूप अशुद्ध भाव ही मूढ़ता है। वास्तव में देखा जाए तो निश्चयनय अपेक्षा मूढ़ता होती ही नहीं है क्योंकि स्व-शुद्धात्मा में ही अवस्थान होता है। व्यवहार की भूमिका में ही इन मूढ़ताओं का प्रयोग होता है इसलिए सराग सम्यग्दर्शन की भूमिका में इनका परिहार आवश्यक है। सराग अवस्था में ही मद आदि होते हैं। मान कषाय के साधनों से बचो। ममकार, अहंकार से रहित होकर अपने में स्थित हो जाओ तो मद नहीं आयेगा। ''**देह पुत्र ममेदं इति ममकारः तथा गौरः स्थूल आदि देहोऽहं, राजाऽहं इति अहंकार**'' दृष्टि में, बोली में, धन आने पर, ज्ञान आने पर बदलाहट आ जाती है। ''**मद धारे तो यही दोष वसु समकित को मल ठानै**'' कोमल ठाने नहीं। सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है। ''**तत्सुखं यत्रनाऽसुखं**'' वीतरागी कौन है? जिसके पास राग नहीं। वह सुख है, जहाँ पर असुख (दुख) नहीं है। सुख देखने में नहीं आता दुख का अभाव देखने में आता है। रोग का अभाव निरोग, दोष का अभाव गुण है। मुक्ति किसका नाम है? तो बन्धन का अभाव। संशय या संदेह नहीं करने का नाम ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है। अनिर्णीत ज्ञान का नाम संदेह/ संशय है। भगवान् ने अनन्त को बताया है लेकिन हमें समझ में नहीं आ रहा है तो इसमें संशय/संदेह नहीं करना। वैद्य कभी रोगी के अनुसार नहीं चलते, न हि चलना चाहिए, रोग के अनुसार चलना चाहिए। दवाई पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन। कैसे लेना, कब लेना इसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और विधि अनुसार लेना सम्यक्चारित्र है। दो और दो चार होते हैं, यह जैसे मानते हैं वैसे ही भगवान् की वाणी को बिना संदेह के मानना चाहिए। यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। जीव का ही नहीं जीवत्व का भी श्रद्धान करें क्योंकि ''**तद्भावाव्ययं नित्यं**'' घोर उपसर्ग को सम्यग्दृष्टि अपने कर्म समझकर भोगते हैं। सम्यग्दृष्टि सप्तभय से रहित होता है। **सम्यग्दृष्टि संयोग वियोग को अस्थायी जान लेने पर स्थायी आत्म तत्त्व पर ही श्रद्धान करता है।** जहाँ पर हमेशा-हमेशा हाय-हाय हुआ करती है उसे हायवे कहते हैं। पगडंडियों में ऐसी दुर्घटना नहीं होती। राजमार्ग में ही दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं उसी प्रकार विरक्त दशा में भय नहीं रहता।

वास्तव में शोध के लिए कोई समय सीमा ही नहीं है, सीता ने अग्नि परीक्षा दी वह शोध में सफल हो गई तब राम अयोध्या चलने का आग्रह करते हैं, तब सीता कहती है—आत्मा अजर अमर है, इस सत्य का अनुभव हो गया, अतः अब आर्यिका दीक्षा ग्रहण करूँगी। निःकांक्षित अंग में सीता की एवं निःशंकित अंग में विभीषण की कथा प्रसिद्ध है। सीता ने बासठ वर्ष तक आर्यिका पद में

विहार करते-करते जिनधर्म की बहुत प्रभावना की। जिनके प्रतिमा लेने के भाव नहीं हैं या लेने के बाद भोगों की याद आती है उन्हें यह पुराण की कथाएँ पढ़ लेना चाहिए। सीता आर्यिका पद पर भेदाभेद रूप रत्नत्रय की भावना से अन्त में तैंतीस दिन तक निर्विकार परमात्मा का ध्यान करते हुए सल्लेखना धारण कर सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई। शान्ति वहीं मिलती है, जहाँ धर्म की बातें मिलती हैं। परिणामों की विचित्रता देखो, जीव कहाँ-कहाँ पहुँच जाता है। रावण, लक्ष्मण और सीता के जीव का कई भवों से सम्बन्ध है, वर्तमान में रावण, लक्ष्मण नरक में हैं और दोनों भविष्य में तीर्थंकर होंगे और सीता गणधर होगी। लक्ष्मण धातकीखण्ड द्वीप में तीर्थंकर होंगे। गणधर परमेष्ठी पद भी महत्त्वपूर्ण होता है। उनका तीर्थंकर से नजदीक का सम्बन्ध है बड़ा अद्‌भुत पद है। **सुख चाहते हो तो ''स्व में रमो'' और दुख चाहते हो तो ''पर में रमो।''** ''**एदम्हि रदो णिच्चं**'' करने योग्य कार्य यही है कि मोक्षमार्ग में निरीह और निर्भीक होकर समता से सहन करें। चिकित्सा का अर्थ है- जुगुप्सा। ''**जो ण करेदि दुगुच्छं**'' ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि के लिए कहा है। सनतकुमार चक्रवर्ती को मुनि बनने के बाद कुष्ठ रोग हो गया। विशेष कर्म का उदय होता है तो ऋद्धि होने पर भी ऐसे रोग हो जाते हैं किन्तु प्रतिकार नहीं करते हैं। ऐसा नहीं है कि ऋद्धि-सिद्धि वाले मुनिराज को रोग नहीं होते किन्तु सम्यग्दृष्टि मुनिराज प्रतिकार नहीं करते, मरने के भाव नहीं करते तथा शरीर जल्दी-जल्दी छूट जाए ये भी भाव नहीं करते। वे तो जन्म, जरा, मृत्यु रूपी असली रोगों को मिटाना चाहते हैं। ''**जीवितमरणाशंसा मित्रानुराग सुखानुबन्ध निदानानि**'' यह भी अतिचार है। माँ को बच्चे के प्रति कभी ग्लानि के भाव देखने में नहीं आते। माँ के ऊपर बच्चा गंदगी कर दे तो भी माँ बच्चे को नहीं फेंकती, गंदगी को फेंकती है। इसी प्रकार पर्याय को गौण कर द्रव्य की ओर दृष्टि रखकर सम्यग्दृष्टि निर्जुगुप्सा का पालन करता है और वीतराग सम्यग्दृष्टि द्रव्य पर्याय आदि सबको ज्ञायक भाव से देखते जानते हैं। व्यवहार में सबसे बड़ा कार्य वृद्धों की सेवा करना। वृद्धों की वैय्यावृत्ति, सेवा करने से ब्रह्मचर्य व्रत निर्दोष पल जाता है और ब्रह्मचर्य व्रत में वृद्धि होती है, अपने आप पल जाता है। इससे बड़ा कार्य रत्नत्रयधारी की वैय्यावृत्ति करना है। वृद्ध से यहाँ-ज्ञान वृद्ध, तप वृद्ध, अनुभव वृद्ध और गुणों से वृद्ध हैं उनकी सेवा करना चाहिए। अधिक गुण वालों के पास जाना चाहिए। पर आजकल तो अधिक गुण वाला गुण हीन के पास जाता है ताकि उसके ऊपर हम अपना प्रभाव जमा सकें। धीरे-धीरे वह भी कम गुण वाला हो जाता है। अधिक गुण वाला कम गुण वाले के साथ इसलिए रहता है क्योंकि उसे वह डाँट भी सकता है, झुका भी सकता है, उससे आदर सम्मान भी मिलता है, धीरे-धीरे दोनों एक से हो जाते हैं। साधक भी वह अच्छा माना जाता है, जिसमें विषयों का धुँआ न हो। ऐसी कौन-सी अग्नि है जिसमें धुँआ होता हो पर राख नहीं होती है? वह कपूर की अग्नि जैसा इन्द्रिय और मन के विषयों का धुँआ है। कई लोग जहाँ पर दुर्गन्ध आती है, वहाँ से निकलते हैं तो नाक बन्द कर लेते हैं लेकिन सम्यग्दृष्टि को किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती। **सबसे**

अच्छा यही है कि दुनिया की तरफ से आँख बन्द कर लो। एक कान से सुनो दूसरे कान से निकाल दो। कौन क्या कर रहा है यह देखो मत, चलते जाओ। मुझे कोई भी देख नहीं सकता। सम्यग्दृष्टि की नजर में राग में भी वीतरागता नजर आती है। सिर्फ एक कालीमिर्च दिख रही है यह अर्जुन की आँख है। रुक्मणि की कथा भी निर्विचिकित्सा अंग में आती है। प्रद्युम्न जब क्षुल्लक का भेष बनाकर रुक्मणि की परीक्षा करने आया तो रुक्मणि ने जितना भोजन बनाया था सब समाप्त हो गया फिर उसने नारायण श्रीकृष्ण के खाने योग्य जो लड्डू थे, उसमें से आधा दिया वह भी खा लिया, आधा फिर दिया वह भी खा लिया जबकि उसे हर कोई पचा नहीं सकता और फिर वहीं पर वमन कर दिया। स्वभाव की ओर दृष्टिपात करो तो कोई विकार नजर नहीं आता। **सृष्टि में लोक नहीं है, दृष्टि में लोक है।** अनन्तकाल से विभाव के दर्शन होने से स्वभाव के दर्शन नहीं हो पा रहे हैं। काया को काया रूप में, अनन्त पुद्‌गल के पुञ्ज रूप जानो। काया तो दिख रही है लेकिन काया का स्वभाव नहीं दिख रहा है। जादूगर मुट्ठी में राख लेता है और यूँ फेंक देता है और नोटों का ढेर लगा देता है, लोग आश्चर्य करते हैं किन्तु थोड़ी देर बाद वही जादूगर कटोरा लेकर सबसे पैसा माँगता है, यह है माया। साता के उदय में माया नजर आती है और असाता के उदय में वही धन कोयला हो जाता है। सोना क्या है? पीला कोयला है। पापोदय में माया समाप्त हो जाती है। पूरी दुनिया इस जड़ के पीछे लगी हुई है, जबकि गधा तक इसे नहीं सूँघता है पर बड़े-बड़े साहूकार इसे इकट्ठे करने में लगे हैं। आत्मानुभूति तब होती है जब माया को माया रूप में स्वीकारता है। फिर एक का आदर दूसरे का अनादर नहीं होता है, जब तक वस्तु का मूल्यांकन है, तभी उसका मूल्य है। **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** में कहा है—आत्मधर्म की रक्षा के लिए व्यन्तरादिक के पास नहीं जाना चाहिए। व्यन्तरादिक भी तभी रक्षा करते हैं जब पुण्य का उदय हो। जो व्यन्तरादिक देवों के माध्यम से अपने रागादि दुख दर्द को दूर करने के लिए उनकी ओर आकृष्ट होता है तो उसके लिए कहा है—जिस समय जिसके द्वारा जिसका जो होना होगा, तभी वह उसके कर्मानुसार होगा, इसलिए आत्मधर्म की शरण लो वही सहारा है। रोग ठीक होना हो तो एक पुड़िया से या पानी से भी ठीक हो सकता है और नहीं होना हो तो बड़े-बड़े डॉक्टर-वैद्य भी ठीक नहीं कर सकते, इसलिए धर्म को धारण करो। इधर-उधर जाने से कुछ नहीं होगा। तुम्हारे साता का उदय होगा तो रक्षक देव व्यन्तरादि बिना बुलाये आ जायेंगे। ग्यारह अंग व नौ पूर्व का अध्ययन करने वाले के पास पूजा के लिए नहीं आते क्योंकि ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक का ज्ञान मिथ्यादृष्टि को भी हो सकता है। जैसे ही ग्यारह अंग, दश पूर्व का ज्ञान होता है तो देव आ जाते हैं। वे अंग पूर्व की पूजा करने आते हैं। जब पूर्ण श्रुत केवलित्व प्राप्त हो जाता है तब दुबारा पुनः पूजा होती है। कर्मों के तीव्र उदय में देव लोग कुछ नहीं कर सकते। पार्श्वनाथ भगवान् पर ओले शोले पत्थर पानी बरस रहा है, पर देव नहीं आए। तीर्थंकर आहार करने उठे यह अपवाद मार्ग है। एक बार भोजन करना मूलगुण है। जब एक बार भोजन करना भी अपवाद मार्ग है फिर दो बार भोजन

करने वाले का क्या होगा? स्वर्ण की दुकान पर सौ टंच सोना मिल जायेगा पर सुनार के पास जाओगे तो बिना बट्टे के आभरण नहीं मिलेंगे। उसी प्रकार मुनि को चर्या बट्टे के साथ पालन करना होती है। यह अपवाद मार्ग है, अपने लिए जितना आवश्यक है उतना ही करो दूसरों का सहारा लेना चाहते हो तो पञ्च परमेष्ठी का सहारा लो बड़ों को बड़े रूप में स्वीकार करना चाहिए जब भी मुनि बनोगे और चर्या के लिए निकलोगे तो बड़ों के साथ ही निकलोगे बड़ों से दूर रहना चाहते हो तो केवलज्ञान प्राप्त करो। **कुन्दकुन्द स्वामी** ने लिखा है—जहाँ परिग्रह संज्ञा है, वहाँ भय संज्ञा अवश्य है। त्यागी बनने के उपरान्त मेरा-तेरापन छोड़ देना चाहिए तभी वह शान्त रह सकता है। चाबी का गुच्छा बता रहा है कि आपका मन कहाँ है? पुत्र, कलत्र आदि मेरे हैं यह संकल्प है तथा मैं सुखी-दुखी हूँ, इस प्रकार का हर्ष-विषाद करना विकल्प है। **समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में कहते हैं—नवमीं प्रतिमा में ''**स्वस्थ: संतोष पर: परिचित्त परिग्रहाद्विरत:**'' परिग्रह रहित ही विरत स्वस्थ है। घर पर बारात आ गई डेकोरेशन आदि सब कुछ हो गया, प्रोग्राम हो रहा है और बेटी के पिता का पता ही नहीं है, वह विकल्पों में डूबा हुआ है किन्तु जब बेटी की बिदाई कर देता है, तब वह हल्कापन महसूस करता है। जब पूरा कार्य निपट जाता है तब शान्ति मिलती है। अन्य सदस्यों को घर खाने दौड़ रहा है ऐसा लगता है, किन्तु अब पिता को खुशी हो रही है उसी प्रकार परिग्रह के त्याग पर संकल्प रहित अवस्था आती है, यह सब कुछ ''**पुण्य-पाप फल मांहि, हरख बिलखो मत भाई। यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसे थिर नाहिं ॥**'' स्थिर नहीं है। उपगूहन का अर्थ—छुपाना होता है। शीलव्रत अणुव्रत के लिए सहायक है। उसी प्रकार उपगूहन अंग सम्यग्दर्शन के विकास का कारण है। भेद रत्नत्रय उपयोग की चंचलता सहित होकर भी संवर-निर्जरा का कारण है। ''**शुभोपयोगस्य-अयमपराध:**'' ऐसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है अर्थात् शुभोपयोग से मात्र बन्ध ही होता है, ऐसा नहीं। शुभोपयोग में जैसे किराये की दुकान लेकर बाजार में दुकान करता है तो किराया तो देना पड़ता है, उसी प्रकार बन्ध तो होता है, किन्तु फायदा भी होता है। आमदनी भी होती है अर्थात् संवर-निर्जरा भी कर लेते हैं। रत्नत्रय लेने के उपरान्त भी प्रवृत्ति के समय बन्ध होता है, किन्तु कुशलता से बार-बार शुद्धोपयोग को स्पर्श करता है तो शुभ के बन्ध के साथ संवर-निर्जरा भी करता है। जघन्य शुभोपयोग के साथ तीर्थंकर प्रकृति आहारकद्विक आदि का बन्ध करता है। जैसे—स्नान करने के उपरान्त नजर न लग जाए इसलिए एक काली बिंदी लगा देते हैं। इसी प्रकार शुभोपयोगी को ढिठौना सुहाता है किन्तु शुद्धोपयोग में नहीं। किसी के लड़के ने कुछ गलत काम कर लिया या चोरी आदि कर ली तो सबको पता चल गया। जब पिता को पता चलता है तो पिता कहता है—मेरा बेटा ऐसा नहीं कर सकता, आपको गलतफहमी है। यह उपगूहन हो गया और घर में आकर उसकी तब तक पिटाई की जब तक सही-सही नहीं बताया। उसकी आगे गलती न हो इसके लिए पहले उपगूहन उसके उपरान्त स्थितिकरण। सुना है-एक बार मोतीलालजी का एक पेन नेहरुजी ने

उठा लिया तो मोतीलाल जी ने ऐसा डण्डा मारा कि हाथ में फोला आ गया। पर मरहम तक नहीं लगाया गया। जब ठीक हो गया तो मोतीलालजी ने पूछा–ठीक हो गया तब नेहरुजी बोले–बिल्कुल ठीक हो गया, अगले भव तक के लिए भी ठीक हो गया। **चेलना को खुद के भव के बारे में मालूम नहीं किन्तु उन्होंने श्रेणिक राजा को तीर्थंकर का चेक दिला दिया।** यह महासती चेलना की कथा आज भी प्रसिद्ध है, यह अद्भुत कार्य है। स्थितिकरण किये बिना उपगूहन का कोई महत्त्व नहीं है–''**अन्दर हाथ पसार के ऊपर मारत चोट**'' चोट वहीं पर पड़ती है, जहाँ खोट है। गोल आकार तभी आता है, जब खोट पर चोट करता जाता है इसी प्रकार ''**गुरु कुलाल शिष्य कुम्भ है घड़-घड़ काढ़त खोट।**'' उपगूहन दूसरों को बताने की चीज नहीं है। जैसे–कोई अमूल्य चीज रहती है या कोई खाने की चीज रहती है तो उसको बिना दिखाये चुपचाप खा जाते हैं उसी प्रकार उपगूहन है। कर्मों के कारण हमारा स्वभाव छिप रहा है। जैसे–बादल से सूर्य ढक जाता है। इन अंगों को पढ़ने से पता लगता है कि सम्यग्दर्शन कितना कठिन है। सम्यग्दर्शन की मात्र चर्चा करने से कुछ नहीं होता, प्रयोग करने का पुरुषार्थ करें।

दर्शन चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से स्खलित होने पर उनके भावों का स्थितिकरण किया जाता है। सम्यक्त्व प्रकृति यह दर्शनमोहनीय की प्रकृति है उसमें वोट, सपोर्ट उसी दर्शनमोहनीय का है। भले ही अनन्तानुबन्धी हीन अनुभाग वाली है, पर है तो उसी मिथ्यात्व जैसी विपरीत श्रद्धान कराने वाली। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जल्दी से क्षुब्धता को प्राप्त नहीं होता। **एक असावधानी करने वाला सौ सावधान व्यक्ति को असावधान कर सकता है,** मिथ्यात्व कर्म ऐसा ही है। सम्यक्त्व प्रकृति उदय में है तब तक भी खतरा समझना।

अभयदान, औषधिदान आदि को भी महत्त्व देना चाहिए। निराश्रित, अर्थहीन, रुग्ण को अभय व औषध देना चाहिए। जयसेनाचार्य, लोहाचार्य आदि ऐसे-ऐसे नियम लेते थे कि सौ व्यक्ति जब तक जैन नहीं बनेंगे तब तक आहार नहीं लेंगे। इतिहास पढ़ोगे तो ज्ञात होगा कि जैनधर्म यहाँ तक कितनी घाटियाँ पार करके आया है। निश्चय स्थितिकरण– ''**उम्मग्गं गच्छंतं, सिव मग्गे जो ठवेदि अप्पाणं**'' निश्चय की बात करने वाले को अपना चित्त कहाँ जा रहा है इसको देखना चाहिए। जिस प्रकार घोड़े को चाबुक लगायी जाती है, उसी प्रकार मन पर लगाम लगाना चाहिए। मन की लगाम को हमेशा-हमेशा हाथ में रखकर चलना होता है। ध्यान करने के लिए तो मन नहीं लगता और इधर-उधर की बातों में, दुकान में खूब मन लगता है, निश्चय सम्यग्दृष्टि अपने मन को ऐसा कीलित कर देता है कि वह स्थिर हो जाता है, जिससे इधर-उधर जा नहीं सकता। तभी मोक्षमार्ग सुरक्षित रहता है फिर अन्तर्मुहूर्त बाद व्यवहार में आना होता है। जैसे–आप भोजन करते हैं तो क्या बिना श्वास लिए करते हैं ? यदि श्वास नहीं लें तो ठसका लग जाता है, उसी प्रकार थोड़ा सा शुद्धोपयोग होगा पुनः शुभोपयोग में आना होता है। इस प्रकार निश्चय व्यवहार होता है, इसमें थोड़ी सी भी असावधानी

हो तो गड़बड़ हो जाता है। निश्चय सम्यग्दर्शन का काल अन्तर्मुहूर्त और व्यवहार में क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का काल ६६ सागर है।

गौ की वत्स के प्रति प्रीति सहज होती है और संसारी प्राणी को जैसे–पञ्चेन्द्रियों के विषयों के निमित्त पुत्र, स्वर्ण, स्त्री आदि से अकृत्रिम स्नेह होता है वैसे ही धर्मी के प्रति वात्सल्य होना चाहिए। निश्चय से वात्सल्य **''जो कुणदि वच्छलत्तं, तिण्हे साहूण मोक्ख मग्गम्मि।''**

व्यवहार से बड़े-बड़े विधान, दान, पूजा, तप आदि के द्वारा जैनधर्म की प्रभावना होती है तथा निश्चयनय से **''विज्जारहमारुढो, मणोरहरएसु हणदि जो चेदा'** विद्यारथ पर आरूढ़ होकर मन के वेग को रोकना यही जैनधर्म की प्रभावना है। केवल आत्मोन्मुखी चर्चा करने से वीतराग सम्यक्त्व नहीं होता है। चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक सराग सम्यक्त्व, सातवें से दशवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान की अपेक्षा वीतराग सम्यक्त्व माना जाता है और आगे के गुणस्थान मोह से रहित माने जाते हैं। **''द्विविध संग बिन शुद्ध उपयोगी, मुनि उत्तम निज ध्यानी''** ऐसा छहढालाकार ने कहा है। देशव्रती अनगारी को (पाँचवें-छठवें गुणस्थानवर्ती) मध्यम अन्तरात्मा में लिया है। दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित सातवें आदि गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी है। सकषायत्वात्, ईषत् कषायत्वात् और निष्कषायत्वात् ये तीन भेद शुद्धोपयोगी में कर सकते हैं। उपशम श्रेणी व क्षपक श्रेणी के समान सराग और वीतराग सम्यक्त्व में अन्तर समझना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान् के रूप में और मुनिलिंग में कोई भेद नहीं है। जब अप्रमत्त दशा में बैठ जाते हैं तो उन्हें जिनलिंग कहा जाता है और प्रमाद अवस्था में आ जाते हैं तो जैसे–कोई कितना भी रूपवान हो पर जब जंभाई लेता है तो रूप विकृत हो ही जाता है वैसा ही प्रमाद अवस्था में जिनलिंग है। अप्रमत्त अवस्था में इन्द्रियों का प्रयोग नहीं करते, पर अतीन्द्रिय नहीं माने जाते। कोई कहता है कि–रात में बोलने के लिए कहाँ मना किया है तो मैं पूछ रहा हूँ–दिन में बोलने के लिए कहाँ पर कहा है? गलत काम अतिमात्रा में न करें। जैसे–आप टेलीफोन पर नपा तुला बोलते हैं उसी प्रकार आवश्यक होने पर हित-मित-प्रिय बोलते हैं। नहीं बोलना पड़े तो और भी ठीक है। आत्मा की साधना का विकास प्रवृत्ति के समय नहीं हो सकता। पूरा मूलाचार कण्ठस्थ भी हो तो भी उससे आत्म विकास नहीं होगा, आचरण आवश्यक है।

भिक्खं चर वस रण्णे, थोवं जेमेहि मा बहू जम्प।
दुखं सह जिय णिद्दा, मेत्तिं भावेहिं सुट्ठु वेरग्गं ॥९८१॥

यह **मूलाचार** की गाथा है, इसमें श्रमण की पूरी चर्या आ गई यह यदि कर रहे हो तो निर्वाण समीप है। सराग सम्यक्त्व में तो देशव्रती, अनगारी दोनों को एक कोटि में लिया है। इस गाथा में लोट् लकार का प्रयोग किया है। भिक्षावृत्ति करो, वन में रहो, थोड़ा आहार करो, व्यर्थ मत बोलो, दुख को सहन करो, निद्रा को जीतो, सभी जीवों से मैत्री भाव रखो लौकिक सम्पर्क से दूर रहो। एक बार लौकिक सम्पर्क होने पर ऊपर नहीं उठ सकते उसे ही धर्म मानकर कर्त्तव्य मान लेते हैं उसी के पीछे

लग जाते हैं, यह ठीक नहीं है। जब नीचे प्रमत्त अवस्था में आते हैं और कोई कुछ पूछता है तो थोड़ा बहुत बता दीजिए। बहुत से लोग मुनि महाराज को घेरकर बैठ गए और वे उसमें घिरकर बैठ गये, उन्हें वो अच्छा मानने लगे तो समझ लो गये। ''**घिर गये तो गिर गये।**''

सासादन गुणस्थान वाला मरकर नरक नहीं जाता, यह नियम है क्योंकि वह मिथ्यादर्शन के उपशमन का काल है उस समय संक्लेश का अभाव होने के कारण वह नरक नहीं जाता है। तत्त्वार्थसूत्र की टीका, सर्वार्थसिद्धि की टीका में यह कहीं भी उल्लेख नहीं है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि और कृतकृत्य वेदक वाला ही भोगभूमि का मनुष्य और तिर्यञ्च होता है तथा प्रथम पृथ्वी एवं सौधर्म आदि स्वर्गों में जाता है। यहाँ से ये भाव निकल रहा है कि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि भी जा सकता है। यहाँ कृतकृत्य वेदक ही नहीं लिया औदारिक मिश्र के साथ क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि भी मिलता है। कुछ आचार्यों का कहना है कि–श्रेणी में मरण करने वाले द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि ऊपर के स्वर्गों में ही उत्पन्न होते हैं। महर्द्धिक का अर्थ महान् ऋद्धि के धारक सोलहवें स्वर्ग तक ले लेना चाहिए।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

संसयविमोहविब्भम विवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं च ॥४२॥

अर्थ–आत्मा तथा पर पदार्थों के स्वरूप को संशय, विमोह (अनध्यवसाय)और विभ्रम (विपर्यय) रहित जानना सम्यग्ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान साकार–आकार सहित सविकल्प–विकल्प सहित स्व–पर के स्वरूप का ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है और वह अनेक भेदों वाला है।

विमोह–विभ्रम जहाँ नहीं है संशय से जो दूर रहा।
निज को निज ही, पर को पर ही जान रहा, ना भूल रहा॥
समीचीन बस 'ज्ञान' वही है बहुविध हो साकार रहा।
मन वच तन से गुणीजनों का जिसके प्रति सत्कार रहा ॥४२॥

व्याख्या–अवग्रह के उपरान्त ईहा के पहले संशय होता है ऐसा अकलंकस्वामी ने कहा है। बीच का संशय है, वह पदार्थ सम्बन्धी है। जैसे–दर्शन हो गया तो उसे अवग्रह नहीं कहेंगे। 'अव' अर्थात् निश्चय से जो गृहीत पदार्थ हो जाता है वह अवग्रह है और ईहा अर्थात् इच्छा, जिज्ञासा। मनःपर्ययज्ञान ईहा मतिज्ञानपूर्वक होता है अर्थात् जिज्ञासा पूर्वक होता है। ''बलाका वा पताका वा'' दोनों में से किसी न किसी की सफेदी होनी चाहिए। यहाँ सफेदी का तो निर्णय है, पर किसकी सफेदी है यह निर्णय नहीं है और संशय में कुछ भी निर्णय नहीं है। अनिर्णीत ज्ञान है यह। विमोह अर्थात् अनध्यवसाय दिशाबोध नहीं होना, विमूढ़ हो जाना। पूर्वापर का ज्ञान नहीं होना यह विमोह। आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता ही है, यह सम्यक् एकान्त हो जायेगा। ज्ञान गुण की अपेक्षा आत्मा एकान्त से चेतन ही है और दर्शन (श्रद्धा) की अपेक्षा एकान्त से अचेतन ही है। जिस प्रकार नेगेटिव में बॉर्डर

मात्र होती है, वह निराकार अविकार होता है, उसी प्रकार का दर्शन होता है। तत्त्वार्थसूत्र में अंग बाह्य को अनेक भेद वाला कहा है, लेकिन यहाँ पर अंग बाह्य के चौदह भेद कहे हैं।

करणानुयोग में कर्म सिद्धान्त को ले लेते हैं जबकि ''लोकालोक विभक्ते...।'' ऐसा रत्नकरण्डक श्रावकाचार में कहा है। मूलाचार की टीका, पञ्चास्तिकाय की टीका में भी ऐसा आता है। करण का अर्थ–परिणाम भी है और गणित भी है। इसलिए त्रिलोकसार आदि भी करणानुयोग के अन्तर्गत आ जायेंगे। पारिणामिक भाव की अपेक्षा न बन्ध होता है न मोक्ष। त्रिलोकसार कहने से तीन लोक का वर्णन जिसमें है वह शास्त्र लेना। अनुयोग, अधिकार, प्रकरण कहो ये सब एकार्थवाची हैं। निश्चयनय से अपना शुद्धात्म तत्त्व, आत्म द्रव्य जीवास्तिकाय ही उपादेय है। कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है कि– प्रवचन भक्ति से प्रेरित होकर मैं यह ग्रन्थ लिख रहा हूँ। 'मैं' शब्द इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि आज शुभ क्रिया हेय बुद्धि से करने का उपदेश दिया जा रहा है। जिनवाणी के पठन–पाठन, जिनेन्द्र भक्ति आदि में हेय बुद्धि नहीं बल्कि इससे जो प्राप्त पुण्य है, उसमें हेय बुद्धि होनी चाहिए। जिनवाणी का पठन–पाठन तो आदर से भक्ति पूर्वक करना चाहिए। पुण्य के फल में हेय बुद्धि कहा है क्योंकि पुण्य के द्वारा वैभव मिलता है और वैभव से मद पैदा होता है, मद से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जिससे पाप बन्ध होता है और उससे नरकादि गति प्राप्त होती है इसलिए मुझे ऐसा पुण्य नहीं चाहिए ऐसा कहा है, इसका भाव यह है कि पुण्य की ओर दृष्टि न करो और न पुण्य के फल की ओर दृष्टि जाए मात्र पुण्य का कार्य करते जाओ। कार्य तो करिये पर पुण्य की ओर दृष्टि न जाए, यही तो परीक्षा है। इधर–उधर न देखिये। जो अज्ञानी होता है वह भटकावे में आ जाता है। जितने भी नारायण, प्रतिनारायण होते हैं वे सभी पूर्व भव में मुनि होते हैं पर विषय भोगाभिलाषा से निदान आदि कर लेते हैं। **यह जीव सब कुछ छोड़ सकता है किन्तु ख्याति, पूजा, लाभ, यश:कीर्ति को नहीं छोड़ सकता यही अन्तिम कमजोरी है** यह मन का विषय है। **अन्य की पीड़ा के बारे में सोचोगे तो अपायविचय धर्म्यध्यान होगा, इससे कर्म निर्जरा होगी और अपने परिवार के बारे में सोचोगे तो आर्त–रौद्रध्यान होगा, कर्मबन्ध होगा।** जाते–जाते भी परिवार के प्रति सोचते रहते हैं और स्वयं सूखते जाते हैं। किसी को एक पाई देने का भाव नहीं है किन्तु भण्डार भरा है किसके लिए? नाती के लिए यही तो अति है। मानलो–पड़ोसी जो शत्रु था वही नाती बन गया तो मोह के कारण सब कुछ करेगा। लोकरंजन न करते हुए धर्म साधना करते हुए जिसके प्रति राग है उन्हें भी धर्म के प्रति आकृष्ट करो। स्वर्ग की प्राप्ति के लिए तप करना वह तप नहीं है किन्तु ध्यान के माध्यम से यदि स्वर्ग मिल भी जाए तो एक–दो भव में मुक्ति का कारण बन जाए। ज्ञान साकार सविकल्प होता है, उसे निर्विकल्प कैसे बनाए? अपने आपका संवेदन विकल्प से रहित करना इसी को निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं। संकल्प–विकल्प छोड़ देंगे तो ज्ञान भी लगभग निराकार दर्शनवत् बन जायेगा। स्मरण, स्मृति दो प्रकार की है–एक स्मरण करना, दूसरा स्मरण में आ जाना। स्मरण में लाना, दिमाग लगाना वह

संकल्प, विकल्प है और अपने आप ज्ञान में जो कर्म उदय से स्मरण में आ रहा है, जा रहा है उसको देखो। यह निर्विकल्प/निराकारता है। इसलिए निर्विकल्प में नोकर्म व बाह्य विषयों को छोड़ने के उपरान्त कोई पुरुषार्थ नहीं करना है, मात्र राग नहीं होना चाहिए विषय कोई याद न करे, पदार्थ दिखने से स्मृति आती है तो आने दो। किसी पदार्थ के ऊपर रुकने से विकल्प होता है सहजता नहीं रह पाती है। स्मरण मत करो, आ जाए तो आने दो। पदार्थ स्मरण में नहीं आता। पदार्थ का उपभोग स्मरण में आता है। **भगवान् की भक्ति, बड़े बाबा के दर्शन कई बार किए, फिर भी सपने में क्यों नहीं दिखते? यह रुचि की कमी है।** ज्ञान की परिणति हेय नहीं है। हेय-उपादेय को हटाकर ज्ञेयभूत पदार्थ में उपयोग को टिका देना सही पुरुषार्थ है। अध्यात्म ग्रन्थों में ध्यान के साथ-साथ समाधि पर अधिक बल दिया जाता है। **स्मरण आना गलत नहीं है किन्तु स्मरण में लाना गलत है।** ज्ञान को जितना निर्विकल्प बनाओगे उतनी ही मोक्ष पुरुषार्थ की सार्थकता है। बौद्धमत में ज्ञान को निर्विकल्प माना है किन्तु वह विकल्प को जानने वाला है ऐसा मानते हैं परन्तु जैनमत में शुरुआत में ही सविकल्प और स्व पर प्रकाशक माना है। निर्विकल्प में अबन्धक, सविकल्प में बन्धक होता है। ज्ञान को ज्ञान का विषय बनाओगे तो निर्विकल्प होगा और ज्ञेयभूत पदार्थ की ओर जाने वाला ज्ञान सविकल्प ही होगा। हेय रोग रूप है, उपादेय स्वस्थता है। यम, नियम, प्राणायाम, ध्यान आदि योग के आठ भेद बताये हैं। ध्यान में पुरुषार्थ मुख्य होता है। एक पर टिकने के उपरान्त जो संवेदन होता है वह समाधि है। इसलिए समाधि को अन्त में कहा है। ऊर्ध्वमुखी या अन्तर्मुखी ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान को जब कोई आयाम नहीं करना होता है तब वह निर्विकल्प निश्चय अवस्था मानी जाती है। ज्ञान को निर्विकल्प निराकार बनाना ही मोक्ष पुरुषार्थ है। गृहस्थावस्था में भी यह अभ्यास कर सकते हैं। ज्ञान सविकल्प होते हुए भी कथञ्चित् निर्विकल्प है, दर्शन हमेशा निर्विकल्प है। ज्ञान का विकास चाहते हो तो उसे निर्विकल्प बनाओ। ज्ञान के विषय को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता, जितना ज्ञान को महत्त्व दिया जाता है। ज्ञान को ज्ञेय की ओर ले जायेंगे तो सविकल्प होगा। **अपने में जो टिक नहीं पा रहा है, वही पर पदार्थ का आधार लेता है।** तीन प्रकार के पदार्थ संसार में होते हैं—ज्ञेय, हेय और उपादेय। हेय-रोग, उपादेय-स्वास्थ्य, ज्ञेय अर्थात् स्वास्थ्य की ओर जाने के लिए अवलम्बन। द्रव्यश्रुतकेवली वर्षों बने रहे किन्तु मुक्ति नहीं हो सकती। भावश्रुतकेवली हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त हो जाते हैं। भावश्रुतकेवली निज को शुद्धोपयोग में लगा देते हैं। समयसार में वीतराग स्वसंवेदन कहा है, क्योंकि रागादि सहित संवेदन जो होता है, वह अज्ञान की कोटि में आता है और सविकल्प है। बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक की अपेक्षा सविकल्प निर्विकल्प यहाँ पर ठंडाई के समान लिया है। उसी प्रकार मुख्य सविकल्प और गौण निर्विकल्प होता है। ध्यान में ज्ञान नहीं होता ऐसा नहीं। हाँ, ध्यान में अनेकों का ज्ञान नहीं, एक का ज्ञान होता है। व्यग्रता नहीं होती इसलिए एक पर अग्र होता है। **''उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्''** बारहवें गुणस्थान में

ज्ञान क्षायोपशमिक है, सम्यग्दर्शन क्षायिक है, चारित्र भी क्षायिक है। शुद्धोपयोग को एकान्त से क्षायिक नहीं मान सकते। ज्ञान के एकाग्र हो जाने पर इसे शुद्धोपयोग या यथाख्यात चारित्र कहते हैं। अकेला आत्मा ही आत्मा का सही निवास है। ध्यान में जाने के उपरान्त ग्राम, अरण्य का विकल्प नहीं होता है। आत्मा को आत्मा का जब आश्रय मिलता है तो शरीराश्रित आसन का ध्यान नहीं रहता है। मैं कहाँ, किस आसन में बैठा हूँ, यही आसन सिद्धि है। यह आसन सिद्धि भी उन्हीं को होती है जिन्हें अशन (भोजन) सिद्ध है। अशन सिद्धि या आहार सिद्धि अर्थात् वेतन देकर शरीर को चलाने की कला जिसे आ गई हो वे ही मोक्षमार्ग में चल सकते हैं। जो वीतराग हो जाता है, उसको बहुत जल्दी आसन सिद्ध हो जाता है। अशन की ओर दृष्टि है तो भी सिद्धि नहीं होती। धीरे-धीरे दिगम्बर परम्परा में भी आसन की परम्परा समाप्त होती चली जा रही है। **केवल रीढ़ की हड्डी को सीधा करने से ध्यान नहीं होता और केवल भीड़ को इकट्ठा करने से भी ध्यान नहीं होता।** काष्ठ के समान ध्याता का शरीर हो जाता है। आसन कोई भी हो सकता है-पद्मासन, सुखासन आदि प्रशस्त आसन माने जाते हैं। सविकल्प होते हुए भी बाहरी विषयों में उपयोग न होने से निर्विकल्प कहा है। नासादृष्टि से अगर बैठ जाए तो कुछ भी नहीं दिखता है यह अनीहित वृत्ति है। मिलना और मिलाने में अन्तर है। जैसे-विहार करके आ रहे हैं, दो कलश भरे लिए आ रहे हैं, यह संयोग मिल गया और मंगल कलश सबको एक -एक देकर मांगलिक दृश्य बनाना यह मिलाना है शुभ की पूर्ति करना है। बाजा बजाने से मात्र मंगल नहीं अगर हाथ से ताली भी बजती है तो मांगलिक है। इसी प्रकार अनीहित वृत्ति और ईहित वृत्ति में अन्तर है। बारहवें गुणस्थान तक विचारों की संक्रांति होती रहती है। ध्यान में टेंशन नहीं होता यदि है तो वह ध्यान नहीं है। कृत्रिम आवाज से बाधा होती है प्राकृतिक आवाज से नहीं। जैसे-लंदन से किसी का फोन आया और बाहर बहुत कोलाहल है, किन्तु उस आवाज को गौण कर देते हैं और लंदन से जो आवाज आ रही है वह सुन लेते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि आवाज के द्वारा बाधा होती है, यह केवल मान्यता है। कोलाहल से सिरदर्द हो जाता है और मतलब की बात सुनने में मन लगा रहता है उसमें सिरदर्द नहीं होता है। आवाज तो कभी मिटने वाली नहीं है, उस ओर उपयोग मत ले जाओ। ''**यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम्**'' जो व्यक्ति जहाँ रहता है, वह वहीं रम जाता है अन्यत्र नहीं जाना चाहता है। आगरा वाले आगरा बुलाते हैं आगरा वाले आग्रह मत करिये, अजमेर वाले अर्जी मत करिए, देहली वाले देहाती नहीं हैं और देहात वाले दिल्ली में रहना पसन्द नहीं करते, देहात में ही रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा में रहने वाले को प्रथम भूमिका में विकल्प हो सकते हैं किन्तु बाद में नहीं। बाद में तो परीषह उपसर्ग भी आ जाए तो चलायमान नहीं होते, निज में ही रत रहते हैं पर आज तो दूसरी प्रतिमा के व्रत भी सही ढंग से पालन नहीं कर पा रहे हैं। जैसे-प्रोषधोपवास आता है उसमें-''**स्नानाञ्जन-नस्याना, मुपवासे-परि-हृतिं कुर्यात्**'' पर्व के दिन में वह अंजन, मंजन, मनोरंजन, अशन, स्नान का त्याग करता है ऐसा कहा

है, लेकिन आज बिना स्नान के और दर्पण में मुख देखे बिना रह नहीं सकता। यदि पूजन के लिए स्नान आवश्यक है तो कर लो, एक आसन से बैठ जाओ लेकिन आज इस ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती। उपवास के दिन भी कूटन, पीसन, लेखन आदि चलता रहता है। मतलब का त्याग करना, त्याग नहीं माना जाता है। शिक्षाव्रत से मुनि बनने की शिक्षा मिलती है। आज प्रोषधोपवास और प्रोषध प्रतिमा में कोई अन्तर नहीं रहा है। परिग्रह त्याग और परिग्रह प्रमाण में भी बहुत अन्तर है।

दर्शनोपयोग का लक्षण

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु-मायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥४३॥

अर्थ—जो भावों-पदार्थों को अविशेष-सामान्य रूप से तथा आकार-विकल्प रूप ग्रहण न करके पदार्थों को सत्तावलोकन रूप से ग्रहण करता है, वह समय-आगम में दर्शन कहा गया है।

दृश्य रही कुछ अदृश्य भी है लघु कुछ, गुरु कुछ 'वस्तु' रही।
इसी तरह बस तरह-तरह की स्वभाववाली अस्तु सही॥
'दर्शन' तो सामान्य मात्र को विषय बनाता अपना है।
विषय भेद तो 'ज्ञान' कराता जिनमत का यह जपना है ॥४३॥

व्याख्या—यहाँ पर **'जं सामण्णं'** को लिया है **'आत्मानं'** नहीं लिया अर्थात् जितने भी पदार्थ है, उनको सामान्य से ग्रहण करना दर्शन का काम है।

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बध्यते न विमुच्यते ॥४४॥ (इष्टोपदेश)

पदार्थ को देख रहा है लेकिन विशेषता को नहीं जान रहा केवल सामान्य को जान रहा यह वस्तु का स्वरूप हमारे सामने है, ऐसी स्थिति में बन्ध नहीं होता। वस्तु को देखते हुए सामान्य को ग्रहण कर रहा है। **'आत्मानं'** नहीं कहा **'भावाणं'** बहुवचन कहा है। सभी पदार्थों के सामान्य को ग्रहण करने वाला है। जैसे—भिन्न-भिन्न वृक्ष पर भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के भिन्न-भिन्न आम लगे हैं। किसी ने पूछा-यह क्या है? यह आम है। आपकी दृष्टि में वैरायटी न आ करके यह आम है। हरा-पीला, छोटा-बड़ा, सुगन्ध-दुर्गन्ध की विशेषता के बिना सामान्य को ग्रहण करना ये श्रद्धान के माध्यम से होता है। जैसे—मुद्रा में दो पहलू होते हैं-एक तरफ सन् और दूसरी तरफ मुद्रा, उसी प्रकार हर वस्तु में दो विषय होते हैं, एक सामान्य दूसरा विशेष। अभेद को सामान्य और भेद को विशेष अथवा सामान्य त्रैकालिक, विशेष कथञ्चित् तात्कालिक होता है।

सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में आ जाता है, सम्यग्ज्ञान भी किन्तु दर्शन रत्नत्रय में नहीं आता है। दर्शन एकाग्रता में कारण नहीं होता है, इसलिए रत्नत्रय की कोटि में नहीं लिया। ज्ञान एकाग्रता में कारण

है। यदि दर्शन अकेला होता तो संसार नहीं बसता। ज्ञान साथ में होने से ही यह संसार बसता है। पदार्थों का सामान्य ग्रहण करना अर्थात् काला–पीला, त्रिकोण–चतुष्कोण का विकल्प किये बिना जो पदार्थ का सामान्य ग्रहण होता है वह दर्शन है। जो समान रूप से होता है अथवा समानता जहाँ है, वह सामान्य। एक में समानता नहीं होती है, समूह में होती है। सामान्य कहने से केवल आत्म ग्रहण की बात न तो **कुन्दकुन्दस्वामी** ने की है, न ही **नेमिचन्द्र स्वामी** ने की। **वीरसेनस्वामी** ने **श्री धवला** में आत्मग्रहण की बात की है। सामान्य का अर्थ आत्मा का ग्रहण कर लेते हैं तो गाथा का गला घोंटना है, यह विषय हम **ज्ञानसागरजी महाराज** जी से पढ़ रहे थे तो हमें हँसी आ गई। उसी समय कोई दर्शन करने आया तो वह कहता है–महाराज अकेले ही हँस रहे हैं तो मुझे और हँसी आ गई कि गाथा का गला भी घोंटा जाता है। इसमें जैसा उल्लेख है, वैसा ही धारण करना चाहिए। जिसे गहन स्वाध्याय की भावना है, उन्हें यह विषय भी कभी–कभी देख लेना चाहिए। जल्दी से निर्णय नहीं लेना चाहिए। कोई भी विषय को एक बार नहीं बार–बार पढ़ें क्योंकि एक बार पढ़ने में विषय हाथ में ही नहीं आता है। **नियमसार** में **कुन्दकुन्दस्वामी** ने कहा है–निश्चय से आत्मा को जानते हैं इसलिए केवली आत्मज्ञ हैं और व्यवहार से सबको जानते हैं इसलिए सर्वज्ञ हैं। ज्ञान दर्शन तो गुण हैं और इसका प्रयोग करने वाला आत्मा है। गुण आत्मा नहीं है, ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला आत्मा है। नियमसार में कहा है–ज्ञान व दर्शन निश्चय से स्व को ग्रहण करते हैं तथा व्यवहार से पर को ग्रहण करते हैं। '**अविसेसदूण**' यह शुक्ल है, कहने से कृष्ण का निषेध है जहाँ विधि है वहाँ निषेध अवश्य होता है और ये दोनों जिसके गर्भ में रहते हैं, उसका नाम सामान्य है। नैगमनय संकल्प मात्र ग्राही है, नैगम के उपरान्त जो भी चीजें हैं उनका संग्रह संग्रहनय से कर लिया फिर व्यवहार से भेद करो, किन्तु नय ज्ञान विशेष व भेद की बात दर्शन नहीं करता। नयों को सही तरह से स्पष्ट करना, अनेकान्त का वर्णन करना असिधारवत् है। सामान्य सत्ता अवलोकन होता है। "**अवलोकन इति अवलोकः**" अवलोकन शब्द व्यवहार में ज्ञान के लिए प्रयोग में लाते हैं। सत्ता का अर्थ अस्तित्व होता है। अवलोकन का अर्थ दर्शन होता है। सत् का भाव सत्ता। द्रव्य पर्याय तथा गुण तीनों का पृथक्–पृथक् अस्तित्व है, किन्तु तीनों की समष्टि रूप सत्ता का अवलोकन होता है। सत्ता, महासत्ता, द्रव्य, गुण, पर्याय में है, उसे उस रूप में जानता है। महासत्ता को दर्शन रूप और अवान्तर सत्ता को ज्ञान रूप कह सकते हैं। श्रद्धान रूप परिणमन सम्यग्दर्शन, ज्ञान रूप परिणमन सम्यग्ज्ञान और रागादि का त्याग रूप परिणमन सम्यक्चारित्र है ऐसा **अमृतचन्द्रस्वामी** ने **समयसार** की टीका में कहा है। संवेदन शक्ति ज्ञान–दर्शन इन दो गुणों के पास है। जैसे–एक ही चश्मे में दूर का और पास का दोनों का काम होता है। उसी प्रकार बाहरी विषयों का जानना ज्ञान है और आत्मा का ज्ञान, दर्शन है।

संसारी मुक्त जीवों के उपयोग में अन्तर

दंसण-पुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥

अर्थ—छद्मस्थ जीवों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि इनके दोनों उपयोग–ज्ञान और दर्शन एक साथ नहीं होते। केवलिणाहे–भगवान् के ज्ञान और दर्शन दोनों साथ–साथ होते हैं।

पूर्ण-ज्ञान वह जिन्हें प्राप्त ना उन्हें प्रथम तो दर्शन हो।
बाद-ज्ञान उपयोग नहीं दो एक-साथ, कब दर्शन हो?
पूर्ण - ज्ञान से पूर्ण - सुशोभित केवलज्ञानी बने हुए।
एक साथ उपयोग धरे दो अन्तर्यामी बने हुए ॥४४॥

व्याख्या—विषय–विषयी सन्निपात सर्वप्रथम होता है, इसे ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध कहते हैं, फिर ज्ञान होता है। जैसे–फोटो लेने के पूर्व जो सेट किया जाता है वह दर्शन है और बटन दबाया वह ज्ञान है। मन से जो उत्पन्न हुआ वह मनोविज्ञान, इन्द्रियों से जो उत्पन्न हुआ वह इन्द्रियज्ञान। नो इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही प्राप्त होता है। यहाँ इन्द्रियों का व्यापार नहीं होता केवल उपयोग का व्यापार होता है। अनिन्द्रिय मन भी ज्ञान का साधन है। दर्शन के लिए साधन की आवश्यकता नहीं। विचार भी मन से होता है यह दर्शन नहीं है दर्शन में विचार नहीं इसलिए दर्शन में विकार भी नहीं होता है। वर्तमान युग आगे जाने को विकास मानता है और संस्कृति कहती है कि आगे जाने में विकास अवरुद्ध होता है, पीछे अन्दर आइये रिवर्स में गाड़ी ले आइये। जब गाड़ी रिवर्स होती है तो काँच में देखता रहता है और कंडेक्टर आने दो–आने दो कहता है तथा ड्राइवर धीरे–धीरे वापस पीछे करता है। इसलिए रफ्तार आगे नहीं बढ़ाइये। दर्शन का दर्शन होना बहुत दुर्लभ है। वह ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकता। जब रिवर्स में गाड़ी होती है तो गेयर नहीं होता है धीरे–धीरे चलती है, उसी प्रकार मतिज्ञान को रिवर्स में ले जाएँ, अनुमान, तर्क, प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, धारणा, अवाय, ईहा फिर अवग्रह इस प्रकार रिवर्स में आ जाए। अन्धकार में स्वयं कहाँ बैठे हैं यह ज्ञात नहीं रहता, पर अन्धकार में शान्ति रहती है। सम्यग्ज्ञानी को अन्धकार में भी आनन्द आता है, नेत्र व्यापार शान्त हो जाता है, प्रकाश में बाह्य में देखते हैं तो पदार्थ का ज्ञान कैसा है क्या है यह आयाम प्रारम्भ हो जाता है और भीतर देखते हैं तो आत्मा का ही विषय होने से शान्त हो जाते हैं। सिद्धान्त ग्रन्थों में अवधिदर्शन को सम्यग्दर्शन के साथ माना है। दर्शन कभी मिथ्या नहीं होता है। दर्शन हमेशा–हमेशा निर्विकार, निराकार होता है। वह 'कु' या 'सु' रूप नहीं होता है। लिंगज श्रुतज्ञान हेतुपूर्वक होता है। जैसे–धुँए से अग्नि का ज्ञान होना ''**साधनात् साध्य विज्ञानं, अविनाभाव सम्बन्धः।**'' हमारा सही–सही स्वभाव प्रकट नहीं होने देता इसलिए छद्म है। छद्म अर्थात् ज्ञानावरण–दर्शनावरण में जो रहे वह छद्मस्थ है। छद्म का अर्थ माया भी होता है। कहीं–कहीं पर मिश्र दशा में भी अवधिदर्शन लिखा

है। तृतीय गुणस्थान में भाव विवक्षा में क्षयोपशम भाव माना है इसलिए उसके साथ अवधिदर्शन सम्भव है। इसमें कोई बाधा नहीं है फिर भी इसके बारे में आगम में कुछ नहीं लिखा है तो हम भी कुछ नहीं कह सकते हैं। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि बाहरी पदार्थ का ज्ञान ही नहीं अपितु दर्शन भी होता है। यहाँ पर बहिर्विषय को विषय बनाना ज्ञान का काम कहा है और आत्म पुरुषार्थ करने का नाम दर्शन है। सर्वार्थसिद्धि में आया है–**विषय-विषयी सन्निपात दर्शनं तदनंतर अवग्रह ज्ञानं।** तदनन्तर से दर्शनपूर्वक ही ज्ञान लेना। ज्ञान डायरेक्ट नहीं देखता। रिफ्लेक्टेड को रिफ्लेक्शन के रूप में देखता है। यह पूरा प्रसंग श्री धवला में आया है। प्रमाण में कोई आकार नहीं होता है, आकार बना देता है। दर्पण का आकार नहीं किन्तु दर्पण में आकार है। सर्वोदय शतक में आया है –

प्रमाण का आकार ना, प्रमाण में आकार।
प्रकाश का आकार ना, प्रकाश में आकार ॥७॥

आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति–आत्मा कहने से जीव तत्त्व की ओर ही न देखें यह 'जड़ात्मा, पुण्यात्मा, परमात्मा, पापात्मा आदि-आदि भी है, इस प्रकार ''**अतति, व्याप्नोति, प्राप्नोति गच्छति सञ्चेतयते इति वा आत्मा**'' अपने-अपने गुण पर्यायों द्वारा परिणमन करता है, व्याप्त होता है, प्राप्त होता है, ऐसा जीवात्मा ही आत्मा है। सत्तावलोकन दर्शन और तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप जो दर्शन है, उसमें अन्तर है, इस गाथा में सम्यग्दर्शन की बात नहीं है, दर्शन की बात है जो कि निर्विकल्प होता है। एकान्त से शुद्धोपयोग को श्रुतज्ञानात्मक नहीं मान सकते। जिस समय दर्शनोपयोग होगा उस समय रत्नत्रय भी रहेगा और ध्यान भी। उपयोग तो दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में से कोई भी हो सकता है। श्रीजयधवल में आया है–बारहवें गुणस्थान में चक्षु दर्शनोपयोग के माध्यम से भी केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है। क्षयोपशम भाव होने से इनमें परिवर्तन होता रहता है। जिस समय दर्शनोपयोग है, उस समय ज्ञानोपयोग नहीं होता है। शुद्धोपयोग श्रुतज्ञानात्मक ही होता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, शुक्लध्यान प्रारम्भ होने के उपरान्त उपयोग में परिवर्तन हो सकता है लेकिन दूसरे शुक्लध्यान में ज्ञेय में परिवर्तन नहीं है। ''**अवीचारं द्वितीयम्**'' व्यञ्जन में, योग में परिवर्तन नहीं हो सकता किन्तु उपयोग में तो परिवर्तन हो सकता है। शुक्लध्यान में दर्शनोपयोग से ज्ञानोपयोग में परिवर्तन हो सकता है। संक्रांति अर्थात् परिवर्तन। शुरुआत भले ही न होती हो पर निष्ठापन हो सकता है। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। उसी प्रकार मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है लेकिन मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य ऐसा नहीं, दोनों का कारण, विषय और क्षयोपशम अलग-अलग है। लेकिन दर्शन के बिना ज्ञान नहीं। जैसे–नेगेटिव पूर्वक पॉजेटिव होता है वैसे ही दर्शन नेगेटिव रूप और ज्ञान पॉजेटिव रूप होता है। उसमें भी जब नेगेटिव है तब पॉजेटिव नहीं होता है। दोनों का विषय, योग्यता आदि भिन्न-भिन्न हैं। केवलज्ञानी को दोनों एक साथ ज्ञान और दर्शन होते हैं उनका वह कार्य प्रेस के समान होता है। जो ज्ञान के क्षयोपशम को ढक देता है वह ज्ञानावरण और जो सम्यक् ज्ञान विशेष को ढक

देता है, वह मिथ्यात्व है।

आत्मानुभूति ही मोक्षमार्ग है। आत्मा ज्ञानी हो सकता है किन्तु ज्ञान कभी ज्ञानी नहीं हो सकता। शक्ति को काम में लाने वाला आत्मा है। कभी भी लेखनी को लेखक नहीं कहा जा सकता। लिखने वाला लेखक होता है। लेखनी के बिना लिख नहीं सकता तो लेखनी शक्ति है और लेखक उसका उपयोग करने वाला है। उसी प्रकार ज्ञान कभी ज्ञायक नहीं हो सकता है। अभेद नय अपेक्षा से आत्मा में प्रमाणपना है।

व्यवहार चारित्र का स्वरूप व भेद

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्ति-रूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभ कार्य से निवृत्ति होना, शुभ कार्य में प्रवृत्ति होना चारित्र है और वह चारित्र व्यवहारनय से व्रत, समिति और गुप्ति रूप होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

अशुभ -भावमय पाप-वृत्ति को मन-वच-तन से जो तजना।
शुभ में प्रवृत्ति करना समुचित 'चारित' है मन रे भजना॥
यह 'चारित्रव्यवहार' कहाता समिति-गुप्ति व्रत वाला है।
इस विध जिनशासन है गाता सुधा-सुपूरित प्याला है ॥४५॥

व्याख्या—स्व शुद्धात्म रूप शुद्धोपयोग ही वीतराग चारित्र है। प्राप्ति की अपेक्षा सराग चारित्र पहले होता है। यह परम्परा से मुक्ति का कारण है। व्रत, समिति, गुप्ति आदि भी परम्परा से मुक्ति के कारण हैं, क्योंकि बन्ध सहित संवर-निर्जरा के कारण होते हैं। निरास्त्रव जो संवर-निर्जरा होती है वह साक्षात् मुक्ति का कारण है। संसार, शरीर और भोगों से जो सुख मिलता है, वह दुख का कारण है उनके प्रति हेय बुद्धि होती है न कि देव, शास्त्र, गुरु के प्रति हेय बुद्धि होती है, सम्यग्दर्शन धारण के बाद ही दर्शन प्रतिमा आती है। पाक्षिक शब्द में 'इकण्' प्रत्यय लगता है। ग्यारहवीं प्रतिमा वाला निमन्त्रण, आमन्त्रण दोनों से रहित आहारचर्या को जाता है न बुलऊया न चलऊया। जिससे परिग्रह का उत्पादन होता है, वह आरम्भ है। जिसके उद्दिष्ट का त्याग नहीं है ऐसे अष्टम प्रतिमा वाले को वाहन का त्याग हो जाता है क्योंकि आज के वाहनों से हिंसा बच ही नहीं सकती।

श्रावक अर्थात् शास्त्र श्रवण कर्त्ता, विवेक और क्रियावान, ये गुण होने पर भी श्रावक को स्वाध्याय के लिए ऊँचे सिंहासन पर नहीं बिठाना चाहिए। अशुभ से निवृत्ति व शुभ में प्रवृत्ति रूप चारित्र सराग चारित्र होता है। इसके उपरान्त वीतराग चारित्र होता है। अशुभ के बाद शुभ में आना आवश्यक है। जैसे—गन्ना जब लगाया जाता है तो प्रथम भूमिका में वह गन्ना गुड़ बनाने लायक नहीं होता और खाने से भी सर्दी-जुकाम हो जाता है उसमें वो मिठास नहीं होती है, उसी प्रकार एकदेश

चारित्र होता है। फिर कुछ समय उपरान्त वह गन्ना गुड़ लायक हो जाता है। गन्ने की कटाई बारह महीने के बाद होती है। कोई दो-तीन महीने में काटे तो उसमें पानी की मात्रा ज्यादा होती है। ११-१२ महीने के उपरान्त भी उसे काटने पर उसे पहले सुखाओ फिर वह गन्ना गुड़ लायक होता है। उसी प्रकार ११ प्रतिमाओं को पार कर, सराग चारित्र को पार कर ही वीतराग चारित्र प्राप्त होगा। चरणानुयोग अपेक्षा संयम लिया जाता है और द्रव्यानुयोग अपेक्षा संयम लब्धिस्थान घटित होते हैं। संयम लब्धि उसे ही प्राप्त होगी जो पञ्चम गुणस्थान से ऊपर उठ चुके हैं। १२ तपों के अन्तर्गत ध्यान को लिया है और ध्यान के उपरान्त समाधि को लिया है अभेद रत्नत्रय में समाधि होती है। **जैसे-भावनाएँ ध्यान की कोटि में नहीं आतीं, उसी प्रकार ध्यान भी समाधि की कोटि में नहीं आता। आगम भाषा में जिसे ध्यान कहते हैं उसे ही अध्यात्म भाषा में गुप्ति कहते हैं।** ११ वें गुणस्थान में भले ही प्रथम एवं द्वितीय शुक्लध्यान है तो भी उससे केवलज्ञान नहीं होगा। द्वितीय शुक्लध्यान में ध्यान तो है लेकिन अवीचार है। **वीरसेनस्वामी** ने कहा है-तीसरा शुक्लध्यान अप्रतिपाती है इसलिए पहले के दो ध्यान प्रतिपाती हो सकते हैं। समता और शमन में बहुत अन्तर है। शमन करना पुरुषार्थपूर्वक होता है। समता में पुरुषार्थ का फल है। बारहवें गुणस्थान में जो द्वितीय शुक्लध्यान है वह निर्विकल्प समाधि का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार ११ वें गुणस्थान की अपेक्षा ८ वें में क्षपकश्रेणी के साथ धर्म्यध्यान है। वह ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसलिए द्वितीय शुक्लध्यान से महत्त्वपूर्ण धर्म्यध्यान है। ''**मोहक्खय धम्मज्झाणस्स फलं**'' कहा है। ध्यान में समाधि का उपसंहार नहीं तप में समाधि का उपसंहार है। जैसे-किसी ने कहा-पैर धोकर आओ यह हो गया पाप का त्याग। अब पाटे पर थाली, लोटा, कटोरी आदि सब लेकर बैठें तो उपादान और जब खाना प्रारम्भ कर लिया तब पाटा, थाली, कटोरी नहीं दिख रही मात्र हलुवा दिख रहा है यह हो गया उपेक्षा। अब कोई इसी में डिग जाए कि इनको बड़ी हमें छोटी कटोरी दी, हमारा पाटा अच्छा नहीं है। इत्यादि तो यह उपेक्षा संयम को ग्रहण नहीं कर पायेगा। कर्मों की विशेष निर्जरा नहीं होगी अर्थात् व्रतों में ही लगे रहते हैं। व्रतों को जीवनपर्यन्त के लिए लिया है, अब उससे ऊपर उठो, उपेक्षा को अपनाइये। जो साधक उपेक्षा संयम तक नहीं पहुँचता उसकी सविकल्प दशा में उतनी निर्जरा नहीं होती है। उपेक्षा का अर्थ अनादर नहीं है अपितु पक्षपात नहीं होना ही उपेक्षा है। गुणों के प्रति पक्ष लेना यह प्रमोद गुण माना गया है। पक्ष लेना यह सम्यग्दृष्टि का मुख्य अंग बन जाता है। थाली, पाटा, बर्तन और व्यञ्जनों को गौण कर दो। साधना को मुख्य कर लो। इस प्रकार मुख्य गौण से ही मोक्षमार्ग में असंख्यात गुणी निर्जरा होती जायेगी। तीन लोक में सबसे बड़ी दुकान मुनि महाराजों के पास है, उनके पास जो ग्राहक आते हैं, उनको मालामाल कर देते हैं और स्वयं भी मालामाल हो जाते हैं। परोसने वाले के पास भी कला रहती है वही चीज परोसी जाती है, जिससे भूख बढ़े। यदि चीज का समय पर उपयोग नहीं होता है तो बनाने वाले को दुख होता है। यह श्रावक का विषय है किन्तु श्रमण के लिए ध्यान से ज्यादा समाधि

महत्त्वपूर्ण है। कषाय करना और कषाय होने में बहुत अन्तर है।

जिस किसी पुस्तक को पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग का अर्थ हमेशा पढ़ना ऐसा नहीं है, किन्तु योग्य को पढ़ना है।"**स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः**" जहाँ निज आत्म-तत्त्व पुष्ट होता है विकसित होता है, ऐसे शास्त्र का पठन स्वाध्याय माना जाता है। द्रव्य सात हैं, जीवादि छह द्रव्य और एक आत्म द्रव्य। इस आत्म द्रव्य की तो आज उपेक्षा हो रही है।७ तत्त्वों को जब तक गौण नहीं करेंगे तब तक आत्म तत्त्व नहीं दिखेगा। आत्म द्रव्य, आत्म तत्त्व, स्व-जीवास्तिकाय व आत्म पदार्थ ही मुख्य होना चाहिए। अपना लक्ष्य आत्म द्रव्य पर रखने से, अभेद को विषय बनाने पर सराग चारित्र से ऊपर उठकर वीतराग चारित्र प्राप्त कर सकते हैं। टॉप में हमेशा गाड़ी क्यों नहीं रहती ? क्योंकि उसमें रफ्तार तेज होती है। एकाग्रता की आवश्यकता है लेकिन वह हमेशा नहीं हो पाती है। एकाध मिनट को टॉप में रहती है फिर नीचे आ जाती है। एक व्यक्ति ने सुनाया था– हम ऐसी गाड़ी में बैठे थे जिसमें हार्न के अलावा सब बजता था और ब्रेक के अलावा सब कुछ था। (हँसी) ऐसी गाड़ी में बैठोगे तो क्या होगा? अतः मोक्षमार्ग में हार्न, ब्रेक, पेट्रोल सब ठीक रखिये और सावधान भी रहिये तभी शुद्धोपयोग का आनन्द आयेगा। **ज्यादा भी नहीं कम भी नहीं अनुपात से हर कार्य होना चाहिए।** ध्यान के बिना समाधि नहीं, ध्यान से समाधि में गाढ़ता आती है। उपेक्षा अर्थात् कुछ ग्रहण नहीं करते और त्याग भी नहीं करते इसी का नाम समयसार है।"**निकट रूपेण इक्षितं इति उपेक्षा**" निकट रूप से आत्म दर्शन होना उपेक्षा है। केवली भगवान् हमेशा उपेक्षा रखते हैं। उपेक्षा में ज्यादा समय व्यतीत करना चाहिए। इसलिए कभी-कभी उपकरणों का भी व्युत्सर्ग करना चाहिए। जितने समय तक प्रतिमा योग धारण करके बैठो उतने समय पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि सबकी उपेक्षा कर दो। जो गाड़ी रुक-रुक कर न जाए उसमें बैठना सब पसन्द करते हैं। अगर ध्यान नहीं है तो समाधि नहीं हो सकती। जैसे–दुकान कार्नर पर खरीद ली क्योंकि कार्नर पर दुकान अच्छी चलती है, सामग्री भी अच्छी है, सब कुछ है पर ध्यान नहीं दिया तो दिवाला निकल जायेगा। बाहरी चीजों का त्याग व्यवहारनय से और भीतरी चीजों (राग) का त्याग भी अशुद्ध निश्चय नय से होता है। हमने यह त्याग किया, वो त्याग किया ये याद न करें। इसमें भी उपेक्षा होना चाहिए। समता ही ऐसा सूत्र है, जिसके द्वारा मुनि दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को प्राप्त कर सकते हैं।

निश्चय चारित्र का स्वरूप

बहिरब्भंतर-किरिया रोहो भव-कारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्म-चारित्तं ॥४६॥

अर्थ–भवकारण–संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए ज्ञानी के जो बाह्य और अन्तरंग क्रियाओं का निरोध है। वह जिन वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कहा गया परम उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र है।

बाहर की भी भीतर की भी क्रिया मात्र को बंद किया।
भव के कारण पूर्ण मिटाने यही मात्र सौगंध लिया॥
उस ज्ञानी का जीवन ही वह रहा परम शुचि चारित है।
जिनवाणी का यही बताना मुनीश्वरों से धारित है ॥४६॥

व्याख्या–संसार के कारणों को समाप्त करने के लिये बाह्य–अभ्यन्तर क्रियाओं को सर्वप्रथम अलग करना पड़ता है। होश बना रहे और यह क्रिया रुक जाए तब निश्चय चारित्र कहा जाता है। वह किसको होता है, उसका स्वामी कौन है? ज्ञानी है। यहाँ पर उस समीचीन ज्ञानी को लिया है जो कि बाहरी क्रियाओं के निरोध करने में सक्षम है। व्यवहार चारित्र में भी दश प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है। यदि मुनि महाराज भी हैं तो भी उन्हें प्रवृत्ति के समय पर शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं होता। अपहृत संयम शुभोपयोगात्मक होता है, वह सारभूत नहीं है तो एकदम निस्सार भी नहीं होता। जैसे–दूध में से क्रीम निकाल दिया तो दूध ही रहता है, उसे छाँछ नहीं कह सकते। फटा हुआ दूध अशुभोपयोग है, क्रीम निकला हुआ दूध शुभोपयोग है और क्रीम शुद्धोपयोग है। व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का कारण है। निश्चय चारित्र सामायिक के समय ही होता है। जो निश्चय चारित्र में स्थित है, शुद्धोपयोग में स्थित है उनके लिए प्रतिक्रमण विष–कुम्भ है, ऐसा कहा है। उपेक्षा संयम में न मानसिक, न वाचनिक, न कायिक कोई भी क्रिया सम्भव नहीं होती है। यह सौभाग्य प्रत्येक मुनि महाराज को प्राप्त नहीं होता। मोक्षमार्ग में क्रियाओं को कम करके शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा को बढ़ाना चाहिए। मन का निरोध करना भी उपेक्षा संयम होता है। अशुभ से निवृत्ति होने के लिए प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि करना अनिवार्य है। प्रतिक्रमण तो कर लिया और मन की शल्य नहीं गई तो नुकसान तो नहीं,किन्तु दवाई अभी और लेनी पड़ेगी। सीधे ही आज तक किसी को भी उपेक्षा संयम प्राप्त नहीं हुआ। तीर्थंकर को भी नहीं किन्तु उनको जैसे इलेक्ट्रिक ट्रेन होती है वैसी ही व्यवस्था होती है। समय तो लगता है किन्तु अन्य के समान नहीं। ''**ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति**'' इस प्रकार की साधना से ही उपेक्षा संयम की भूमिका बनती है। इस प्रकार के शुद्धोपयोगी मुनिराजों को कुन्दकुन्दस्वामी, गणधर परमेष्ठी आदि बार–बार नमोऽस्तु करते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि–उस शरीर की उम्र ज्यादा होगी, जिस शरीर से फंक्शन कार्य कम हो। अधिक कार्य करने से रुधिर की भी अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार जितने कम समय में काम हो जाए उतना अच्छा, अधिक से अधिक समय निष्क्रिय रहें। उतने समय मौन रहकर सामायिक, स्वाध्याय आदि कार्य करें। वही सबसे ज्यादा स्वस्थ शरीर माना जाता है जिसका बहुत जल्दी आमाशय से आहार निकल जाता है।

जिसके द्वारा हिंसा होती है, वह आरम्भ क्रिया है। **मूलाचार** में आया है–अजीवकृत असंयम। जैसे–बैठे–बैठे कागज मोड़ना, फाड़ना पेज में कुछ–कुछ चित्र बनाना आदि। आस्रव रहित संवर–निर्जरा होनी चाहिए। जैसे–झाड़ू लगाते समय पंखा चालू है, उससे हवा आ रही है तो क्या फायदा,

उसी प्रकार आस्रव सहित संवर कार्यकारी नहीं हैं–"**जो योगन की चपलाई**" इन योग की क्रियाओं के रोकने से आत्मानुभव की लहर आती है। ७ वें गुणस्थान में आयु के निषेक झड़ तो रहे हैं पर आयु कर्म की उदीरणा नहीं है। इस योग की क्रिया से आयु पर भी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य होता है। इसमें संघातन क्रिया बढ़ेगी और परिशातन क्रिया घटेगी। जैसे–संग्रहणी का रोगी जितना भोजन करता है, उससे ज्यादा अधिक मल निकलता है। रुके ज्यादा और निकले कम तो उससे शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहता है। बहुत मुश्किल से यह शरीर रूपी यन्त्र मिला है। इसी के माध्यम से संयम का पालन करना चाहिए। जिस प्रकार उबलते हुए दूध को नीचे रख दिया और शान्त होते ही पुनः उबलने रख दिया, इसी प्रकार दिन–रात आप लोगों की क्रियाएँ उबलती एवं शान्त होती रहती हैं तो स्वभाव की ओर कैसे जाएँ? जैसे–दूध पुष्ट और मिष्ठ होता है उसको पीना है परन्तु अभी उबल रहा है, क्या करेंगे? पहले नीचे से अग्नि निकाल दो फिर भी अभी गरम है तो उसे थोड़ा और ठंडा करो तभी पीने योग्य होता है। उसी प्रकार बाह्य–अभ्यन्तर क्रियाओं को रोकने पर आत्म परिणामों में शान्ति आती है। इस प्रकार तृतीय अवयव के रूप में वीतराग चारित्र का व्याख्यान हुआ।

ध्यान करने की प्रेरणा

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्त-चित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

अर्थ–मुनि नियम से ध्यान के द्वारा साध्य–साधक रूप निश्चय व व्यवहार रूप दोनों मोक्षमार्ग को पाते हैं। इसलिए हे भव्यो! तुम प्रयत्नचित्त होकर उस ध्यान का समीचीन रूप से अभ्यास करो।

निश्चय औ व्यवहार भेद से द्विविध यहाँ शिव-पंथ रहा।
ध्यान काल में निश्चित उसको पाता है मुनि संत अहा॥
इसीलिए तुम दत्त-चित्त हो एक-मना हो विजित मना।
सतत करो अभ्यास ध्यान का शीघ्र बनो फिर विगत मना ॥४७॥

व्याख्या–अमूर्त आत्म तत्त्व के ध्यान के लिए आचार्यों ने सूत्र रूप में गाथाएँ दी हैं। हजारों वर्ष पूर्व ही दोनों प्रकार के मार्ग को मुनि ध्यान के द्वारा प्राप्त करते हैं ऐसा आचार्य कह गये हैं लेकिन आज कुछ लोग 'मुणी' की जगह 'गुणी' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं यह ठीक नहीं हैं। मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए एक गाथा ही पर्याप्त है। प्रयोग करने से ही ध्यान की प्राप्ति होती है। कम से कम २–४ घंटे अभ्यास करना चाहिए। जैसे–प्रवचन के पहले सबसे कहते हैं शान्ति रखो, उसी प्रकार ध्यान में बैठने पर शान्ति रखो। जब तक ध्यान में गहराई नहीं आती है तब तक शान्ति रखो। वीतराग चारित्र ध्यान से ही प्राप्त होगा। दत्तचित्त होकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। **पयत्तचित्ता**–पहले बाह्य क्रिया को संकल्पपूर्वक त्याग कर दें तो अभ्यन्तर क्रिया का भी धीरे-धीरे त्याग हो जायेगा। परिग्रह के लिए आचार्य कहते हैं कि यह महाभूत है। भूत गया ऐसा लगता है पर जाता नहीं है। सभी

दर्शनकारों ने ध्यान की, समाधि की, योग साधना की प्रशंसा की है। आज मनोयोग के माध्यम से रोगों का भी उपचार होने लगा है। इस प्रकार के साधन के द्वारा प्रयत्नचित्त होकर साधक को ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। खाना पूर्ति नहीं होना चाहिए। कुछ लोगों की धारणा हो सकती है कि व्रत प्रतिमा तो ले ली और हम द्रव्य सामायिक नहीं कर पा रहे हैं तो भाव सामायिक कर सकते हैं क्या? आचार्यों ने कहा है–अध्यात्म एकमात्र सामायिक और ध्यान में ही मिलेगा। क्रियाओं में कभी नहीं मिलेगा। आज स्वाध्याय को भाव सामायिक का रूप दे रहे हैं। ये लोग युग को किस ओर ले जाने का प्रयास कर रहे हैं कुछ समझ में नहीं आता। **सामायिक एक ऐसा व्रत है, जिसके द्वारा पाँचों व्रत निर्दोष हो जाते हैं।** जो कोई भी दोष लगा है, उन्हें शुद्ध करने के लिए सामायिक करने को कहा है। ''**व्रत पञ्चक परिपूरण**'' पाँच व्रतों की पूर्णता सामायिक से होती है, ऐसा योगी जन कहते हैं। वे यह भावना करते हैं कि वह समय कब आये कि वन्य पशु आकर अपनी खाज खुजा लें फिर भी विचलित न हों। ''**उपल खाज खुजावते**'' यह स्वाध्याय के समय नहीं होगा यह ध्यान रखो, सामायिक में ही यह भूमिका बनेगी। इसके अलावा और कोई साधन नहीं है। जब तक फिल्म प्रारम्भ नहीं होती है तब तक सबको शान्त करते हैं लेकिन फिल्म प्रारम्भ होने पर कहाँ क्या हो रहा है पता नहीं चलता है इसी प्रकार ध्यान में लीन होने पर पता नहीं चलता है। ध्यान से रहित वैसे कोई भी गुणस्थान नहीं है। पहले से चौदहवें गुणस्थान तक ध्यान है और जीव एक साथ दो गुणस्थान में नहीं रह सकता। एक स्थान है जो ध्यान से रहित है, जो आज तक प्राप्त नहीं हुआ, वह मोक्ष स्थान है। पहले से चौथे गुणस्थान में घटता हुआ आर्त-रौद्र ध्यान है, चौथे से धर्म्यध्यान और आठवें से शुक्लध्यान प्रारम्भ हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक ध्यान से रहित काल होता है, क्योंकि उनका ज्ञान सही हो गया है इसलिए ध्यान की आवश्यकता नहीं है और हमारा ज्ञान सही नहीं है, कर्म भी नष्ट नहीं हुए है इसलिए ध्यान की आवश्यकता है। जिसके पैर लड़खड़ाते हैं, उसके लिए गाड़ी की आवश्यकता होती है। कर्म काटने के लिए और आस्रव द्वार को रोकने के लिए ध्यान की आवश्यकता है। मात्र ज्ञान सही करने के लिए नहीं। ज्यादा ग्रन्थ पढ़े नहीं हैं तो कोई बात नहीं आचार्य कहते हैं कि–अब दो –तीन बातें बस ध्यान में रख लो। जानने के लिए तीन लोक हैं और छोड़ने के लिए राग–द्वेष–मोह ये तीन हैं।

ध्यान करने का उपाय

मा मुज्झह, मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठ-णिट्ठ अत्थेसु।
थिर-मिच्छह जइ चित्तं विचित्त-झाणप्पसिद्धीए ॥४८॥

अर्थ–यदि तुम विचित्र ध्यान (अनेक तरह के ध्यान) की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट–पदार्थों में अथवा इन्द्रियों के विषयों में मोह, राग एवं द्वेष मत करो।

शुद्धातम के सहज - ध्यान में होना जब है तल्लीना।
चंचल मन को अविचल करना चाहो यदि निज-आधीना॥
मोह करो मत, राग करो मत, द्वेष करो मत, तुम तन में।
इष्ट रहे कुछ, अनिष्ट भी हैं पदार्थ मिलते त्रिभुवन में ॥४८॥

व्याख्या—शुद्धोपयोग को जो बार-बार छूते रहते हैं, उनके लिए शास्त्र की जरूरत नहीं है। वे पिच्छी-कमण्डलु के अलावा कुछ भी नहीं रखते हैं। इस गाथा में अध्यात्म भरा है। मोह नहीं करिये, किससे? इस गाथा से भी मोह नहीं करिये। इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग नहीं करिये। जिसका आपको परिचय होता है उन्हीं से इष्ट-अनिष्ट के रूप में राग-द्वेष-मोह हुआ करता है, सबसे अधिक प्रदूषण MIND में जनसम्पर्क से होता है। मोह मिट गया तो राग-द्वेष नहीं रहेंगे। ''**अपने-अपने सुख को रोवे पिता-पुत्र दारा**'' जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व भाव से दुखी है। यहाँ लोट् लकार का प्रयोग किया है। आचार्य कह रहे हैं—ध्यान की प्रसिद्धि चाहते हो तो राग मत करो। राग नहीं करना चाहिए ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि कहीं न कहीं मन लगा हुआ है इष्ट-अनिष्ट में। इसलिए -

दो मुख पंथी चले न पंथा, दो मुख सूई सिले न कंथा।
दोऊ काम नहीं होय सयाने, विषय भोग अरु मोक्ष हु पाने॥

ध्यान और राग दोनों एक साथ नहीं हो सकते। परिचित के माध्यम से ही माथा दर्द होता है। इसलिए परिचित होने से बचो। थोड़ा-सा भी कोई अपना बनाना चाहता है तो तुम मत बनो। अपना परिचय मत दो। मोक्षमार्ग में निरोगी होने की टेबलेट दी जाती है। पहले एड्रेस बदलो फिर ड्रेस बदलो। समयसार में अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—राग-द्वेष किस कारण से होते हैं? क्या वजह है? ''**ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेणबंधोत्ति**'' अध्यवसान अर्थात् राग-द्वेष, मोह, ईर्ष्या आदि किस वजह से होते हैं ? खम्बे से कभी मोह ईर्ष्या हुई क्या? हुई भी तो क्यों ? यदि दूसरे का नाम उस खम्बे में लिखा हो और छोटे अक्षर में अपना नाम लिखा हो तो खम्बे से नहीं, नाम से भी नहीं लेकिन लिखने वाले से द्वेष होता है। उससे भी नहीं क्योंकि वह तो नोकर्म है लेकिन जिसने लिखवाया उससे अध्यवसान होता है। यह द्वेष भव-भव में चलता रहता है। वस्तु किसी भी प्रकार से बन्ध का कारण नहीं है, यह मेरी तेरी के कारण ही बन्ध होता है। नोकर्म निमित्त बन जाते हैं तो उन निमित्तों से दूर रहो। जिसके कारण हो रहा है, उसे छोड़ दो, छोड़ दिया उसका विकल्प भी मत करो। राग, द्वेष, मोह, मद का त्याग ही प्रत्याख्यान है, यही सही पुरुषार्थ माना जाता है। छूटते ही अन्तर्मुहूर्त भी नहीं लगता कि केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। किसी का भी ध्यान करो पर शर्त है—राग मत करो, द्वेष मत करो, मोह मत करो।

आस्था, ज्ञान, विवेक, उत्साह, तत्त्वज्ञान और जनपद त्याग। योग की सिद्धि के लिए ये छह कारण बताये हैं। मोक्षमार्ग में जो आपके अनुकूल नहीं है, उसके अनुकूल आपको होना पड़ेगा। जीवों

ने राग, द्वेष, मोह और स्वामित्व की ऐसी-ऐसी दीवारें खड़ी कर ली हैं कि भीतर जाने का प्रयास भी करते हैं तो उन दीवारों से टकरा जाते हैं, भूल-भूलैया इसी को बोलते हैं। वहाँ फर्श ऐसा बना था कि पानी जैसा लगता था तभी दुर्योधन गिर जाता है और वहीं से महाभारत प्रारम्भ हो गई थी। मोक्षमार्ग में हमेशा परत्व गौण होना चाहिए। स्व तत्त्व मुख्य हो और अपने आत्म तत्त्व के लिए जो बाधक क्रियाएँ हैं, उन्हें निर्दयी होकर भस्मसात् करना चाहिए। ''**निनाय यो निर्दय भस्मसात्क्रियाम्**'' अपने आत्म तत्त्व के बाधक तत्त्व को आदिनाथ भगवान् ने निर्दय होकर अलग किया, भस्मसात् किया ऐसा समन्तभद्र स्वामी ने कहा है। भीतर मोह को तोड़ने के लिए जो निर्दयता अपनाई जाती है वह महत्त्वपूर्ण है। गृहस्थ लोग दर्शन करने इसलिए आते हैं कि आपने मोह को, घर को कैसे छोड़ दिया। हम तो सड़ी-गली वस्तु को भी नहीं छोड़ पा रहे हैं और साधु उससे पूछते हैं-क्यों आये, कैसे आये, कहाँ से आये ? तो कौन गाफिल हो गया ? श्रावक या साधु, समझ में नहीं आता? आत्म तत्त्व के ज्ञान से ही मोह पर कुठाराघात हो सकता है। ''हम न किसी के कोई न हमारा'' केवल आत्मा, भगवान् आत्मा का ही लक्ष्य, बाकी सब निस्सार नजर आने पर ही राग, द्वेष, मोह ये तीनों प्रत्यय छूट सकते हैं और सार नजर आने पर संसार और बढ़ेगा। आर्तध्यान को मिटाने की मात्र एक ही औषधि है कि इस संसार में हमारा कोई नहीं है इसको दृढ़ करें। निदान रूप आर्तध्यान का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि '**निदानं च**' कहा है। भवनत्रिक व सौधर्म ऐशान तक के देव एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो सकते हैं लेकिन अग्नि, वायु, निगोद, अपर्याप्तक और सूक्ष्म नहीं होते हैं। हाँ, वनस्पति में जन्म लेंगे पर निगोद में नहीं। पाँच पापों का त्याग करने वाला व्यक्ति रौद्रध्यान से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। पहले से पाँचवें गुणस्थान तक यथायोग्य रौद्रध्यान होता है। जैसे-बिच्छू का बच्चा काटे तो सूँ-सूँ करता है २४ घंटे दर्द रहता है और बड़ा बिच्छू काट खाये तो चार-पाँच दिन तक दर्द रहता है। संरक्षण से आनन्द व संतुष्टि मानता है तो वह रौद्रध्यान है। जैसे-आपने बैंक में पैसा जमा (सुरक्षित) कर रखा है और अखबार में पढ़ लिया कि वह बैंक फेल हो गया तो वहाँ बैंक फेल हुआ यहाँ आपका हार्टफेल हो गया क्योंकि संरक्षण का आनन्द ही समाप्त हो गया। परिग्रह का भाव औदयिक भाव है, उसके उदय से परिग्रह ग्रहण करने के भाव होते हैं। जैसे-जब तक लड़का या लड़की का विवाह नहीं करूँगा, तब तक शान्ति नहीं और स्वयं मिठाई खाकर उसे बन्धन में डाल दिया अब शान्ति हो गई। अब शान्ति से बड़े बाबा के पास रहेंगे। दश का माल बीस रुपये में देते हुए कहता है-'दद्दा' (दश वर्ष के बालक को दद्दा कहता है) मैंने जितने में लिया था उतने में ही दे दिया इस प्रकार झूठ बोलने में आनन्द मानता है। देखो राजा श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले जेल में बंद थे। सामने से कुणिक तलवार लेकर आ रहा था, उसने सोचा मुझे मारने आ रहा है, इससे अच्छा तो मैं स्वयं अपना घात कर लूँ, मर जाऊँ। यदि अपना मतलब सिद्ध नहीं होता है तो असंयमी मरने और मारने के लिए भी तत्पर हो जाता है। असंयमी भरत चक्रवर्ती

को देखो जब तीनों युद्ध में हार गया तो भैया को ही मारने के लिए चक्र चला दिया। कहाँ तो वह आदिनाथ तीर्थंकर के पुत्र क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, फिर भी ऐसा किया। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार कर्म के उदय में यह सब कुछ सम्भव है। सर्वार्थसिद्धि में भी कषाय समुद्घात होता है अर्थात् लड़ते भिड़ते तो नहीं, लेकिन अन्तर्मुहूर्त के लिए आग बबूला हो जाते हैं। असंयम मार्गणा में इन्द्रिय और प्राणी सम्बन्धी दोनों असंयम हैं। ऊपर के गुणस्थान वाले दुख कितना भी आ जाए पर मरने-मारने के भाव नहीं करेंगे। जो होना हो, हो जाए, शरीर तो छूटना ही है। अप्रत्याख्यान कषाय असंयमी के होती है, वह दुनिया का प्रत्याख्यान करने भी तैयार हो जाता है अर्थात् मरने मारने को भी तैयार हो जाता है। छठवें गुणस्थान में पाप की नहीं प्रमाद की मुख्यता है इसलिए ६-७ वें गुणस्थानवर्ती धर्म्यध्यान के अधिकारी माने जाते हैं। आर्तध्यान की भूमिका छठवें गुणस्थान तक और रौद्रध्यान की भूमिका पाँचवें गुणस्थान तक है। इन दोनों ध्यान के त्याग रूप चार प्रकार का धर्म्यध्यान ४ से ७ वें गुणस्थान तक होता है। आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान प्रारम्भ होता है। मुख्य और उपचार की अपेक्षा धर्म्यध्यान दो प्रकार का है। चतुर्थ गुणस्थान में भगवान् की मान्यता रूप आज्ञाविचय और छठवें गुणस्थान में भगवान् की मान्यता और उनकी आज्ञा पालन रूप मुख्यता से होता है। धर्म्यध्यान का फल – मोह का क्षय, कर्म की निर्जरा है, मोक्ष नहीं है ऐसा ही वीरसेन स्वामी ने कहा है। उनके अनुसार उपशम या क्षपक श्रेणी में १० वें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान माना है। "**शुक्ले चाद्ये**" यहाँ **च** में धर्म्यध्यान भी होता है। सभी पूर्वविद् वाले शुक्लध्यान के अधिकारी नहीं होते ऐसी ध्वनि निकलती है। इस प्रकार १० वें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान सिद्ध होता है। ११ वें गुणस्थान में शुक्लध्यान करेंगे और क्षपक श्रेणी वाले धर्म्यध्यान से बारहवें गुणस्थान में पहुँचेंगे। कुशील और निर्ग्रन्थ के लिए द्वादशाङ्ग श्रुत होता है, ऐसा कहा है। यथाख्यात चारित्र के अधिकारी निर्ग्रन्थ भी जघन्य से अष्ट प्रवचन मातृका का ज्ञान रखते हैं। बारहवें गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त काल उपरान्त केवलज्ञान रूप सूर्य (दिवाकर) का उदय होना है और तीन घातियारूपी घटाओं का क्षय होना है। यदि दर्शनमोह का उपशम या क्षपण हो रहा है तो उस भूमिका में चारित्रमोह का कुछ नहीं होगा ऐसा सिद्धान्त है क्योंकि एक परिणाम के द्वारा दोनों कर्मों का क्षय नहीं हो सकता ऐसा आचार्यों का मत है। श्वेताम्बरों में उपशान्त और क्षीणमोह में भी धर्म्यध्यान बतलाया है, ऐसा सूत्र उनके यहाँ आता है तो थोड़ा हम इसके बारे में सोचें कि—जो १० वें गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान में धर्म्यध्यान के द्वारा पहुँचे हैं तो क्या DIRECT शुक्लध्यान हो सकता है। १२ वें गुणस्थान के दो पाये माने हैं—पहले पाये में निद्रा-प्रचला आदि का क्षय, दूसरे पाये में-तीन घाति कर्मों का क्षय। पहले पाये में इन प्रकृतियों का क्षय अन्तर्मुहूर्त में होता है तो वह प्रथम शुक्लध्यान के माध्यम से करेंगे या द्वितीय शुक्लध्यान के माध्यम से करेंगे? क्या DIRECT द्वितीय शुक्लध्यान हो सकता है? ध्यान एक समय का नहीं होता, अन्तर्मुहूर्त का होता है। जितने भी कर्म हैं उनको पुञ्ज-पुञ्ज रूप में निकालते जाते हैं। प्रथम

शुक्लध्यान होना अनिवार्य है और वह किसके माध्यम से होगा? इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्वविद् के बिना भी शुक्लध्यान होता है। जो ८ वें गुणस्थान से शुक्लध्यान मानते हैं वह इस अपेक्षा बन जायेगा। जो उपशम श्रेणी चढ़े हैं उनके संस्कार धर्म्यध्यान के हैं। धर्म्यध्यान के साथ उपशम सम्यक्त्व होते हुए भी तीन चौकड़ी का उपशम, तीर्थंकर भी आ जाएँ तो भी नहीं कर सकते यह सिद्धान्त है। जिस विशुद्धि के माध्यम से ७ प्रकृतियों का क्षय किया, उन परिणामों से शुक्लध्यान होता है। इस प्रकार चौथे से दसवें गुणस्थान तक तो धर्म्यध्यान की धारा है। वीरसेनस्वामी ने प्रथम शुक्लध्यान के कई भंग बनाये हैं। जो धर्म्यध्यान के साथ १० वें गुणस्थान तक गये हैं, वे १२ वें गुणस्थान के प्रथम पाये में पहला शुक्लध्यान और दूसरे पाये में दूसरा शुक्लध्यान मानते हैं। जिस प्रकार मिश्र गुणस्थान में मिश्रज्ञान होता है उसी प्रकार श्रेणी में मिश्रध्यान भी होना चाहिए ऐसा कोई कह सकता है लेकिन आगम में इतना ही मिलता है।

जो दूसरे व्यक्ति के दुख के बारे में नहीं सोचता है तो उसके ऊपर दुख आने पर कोई नहीं सोचेगा। **भगवती आराधना** में कहा है–**कोई साधक रत्नत्रय का पालन कर रहा है, सब आवश्यक भी कर रहा है, लेकिन वैय्यावृत्ति नहीं करता है तो जब वह अस्वस्थ होगा उस समय उसकी भी कोई वैय्यावृत्ति नहीं करेगा।** एक दूसरे के तप में सहयोग देने पर अपना भी निर्वाह हो जाता है, अपने व्रतों का भी अच्छे से पालन हो सकता है। जिसने सुख के साथ जीवन बिताया है उसे दुख आ जाने पर णमोकार मन्त्र भी ध्यान नहीं आयेगा, वह भी सुनाना पड़ेगा। प्रतिक्रमण, ध्यान करना तो दूर रहा इसलिए वैय्यावृत्ति आवश्यक है। यह **''परम्परया मुक्ति कारणं''** कहा है इसको UNDERLINE करिए UNDERGROUND नहीं। पुण्य बन्ध के कारणों से डरना नहीं चाहिए बल्कि वही करना चाहिए, क्योंकि परम्परा से सातिशय पुण्य भी मुक्ति का कारण है तो यह संवर-निर्जरा का कारण नहीं है ऐसा नहीं कह सकते। भगवान् ने कहा है तो पुण्य कार्य करना चाहिए। दुख का निवारण नहीं हो रहा है तो भी धर्म्यध्यान करते रहना चाहिए। परीक्षा के समय प्रश्न कठिन ही लगते हैं लेकिन हल तो करना ही पड़ेगा उसमें तो पसीना आने लगता है। भेदविज्ञान की परीक्षा भी ऐसी ही है, यह करना ही है यह आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है। ग्रन्थों के अध्ययन से गुणस्थान नहीं बनता। कौन से गुणस्थान में आप स्थित हैं यह ग्रन्थों के माध्यम से पता कर सकते हैं किन्तु यह प्रत्यक्ष ज्ञान/क्षायिक ज्ञान का विषय है। प्राथमिक भूमिका में धर्म्यध्यान से ही दिन कटते हैं ऐसा आचार्य कहते हैं। कर्म कैसे दूर हो? यह राग-द्वेष पूर्वक, आकुलता पूर्वक नहीं करें। निर्जरा के साधन अपनाओ, आकुलता नहीं करो तो निर्जरा होगी। कैसे निर्जरा हो ऐसा कहने मात्र से नहीं होगी। दुनिया का कल्याण हो, सबके कर्मों का नाश हो, सबके कष्ट नष्ट हो, सभी जीव सुखी हों आदि चिन्तन करना विकल्प नहीं है यह धर्म्यध्यान है, ऐसा सबको सोचना चाहिए इससे असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है तथा उसका जीवन समाप्त हो जाए, धन समाप्त हो जाए, आगे बढ़

न सके, ऐसी भावना करना रौद्रध्यान रूप दुर्ध्यान है। इनकी क्यों जीत हो गई ? दुनिया क्या कहेगी? ये भाव न आने दें। हमें यदि दुख हो रहा है तो अपने कर्म के उदय से हो रहा है और यह औदयिक भाव है, यह मेरा स्वभाव नहीं है यह है विपाक विचय धर्म्यध्यान। तत्त्व ज्ञान की ओर जाने के लिए धर्म्यध्यान का विषय अपने लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सम्यग्दर्शन के साथ संवेग गुण होना चाहिए। मुनि हैं तो शीघ्र ही ७ वें गुणस्थान में पहुँच जायेंगे। यह गुस्सा दिला रहा है ऐसा अज्ञानता से कहते हैं। ऐसा गुस्सा करो कि स्वयं को और दूसरे को भी पीड़ा न हो और कर्म निकल जाएँ। ऐसी कला के साथ गुस्सा निकालो। अपने संवेग गुण को बढ़ाओ। असंख्यात क्षायिक सम्यग्दृष्टि प्रथम नरक में हैं, वे भी दुख का अनुभव कर रहे हैं ऐसा चिन्तन करना चाहिए। सम्यक् चिन्तन से ही सम्यग्दर्शन सुरक्षित रह सकता है। पहले शुक्लध्यान में भी अन्तर्जल्प नहीं छूटता है। मतिज्ञान के साथ भी अन्तर्जल्प होता है। मन के माध्यम से जो चिन्तन करने की प्रणाली है, अक्षरों का माध्यम लेकर जाप किया जाता है, इसमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है, जहाँ पर ये रहता है, वहाँ पर बोले बिना रहा नहीं जा सकता, अतः वितर्क कहा है। वितर्क का अर्थ श्रुत लिया जाता है। इसमें भी अन्तर्जल्प होता है। दूसरा शुक्लध्यान "**अवीचारं द्वितीयं**" सूत्र की अपेक्षा वीचार रहित होता है। सूक्ष्म काय में स्थिर होकर सूक्ष्म मन वचन और श्वासोच्छ्वास को रोकते हैं। वह भी अन्तर्जल्प है। तेरहवें गुणस्थान में योग की व्यग्रता को एकाग्र करने की क्रिया हो रही है अर्थात् एकाग्र चिन्ता निरोध रूप ध्यान नहीं होने के कारण उपचार से ध्यान कहा है। योग को सूक्ष्म करने रूप ध्यान कहा है। चौदहवाँ गुणस्थान "**व्युपरतक्रिया-निवर्तीनि**"- न निवृत्ति लौटने वाला नहीं है। तृतीय शुक्लध्यान के साथ पूर्ण रूप से क्रिया का निवर्तन नहीं हुआ था, इसलिए अनिवृत्ति विशेषण नहीं लगाया। ११ वें गुणस्थान में जो दूसरा शुक्लध्यान मानते हैं, उनकी अपेक्षा दूसरे शुक्लध्यान वाले नीचे जा सकते हैं, किन्तु तीसरे शुक्लध्यान वाले नीचे नहीं गिरेंगे। इसलिए तीसरे शुक्लध्यान को अप्रतिपाती कहा है और चौथे शुक्लध्यान वाले लौटेंगे नहीं, इसलिए अनिवृत्ति कहा है। **समयसार** में आया है-"पडिकमणं पडिसरणं...।" धारणा में बिम्ब या मन्त्र का आलम्बन लिया जाता है, यह पदस्थध्यान है। पञ्च नमस्कार मन्त्र आदि भी स्वाध्याय में गर्भित है। जो कर्म निर्जरा का साधन है। "**णमोक्कारो कम्मणिज्जराकारो**" पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप व पाठ दोनों वाचनिक और मानसिक होते हैं। इस मन्त्र का ज्ञान-ध्यान करने से कर्म निर्जरा होती है। यह पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत के रूप में ध्यान करने के योग्य है, इस प्रकार का यह विचित्र ध्यान केवलज्ञान का कारण है। बाधक कारणों का अभाव साधक कारणों का सद्भाव तब साध्य का प्रादुर्भाव होता है यह अकाट्य नियम है। इसलिए बाधक कारणों की जानकारी भी होना आवश्यक है। अग्नि का स्वभाव जलाना है पर मन्त्राादि से वह जला नहीं पाती है तो मन्त्र प्रतिबन्धक हो गया। ट्रेन बिना कोयले के तो चल सकती है किन्तु पटरी बिना नहीं चल सकती। साधक कारण का सद्भाव जरूरी है उसके बिना चलने रूप

कार्य नहीं हो सकता। हेय–उपादेय का ज्ञान दर्शनमोहनीय के अभाव में होता है। ११ अंग १४ पूर्व तक क्षयोपशम ज्ञान होता है तो भी **''रोके न चाह निज शक्ति खोय, शिव रूप निराकुलता न जोय।''** यह ज्ञानावरण का काम नहीं है यह तो रुचि का काम है। मिथ्यात्व की रुचि होने से विषय कषायों में ही आनन्द आयेगा। सातों तत्त्वों की जानकारी क्षयोपशम के माध्यम से ही होती है, किन्तु भेदज्ञान स्व रुचि से होगा। **मुनिराजों के ऊपर भले ही तप की गर्मी हो, किन्तु भीतर से अध्यात्म का रस आता है, उन्हें वहीं अच्छा लगता है। जिस प्रकार वृक्ष भले ही सूर्य की तपन से सूखा-सा लगता हो किन्तु उसे नीचे से शीतलता मिल रही है तो वह हरा भरा रहता है।** उसी प्रकार मुनिराज बाहर से सूखे और भीतर से अध्यात्म रस की शीतलता से हरे भरे रहते हैं। अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है, फिर भी उसके उदय में तीन ज्ञान मिथ्या हो जाते हैं। मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन में विपरीतता लाता है तो दूसरे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन को बट्टा लगाने वाला, दूषित करने वाला कौन? अनुभाग की दृष्टि से गवेषणा करने पर तो मिथ्यात्व से अनन्त गुणा हीन अनन्तानुबन्धी का अनुभाग है पर श्रद्धान गुण को विपरीत करने वाला मिथ्यात्व का एक भी अंश दूसरे गुणस्थान में देखने में नहीं आता। तो वह किसका प्रभाव है? मिथ्यात्व तो है नहीं। सप्तम गुणस्थान में भी सम्यक्त्व प्रकृति का उदय है। सम्यक्त्व प्रकृति अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना में बाधक नहीं है। जब तक श्रद्धान गुण विपरीत नहीं होगा तब तक ज्ञान विपरीत नहीं होगा। क्योंकि ज्ञान की समीचीनता सम्यग्दर्शन पर आधारित है। जैसे–राष्ट्रपति के अभाव में उपराष्ट्रपति, हेड के अभाव में असिस्टेन्ट काम करता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व के अभाव में भी दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय जो अनन्त का अनुबन्ध करने वाली है, श्रद्धान को विपरीत करने में उसी को श्रेय जाता है, इसलिए विपरीत अभिनिवेश रूप कार्य मिथ्यात्व का है। दूसरे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन को किसने मिटा दिया? अनन्तानुबन्धी कषाय ने। **''आसादनं सम्यग्दर्शनं इति सासादन सम्यग्दर्शनं''** अनन्तानुबन्धी के कारण सम्यग्दर्शन की विराधना होने से सासादन नाम है। अनन्तानुबन्धी के उद्रेक में सम्यग्दर्शन तो उड़ गया किन्तु मिथ्यादर्शन का उपशम काल बना रहा। सिद्धान्त में न्याय नहीं चलता, तर्क नहीं चलता यहाँ आगम सिद्धान्त चलता है। अनन्तानुबन्धी उदय में है तो वह मिथ्यात्व का कार्य कर ही देगा। द्वितीय गुणस्थान ऐसा गुणस्थान है, जिसमें विकास नहीं विनाश ही है, अप्रशस्त ही है। प्रथम व तृतीय गुणस्थान से विकास सम्भव है। सम्यक्त्व के छह भेदों में जो सासादन सम्यक्त्व है तो क्या उसे सम्यक्त्व कह दें? दूसरा गुणस्थान सम्यग्दर्शन में १ समय या ६ आवली काल शेष रहने पर होता है। दर्शनमोहनीय का उपशमन का काल विद्यमान है, किन्तु अनन्तानुबन्धी कहती है, अभी मिथ्यात्व सोया हुआ है, मैं उसकी असिस्टेन्ट बनकर आयी हूँ। मिथ्यात्व के अभाव में भी तीनों ज्ञान को मिथ्या करने का कार्य अनन्तानुबन्धी कर देती है। मिथ्यात्व ही विपरीत अभिनिवेश उत्पन्न करता है, ऐसा एकान्त नियम नहीं बनाना चाहिए। इसीलिए वीरसेन स्वामी ने अनन्तानुबन्धी को द्विमुखी कहा है।

सम्यक्त्व को उठाकर हटा देने की क्षमता सम्यक् प्रकृति में नहीं है, दोष लगा सकती है। नेवला और सर्प एक दूसरे के जन्म से विरोधी होते हैं। लड़ाई होने पर नेवला घातक सिद्ध हो जाता है। दिन है तो रात नहीं ऐसी स्थिति है। वीतरागता का प्रतिद्वन्द्वी राग-द्वेष है। सम्यक् प्रकृति के उदय में भी वीतराग चारित्र रूप शुद्धोपयोग को ७ वें गुणस्थान में प्राप्त कर सकता है। लेकिन मिथ्यात्व अबुद्धिपूर्वक भी है तो नहीं होगा। वस्तुतः कौन किसका घातक है ? किसके सद्भाव में क्या कार्य होता है? इसका भी अध्ययन अच्छे ढंग से करना अनिवार्य है। पति-पत्नी उम्र से सम्बन्ध नहीं रखते पाणिग्रहण होते ही पति-पत्नि कहलाने लगते हैं। पुत्र का जन्म होते ही माता-पिता की संज्ञा मिलती है। यह सन्निकर्ष है। जैसे-हल्दी और चूना मिलाने से लाल वर्ण की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार राग-द्वेष न कर्म से उत्पन्न है, न जीव से उत्पन्न है, अपितु दोनों के संयोग से उत्पन्न हुई अवस्था है, सामने वाले की जिज्ञासा व अभिप्राय की अपेक्षा वक्ता अपनी विवक्षा बनाता है, हम तो अनेकान्त वाले हैं। आयुर्वेद कहता है-एकान्त हठग्राहिता हो जाती है तो सिर में दर्द हो जाता है। इसके लिए तात्कालिक उपाय है, थोड़ा-सा कान खींच लो तो शान्ति मिलती है क्योंकि कान के पास सिरदर्द के प्वाइंट होते हैं। प्रयोग करके देख लेना। लेकिन बहुत ज्यादा खिंच गये तो एक दर्द तो कम होगा पर कान का दर्द बढ़ जायेगा। यह है हठग्राहिता। नय विवक्षा में अशुद्ध निश्चयनय से राग-द्वेष जीव में उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जाता है। जीव के द्वारा होते हैं ऐसा नहीं कहा जाता है। एकदेश शुद्ध निश्चयनय से कर्म जनित कहा है। जब तक कर्म का उदय नहीं होगा तब तक जीव में यह राग-द्वेषरूपी लहर नहीं होगी। हवा के द्वारा लहरें उठती हैं। **''उलझत सुलझत आप है ध्वजा पवन के जोर''** यह अशुद्ध निश्चयनय से जानना। जैसे-पवन के द्वारा ध्वजा उलझती-सुलझती है और लहरा भी रही है। जो ध्वजा में क्रिया हो रही है उसमें कारण हवा है, उसी प्रकार जीव में राग-द्वेष का निमित्त कारण मोह है। अन्यथा सिद्ध जीवों के साथ अनन्त निगोदिया जीव भी स्पर्शित हैं तो सिद्धों में भी राग-द्वेष होना चाहिए? लेकिन नहीं, जिनके मोह का उदय है उसी के राग-द्वेष होता है। साक्षात् शुद्ध निश्चयनय अपेक्षा स्त्री पुरुष का संयोग नहीं तो पुत्र भी नहीं। राग-द्वेष नहीं तो कर्म भी नहीं। पारिणामिक भाव न बन्ध के लिए कारण है, न मुक्ति के लिए कारण है।

पदस्थ ध्यान का वर्णन

पणतीस-सोल-छप्पण चदु-दुग-मेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठि - वाचयाणं अण्णं च गुरू-वएसेण ॥४९॥

अर्थ-पञ्च परमेष्ठी के वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर रूप मन्त्र पद हैं, उनका जाप करो एवं ध्यान करो। इनके अतिरिक्त अन्य मन्त्र या संकेतों का भी गुरु के उपदेशानुसार जाप व ध्यान करो।

णमोकार 'पैंतीस' वर्ण का मन्त्र रहा सोलह, छह का।
पाँच, चार, दो इक वर्णों का द्वार-ध्यान का, निज-गृह का॥
यों परमेष्ठी-वाचक वर्णों का नियमित जप-ध्यान करो।
या गुरु-संकेतों पर मन को कीलित कर अवधान करो ॥४९॥

व्याख्या—नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव कह रहे हैं कि—ध्यान में प्रवेश चाहते हो तो दुनिया की बातें छोड़ दो। पञ्चपरमेष्ठी का सहारा ले लो, उनके बारे में सोचो, जिससे हमारा मार्ग प्रशस्त होगा। कई लोगों की धारणा है कि—पञ्च नमस्कार मन्त्र के उच्चारण से विकल्प होता है, विकल्प से अध्यवसाय भाव और उससे बन्ध होता है, ऐसी मान्यता से बचना चाहिए। पहले बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोह को छोड़ दो तो ध्यान अवश्य लग जायेगा और आपको मोक्षमार्ग मिल जायेगा। यह बात अवश्य है कि इसमें फिर थर्मामीटर लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। पहले के डॉक्टर हाथ की नाड़ी व चेहरा देखकर किस अंग में कहाँ दर्द है यह बता देते थे। आजकल तो सब काम यन्त्रों से होने लगा है। जितनी नाड़ी उतने थर्मामीटर हो गये हैं। सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त ध्यान होता है, न कि ध्यान होने के उपरान्त सम्यग्दर्शन होता है। आचार्यों के मुख से कोई मन्त्र मिल जाता है तो उसका भी ध्यान होता है, यह माध्यम है बन्धन नहीं। मार्ग कभी बन्धन नहीं। उन्मार्ग से बचाने के लिए है। यह मन्त्र बन्धन नहीं किन्तु स्वतंत्र घूमने वाला मन है उसके बन्धन के लिए माध्यम हैं जिसको संसार के बन्धन अच्छे नहीं लग रहे हैं, उनके लिए हम बता सकते हैं। १६ पद वाले में "**अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधुभ्यो नमः**" अन्त में नमः शब्द लगाया जा सकता है, **णमो लोए**—लोक में अर्थात् जितने हैं, थे और होंगे इन सबको नमस्कार हो जायेगा। मास्टर ऑफ आर्ट्स का शार्ट फार्म M.A. है उसी प्रकार '**अ सि आ उ सा**' यह संक्षेपीकरण नाम के अर्थ में होता है। इसके माध्यम से अर्थ की ओर ध्यान जाना चाहिए। मन्त्र या पद पूर्ण तब होगा, जब नमः जोड़ेंगे, नहीं तो अधूरा माना जायेगा लेकिन ध्यान के लिए नमः भी छोड़ना पड़ेगा। **मन्त्र माध्यम है बन्धन नहीं, माध्यम से इच्छित वस्तु तक पहुँच सकते हैं।** ज्ञानार्णवकार ने तेभ्यो नमः जोड़ा है तब मन्त्र पूर्ण बनेगा। अधोलोक का 'अ', ऊर्ध्वलोक का 'ऊ', मध्यलोक का 'म', इस प्रकार सबका जोड़ ओम् है। ओकार बिन्दु संयुक्तं कहा है यह चन्द्र बिन्दु की प्रथा कहाँ से, कैसे आयी? यह सोचने की बात है। जिस समय कारिका लिखी गई, उस समय चन्द्र बिन्दु संयुक्तं कह देते तो मान लेते। हम अपनी तरफ से चन्द्रबिन्दु क्यों जोड़ें ? दक्षिण में बंदर की पूँछ के समान लिखने की प्रथा है। जब लिखने की बात आयेगी तो—"**न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो**" जब ओम् में ही गड़बड़ हो रहा है तो आगे क्या होगा? दोनों हाथों को मिलाने पर चन्द्रमा का आकार बनता है। वह सिद्धशिला का प्रतीक है, उसमें अंगुलियाँ सिद्ध परमेष्ठी के समान हैं। सिद्धालय में सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं उनको नमस्कार हो। उसी तरह ज्ञान, ध्यान से परिपूर्ण पञ्च नमस्कार मन्त्र निर्जरा के लिए है। कुछ लोग इसे कर्मबन्धन का कारण मानते हैं, स्वाध्याय में ही कर्म निर्जरा

मानते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने लिखा है कि–प्रतिक्रमण, वंदनादि में स्वाध्याय गर्भित हो जाता है। ॐ में चन्द्र को स्थान कैसे दिया, कहाँ से प्रवाह चालू हुआ, ज्ञात नहीं। **णमोकार मन्त्र के जाप व ध्यान से उत्कृष्ट कर्म निर्जरा होती है ऐसा श्री धवला में कहा है। पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप तप है** और आज स्वाध्याय को ही परम तप माना जा रहा है। पञ्चपरमेष्ठी का जाप पदस्थध्यान में आ जाता है अतः **प्रतिक्रमण, जाप, स्तुति भी स्वाध्याय है। वीरसेन स्वामी** कहते हैं–णमोकार मन्त्र ''**कम्मभोयण पच्चायण सोयण...।**'' भोजन के पहले, सोने के पहले पढ़ना चाहिए। जहाँ पर पाठ है, वहाँ पाठ करे, ध्यान के समय ही ध्यान और सामायिक के समय ही सामायिक करें। विधिवत् यथोचित छह आवश्यकों का पालन किया जाता है तो पूरे-पूरे नम्बर मिलते हैं। इस टीका के अनुसार तीन गुप्तियों के साथ भी शुभोपयोग कहा है। त्रिगुप्ति का आलम्बन लेकर पञ्च परमेष्ठी के गुणों का स्मरण रूप मन से उच्चारण करके जाप करना शुभोपयोग रूप गुप्ति है और जो इनके आलम्बन से ऊपर उठ जाते हैं, वह शुद्धोपयोग रूप त्रिगुप्ति है। समवसरण में जो स्थित हैं, जिनकी दिव्यध्वनि खिर रही है वे अरहंत परमेष्ठी हैं। इस प्रकार चिन्तन किया जाता है। भक्तिपूर्वक मन्त्र का स्मरण, आराधना करना भी अन्त में कार्यकारी होता है। जिसने मन और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता को अपने आधीन कर लिया है, वही ध्याता का लक्षण है। इन्द्रियविजय, कषाय विजय, परिग्रह त्याग व मन को नियंत्रण किए बिना ध्यान ''**न भूतो न भविष्यति**'' असम्भव है। आराधना के बिना कोई रास्ता नहीं है। हे भगवान् ! जीवन के आदि से अन्त तक आपकी स्तुति की है उसका फल और कुछ नहीं चाहिए, मात्र ''**कण्ठोऽस्त्व कुण्ठो मम**'' अन्त में नाम लेते-लेते ही कण्ठ अस्त हो, गुरु से अन्य भी मन्त्र प्राप्त हो उसका आस्था से जाप, चिन्तन, मनन, ध्यान किया करो। इससे भी कर्म निर्जरा होती है। मन्त्र ज्ञाता गुरु से ''**मा तुष मा रुष**'' मन्त्र मिला था, वह भूल गये फिर भी ''तुष माष भिन्नं'' रटने से केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई और जिन्होंने जीवनपर्यन्त उपाध्याय परमेष्ठी का काम किया फिर भी उनके मुख से भी णमोकारमन्त्र का उच्चारण अन्त में नहीं निकल पाता है, ऐसा भी सम्भव है। बाहर से भले जिह्वा से नहीं बोल पा रहे हैं, सुन नहीं पा रहे हैं फिर भी अन्तरंग में णमोकार मन्त्र चलना चाहिए। एक साधक जिनसे बोलते, सुनते नहीं बन रहा था, किन्तु माला हाथ में दी तो णमोकार मन्त्र भीतर ही भीतर चलना प्रारम्भ हो गया, मोती खिसकाने लगा। भक्ति सहित णमोकारमन्त्र की आराधना अभी से प्रारम्भ कर देना चाहिए, यह दुर्लभ है। जब तक शरीर में शक्ति है तब तक तो ठीक है, किन्तु जब शक्ति नहीं रहेगी तब क्या करोगे ? आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है–दुख को सहन करने की क्षमता प्राप्त कर लेना चाहिए। ध्याता का लक्षण ''गुप्त इन्द्रियमना'' इन्द्रिय और मन को जिन्होंने UNDER में कर लिया है, वह ध्याता है। जो यह कार्य किये बिना ध्यान प्रारम्भ करता है, उसके लिए कहा है कि–सिर के बल पत्थर तोड़ने का प्रयास कर रहा है। यह तो फिर भी ठीक है किन्तु ध्यान लगाना असम्भव है, दूसरी बात कहते हैं बन्ध्या का पुत्र हो सकता है,

पंच परमेष्ठी

उसकी शादी हो सकती है और उसकी शादी में आकाश पुष्प से पाण्डाल सज सकता है, गधे के सींग हो सकते हैं, किन्तु इन्द्रिय मन को जीते बिना ध्यान सम्भव नहीं। सुई के छेद में से ऊँट निकल सकता है किन्तु गृहस्थी में यह पिण्डस्थ ध्यान सम्भव नहीं, ऐसा ज्ञानार्णवकार ने कहा है। शुभोपयोग के माध्यम से पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान बहुत प्रकार का होता है। एक गृहस्थ संयमासंयमी, साधु, उपाध्याय, आचार्य परमेष्ठी भी पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान कर रहे हैं लेकिन सबका एक-सा शुभोपयोग है क्या? नहीं। आचार्य परमेष्ठी वो हैं जो स्वयं प्रायश्चित्त लेते हैं, अपने पूर्व आचार्य की साक्षीपूर्वक या अरहंत परमेष्ठी के समक्ष ले लेते हैं। दुराव-छिपाव वाली बात ही नहीं है। आचार्य परमेष्ठी भी पञ्चपरमेष्ठी की आराधना निष्पक्ष रूप से करते हैं। कभी छुट्टी नहीं लेते हैं। जो छुट्टी लेते हैं, उनको ध्यान में रखते हैं पर स्वयं छुट्टी नहीं लेते हैं। आराधना किये बिना रास्ता ही नहीं हैं। यह व्यवहार ध्यान के लिए ध्येयभूत है। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ इन तीनों ध्यान के ध्येय रूप ये पाँच परमेष्ठी हैं, उसमें प्रथम अरहंत परमेष्ठी का वर्णन करते हैं।

अरहंत का स्वरूप व ध्यान की प्रेरणा

णट्ठ-चदुघाइ कम्मो दंसण-सुह-णाण-वीरिय-मईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

अर्थ—चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले, अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख व वीर्य रूप अनन्त-चतुष्टय के धारक, शुभदेह-उत्तम शरीर में विराजित तथा शुद्धात्मा रूप अरिहंत का ध्यान करना चाहिए।

घाति -कर्म चउ समाप्त करके शुद्ध हुए जो आप्त हुये।
अनन्त-दर्शन अनन्त-सुख-बल पूर्ण- ज्ञान को प्राप्त हुये॥
परमौदारिक तन-धारक हो परम पूज्य अरहन्त हुये।
इन्हें बनाओ ध्येय ध्यान में जय! जय! जय! जयवंत हुये ॥५०॥

व्याख्या—पहले सप्तधातुमय शरीर था अब परमौदारिक शरीरस्थ है। मात्र केवलज्ञान/क्षायिकज्ञान के द्वारा केवली भगवान् अनन्त को जान नहीं सकते। इस पर थोड़ा विचार कर लें। ज्ञान का स्वभाव जानना है, ठीक है पर एकान्त से नहीं क्योंकि अनन्त शक्ति के बिना अनन्त ज्ञान अनन्त को जान नहीं सकता। प्रकाश आता है बल्ब में, लेकिन करंट प्रवाहित हो तब। वह करंट यदि कमजोर है तो सही तरह से प्रवाहित नहीं हो सकता है। औषधि जो है वह रोग दूर करती है किन्तु रोगी उसको पचा पाता है या नहीं? यह जानना आवश्यक है। चरक शास्त्र पढ़ने मात्र से वैद्य नहीं बनते हैं, उसी प्रकार अनन्त सुख, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान ये तीनों गुण अनन्तवीर्य के बिना अनुभव में नहीं आयेंगे, लेकिन आज तो चतुर्थ गुणस्थान में १४ गुणस्थानातीत का अनुभव हो रहा है। केवलज्ञान की किरणें फूट रही हैं, दिवाकर दिखने लग रहा है यह मान्यता सत्य नहीं है। वास्तव में केवलज्ञान उन्हें

प्राप्त होता है जिनके सर्वघाति स्पर्धकों का पूर्ण क्षय हो गया हो, उसके पहले वह प्रकट नहीं होता। चार ज्ञान के साथ केवलज्ञान की व्याप्ति नहीं। केवलज्ञान की किरणें मतिज्ञान के साथ प्रकट नहीं हो सकती। चार ज्ञान क्षयोपशमिक तथा केवलज्ञान क्षायिक है। केवलज्ञान राजा है, पूज्य है और मतिज्ञान आदि पुजारी हैं।

मोहनीय के क्षय का कार्यक्रम चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है, दसवें में पूर्ण क्षय कर लेता है। दर्शनमोहनीय के क्षय के लिए अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना आवश्यक है। चतुर्थ गुणस्थान में विसंयोजना कर ५, ६, ७ वें गुणस्थान में दर्शनमोहनीय का क्षय कर सकता है किन्तु दर्शनमोहनीय का क्षय पहले कर ले और सातवें गुणस्थान में विसंयोजना कर ले ऐसा नहीं हो सकता। पहले विसंयोजना करेगा फिर आठवें आदि गुणस्थान में अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान आदि का क्षय क्रम से करता है। दर्शनमोहनीय का क्षय–४ से ७ वें गुणस्थान में और चारित्रमोहनीय का क्षय दसवें गुणस्थान के अन्त में और बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का क्षय यह क्रम बताया है। घातिया कर्मों का घात करने का ही स्वभाव है इनके द्वारा कुछ नहीं मिलता। अघातिया में लेन–देन होता है। मिठास के कारण चींटियाँ इर्द–गिर्द घूमती रहती हैं या दीपक के चारों ओर पतंगे घूमते हैं उसी प्रकार अघातिया कर्म हैं। मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्, क्षायिक चारित्र उत्पन्न होते हैं। सिद्धत्व रूप पर्याय आठों कर्म के क्षय से होती हैं इसी प्रकार घातिया कर्म के क्षय से अनन्त चतुष्टय हुआ। सहज सुख अर्थात् कर्माधीन, पराश्रित, विषयाश्रित जो सुख था वह स्वाश्रित हो गया। सप्त धातु से रहित का अर्थ हड्डी खून आदि से रहित नहीं लेना किन्तु उनमें जो सड़न गलन थी, उसका अभाव लेना। जैसे–बर्फ पर वस्तु रखने से सड़ती–गलती नहीं। क्षयोपशम भाव के साथ भोजन आदि वीर्य रूप में परिणत हो जाता है लेकिन वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्तवीर्य प्रकट होता है। अग्नि के माध्यम से दूध में जो उबलन है वह क्षयोपशमिक जैसा है और जो आइस्क्रीम रूप जम गया वह क्षायिक जैसा है, इसमें वह उबलन नहीं है। इसी प्रकार निगोदिया जीवों के सद्भाव से पहले सड़न–गलन आदि होता था लेकिन अब निगोदिया जीवों का निष्कासन होने के कारण आइस्क्रीम के समान उबलन मिट गया। नोकर्म वर्गणाओं के द्वारा अब उनका शरीर चलता रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लेकर आयु कर्म की उदीरणा तारतम्यता से होती है। जैसे–आटे की मर्यादा वर्षा में तीन दिन की, गर्मी में पाँच दिन की और सर्दी में सात दिन की होती है। दूध और आइस्क्रीम में जैसा अन्तर है वैसा ही होनहार भगवान् और भगवान् में अन्तर है। प्रभु में विस्मय नहीं होता है। भगवान् १८ दोषों से रहित हैं लेकिन १८ दोष हमारे स्वभाव जैसे बन गये हैं, यह मोह की महिमा है। क्षुधा आदि ज्यादा होने से ज्यादा कर्म बँधते हैं। गम्भीर प्रवृत्ति के व्यक्ति जिस किसी से प्रभावित नहीं होते। जैसे–१०–१५ वर्ष के दीक्षित क्षुल्लक भी ८० वर्ष के गृहस्थ जैसे हर किसी वस्तु को देखकर विस्मित नहीं होते हैं।

अर्हन्–अरि अर्थात् शत्रु, हन्–हनन करने वाले। अरिहंत की जगह अरहंत पाठ और अच्छा है। 'अर्ह' शब्द पूजा के योग्य अर्थ में आता है। अर्थात् पञ्चकल्याणक के योग्य हैं वे अरहंत हैं। अरि अर्थात् मोहनीयकर्म के क्षय का वाचक है। अरिहंत भगवान् के चिन्तन के लिए सहस्रनाम का अर्थ सहित चिन्तन करें तो घंटों निकल सकते हैं। एक शब्द आता है 'अनन्त भोग' अपने शुद्ध ज्ञान तत्त्व का ही भोग करते हैं। पाँच मिनट इस पर सोचें फिर आगे बढ़ जाएँ। इन नामों का रात भर भी चिन्तन करें तो कम है, इससे नींद नहीं आ सकती। सहस्रनाम के पाठ में अरिहंत भगवान् का चिन्तन हो जाता है। बूढ़े लोग इसका पाठ करते हैं तो तुम लोग ध्यान करो। यह तो स्तुति है स्वाध्याय नहीं, ऐसा लोग कहते हैं यह ठीक नहीं है। सहस्रनाम का पाठ आजकल आरम्भ के साथ किया जाता है। टेप चलती रहती है और पाठ हो जाता है।

स्वाध्याय को साध्य न बनाइए। स्तुति में दोष नहीं लगाना चाहिए। पहले के लोगों को भक्तामर, सहस्रनाम और पूजा मुखाग्र रहती थी, एक साधक थे जिनको तीन प्रकार की छहढाला याद थी, आप लोग टेप रिकार्ड बंद करोगे तब याद होगा। सर्वज्ञ यहाँ इस क्षेत्र में नहीं हैं। क्षेत्र की अपेक्षा भूगोल, सर्वकाल अर्थात् इतिहास, कब कहते ही काल इतिहास आ जाता है। कहाँ कहते ही क्षेत्र अर्थात् भूगोल आ जाता है। "**खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धं**" पुष्प आकाश में नहीं हैं तरु पर तो होते हैं और पेड़ आकाशद्रव्य में है, अतः आकाश में पुष्प हैं। गधे के सींग नहीं होते हैं ऐसा नहीं। गधे पर कोई जानवर बैठा है उसके तो सींग हैं। जब होली का उत्सव होता है तो गधे पर बिठाकर जुलूस निकालते हैं तब गधे के सींग लगा देते हैं। जो जगत्त्रय कालत्रय को नहीं जानने वाला है वह सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता। आप रहते भूतल पर हैं और चलते हैं आकाश में, तभी तो प्रशस्त–अप्रशस्त विहायोगति कहा है। एक पैर भूतल पर होता है दूसरा आकाश में होता है। जिस किसी व्यक्ति के प्रश्न के उत्तर देने की कोशिश नहीं करना चाहिए। सभी लोग उत्तर की समीचीनता चाहते हैं। हम प्रश्न की पहले समीचीनता चाहते हैं। पहले स्वाध्याय फिर प्रश्न होना चाहिए क्योंकि बिना पढ़े भी चाहे जहाँ से सुने हुए प्रश्न पूछ लेते हैं और स्वाध्यायशील को भी असमंजस में डाल देते हैं पूर्व पक्ष क्या है, सर्वप्रथम इसका हेतु जान लेना चाहिए। स्वाध्याय शील व्यक्ति को अपनी धारणा मजबूत रखना चाहिए।

संस्मरण–दक्षिण में पहली, दूसरी कक्षा में कहानी आती थी छोटे–छोटे कीड़े कहीं जा रहे थे कि एक पत्ता ऊपर से गिर गया तो कीड़े ने कहा–आसमान गिर रहा है तो सब कीड़े भागने लग जाते हैं इसी प्रकार एक ने सर्वज्ञ को अनुपलब्ध कहा तो सभी अनुपलब्ध कहने लग जाएँ तो उससे सर्वज्ञ का अभाव नहीं मान सकते। जैसे–एक को परमाणु का ज्ञान नहीं है तो क्या सभी को ज्ञान नहीं है, ऐसा कह सकते हैं क्या? "**दीपस्तमः पुद्गल भावतोस्ति**" प्रकाश का अभाव होने से दीपक का अभाव तो नहीं कह सकते। हाँ, अंधकार की अपेक्षा से प्रकाश का अभाव है। एक लेख आया था–जो

मेरु स्वर्ग को छू रहा है वह देखने में नहीं आ रहा है, इसलिए वह नहीं हैं। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। यहीं का जब एक किलोमीटर दूर का देखने में नहीं आता तो फिर जम्बूद्वीप के बीचों-बीच मेरु है और आप भरतक्षेत्र में हैं, यहाँ से हजारों योजन प्रमाण दूरी है तो कैसे दिख सकता है? इसके लिए दिव्य आँखें चाहिए तब दिखेगा, सूर्य को देखने पर कुछ दिखता नहीं है तो वह कैसे दिखेगा ? हमारा आभिनिबोधिक क्षायोपशमिक ज्ञान है, इसलिए ज्यादा दूर का नहीं दिख सकता। अन्वयदृष्टान्त–सद्भाव में और व्यतिरेक अर्थात् अभाव में। शास्त्र कभी नहीं कहता है कि तुम गलत अर्थ निकाल रहे हो। जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति के लिये दर्पण उदासीन है। उसी प्रकार स्वयं बुद्धिहीन व्यक्ति के लिए शास्त्र उदासीन है, कुछ उपकार नहीं कर सकता है। ''**आगम मित्रवत्, आदेश शत्रुवत् कथ्यते**'' ऐसा व्याकरण में कहा जाता है, इसलिए कई लोग गुरु से मतलब नहीं रखते हैं आगम से काम निकाल लेते हैं।

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप व ध्यान की प्रेरणा

णट्ठट्ठ-कम्म-देहो लोया-लोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोय-सिहरत्थो ॥५१॥

अर्थ—अष्टकर्म रूपी शरीर अथवा अष्टकर्म एवं शरीर को नष्ट कर, लोकाकाश व अलोकाकाश को जानने-देखने वाला, पुरुष के आकार का धारक तथा लोक शिखर पर विराजमान सिद्धात्मा का ध्यान करो।

लोक शिखर पर निवास करते तीन-लोक के नायक हैं।
लोकालोकाकाश तत्त्व के केवलदर्शक-ज्ञायक हैं॥
पुरुष रूप आकार लिए हैं 'सिद्धातम' हैं कहलाते।
स्व -तन-कर्म को नष्ट किये हैं ध्यावें उनको हम तातैं ॥५१॥

व्याख्या—पञ्चपरमेष्ठी में सिद्ध पद सभी के लिए उपादेय है और सभी उस पद की प्राप्ति के लिए परम्परा से कारण है। रोगी व्यक्ति स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की हर समय प्रशंसा करता रहता है। इस प्रकार दुनिया के सारे ध्यानों को छोड़कर स्वस्थ (सिद्ध परमेष्ठी) का ही ध्यान करने से वह रोगी भी स्वस्थ हो जाता है। सिद्ध परमेष्ठी सात राजू ऊपर बैठे हैं हम उनको ध्यान का विषय बना रहे हैं क्योंकि आठ कर्मों का अभाव होने से उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। यदि ऐसी स्वतन्त्रता चाहते हैं तो जिन्होंने आत्मा को स्वतन्त्र कर लिया है। ऐसे 'णमो सिद्धाणं' का ध्यान करना चाहिए। जिनका अरहंत परमेष्ठी भी ध्यान करते हैं जो कि परम्परा से रूपातीत निश्चयध्यान का कारण है। यह ज्ञानी के उपयोग की कुशलता है, जो यद्वा-तद्वा साहित्य पढ़कर अपना एक समय भी खर्च नहीं करता है मौलिक तत्त्वों को छोड़कर जो इधर-उधर की बातों में अपना समय लगा देता है, वह समय अनर्थदण्ड की कोटि में आ जाता है। जिसके पठन-पाठन चिन्तन करने से आत्म तत्त्व के

सन्मुख हो जाए वही साहित्य–शास्त्र की कीमत है जो असंख्यात गुणी निर्जरा में कारण है। जैसे–स्नान करते हैं तो जल कण शरीर पर रह जाते हैं तब या तो धूप में खड़े हो जाते हैं या तौलिये से सुखा लेते हैं उसी प्रकार नष्ट कर दिया है आठों कर्मों को और शरीर को जिसने, ऐसे वे सिद्ध भगवान् लोकालोक के जानन–देखनहार हो गये। ''**पुरिसायारो अप्पा**'' निरोगी के बारे में सोचने से निरोगता होती है। प्रत्येक समय जो सिद्ध भक्ति में, सिद्ध स्वरूप के चिन्तन में अपने उपयोग को लगाते हैं तो उपगूहन हो जाता है। ''**जो सिद्ध भत्ति जुत्तो...।**'' सिद्ध क्या है? बट्टा रहित, उपमारहित, तुलना रहित निर्मल हैं जिन्हें छू नहीं सकते, देख नहीं सकते, लोकशिखर पर विराजमान हैं ऐसे सिद्ध भगवान् हैं। भूत–भविष्य का न सोचकर मात्र अमूर्त–शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी को अपने उपयोग का विषय बनाइये। सातवें अध्याय की व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार ने कहा है–काव्य ख्याति में जो समय जा रहा है, वह अनर्थदण्ड में आ जाता है, क्योंकि दुनिया की बातें विषयों की ओर ले जाने वाली हैं। आज ही एक व्यक्ति पुस्तक लेकर मेरे पास आया था और बोला–यह पुस्तक कीमती है आप अवश्य पढ़ें। मैंने कहा–सबसे ज्यादा समय कीमती है, समय गया तो सब चला गया। कार्य हो किन्तु समय पर हो। पेपर में तीन घंटे में नहीं लिख पाये तो फिर कुछ नहीं कर सकते। पुनः एक वर्ष बाद ही मौका आयेगा। **सब कुछ देओ, पर समय किसी को नहीं देना और किसी से लेना भी नहीं।** समूह में एक हजार व्यक्ति सुन रहे हैं तो एक हजार घंटे हो गये। जैसे–समवसरण में मनुष्य, तिर्यञ्च, देव–देवी आदि असंख्यात लोग दिव्यध्वनि का लाभ ले लेते हैं। छठवीं ढाल में यह बात आती है।

जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहाँ।
चिद्‌भाव कर्म चिदेश कर्त्ता, चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न-अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान व्रत, ये तीनधा एकै लसा॥

इन चार पंक्तियों में आनन्द की झड़ी भर दी। ''**चेतना किरिया तहाँ**'' चेतन ही कर्त्ता–भोक्ता होता है। जिसका मुख अशुद्ध हो उसको शुद्ध स्वाद आ नहीं सकता। बाहरी वस्तुओं से शुद्धि नहीं होती है। पेट शुद्ध (ठीक) है तो सब ठीक रहता है अन्यथा मुख में सौंफ, इलायची, लौंग आदि रखने से भी मुख शुद्ध हो नहीं सकता। जिसका पेट ठीक रहता है वह कुल्ला करके छोड़ देता है तो भी उसका मुख शुद्ध हो जाता है। बाहरी क्रियाओं को छोड़कर मात्र शुद्ध आत्म तत्त्व का आश्रय जिन्होंने लिया, उनके घंटों–घंटों क्या वर्षों–वर्षों तक आत्म साधना में निकल जाते हैं। **यदि वैराग्य बना रहा तो कहीं पर भी रहो समय का पता नहीं चलेगा।** मोह की परत जमा होने से यह झरना नहीं फूटता है। सौ फीट नीचे भी झरना है, परतें जमीं हैं, लेकिन ऊपर अकाल पड़ जाता है। खुद खोदो और झरने का लाभ उठाओ। इस झरने का लाभ लेते हुए योगी को काल पता नहीं चलता है। वैराग्यभावना में कहा है–''**सुख सागर में रमत निरंतर जात न जान्यो कालो**'' मोक्षमार्ग में वैराग्य है तो कोटि पूर्व
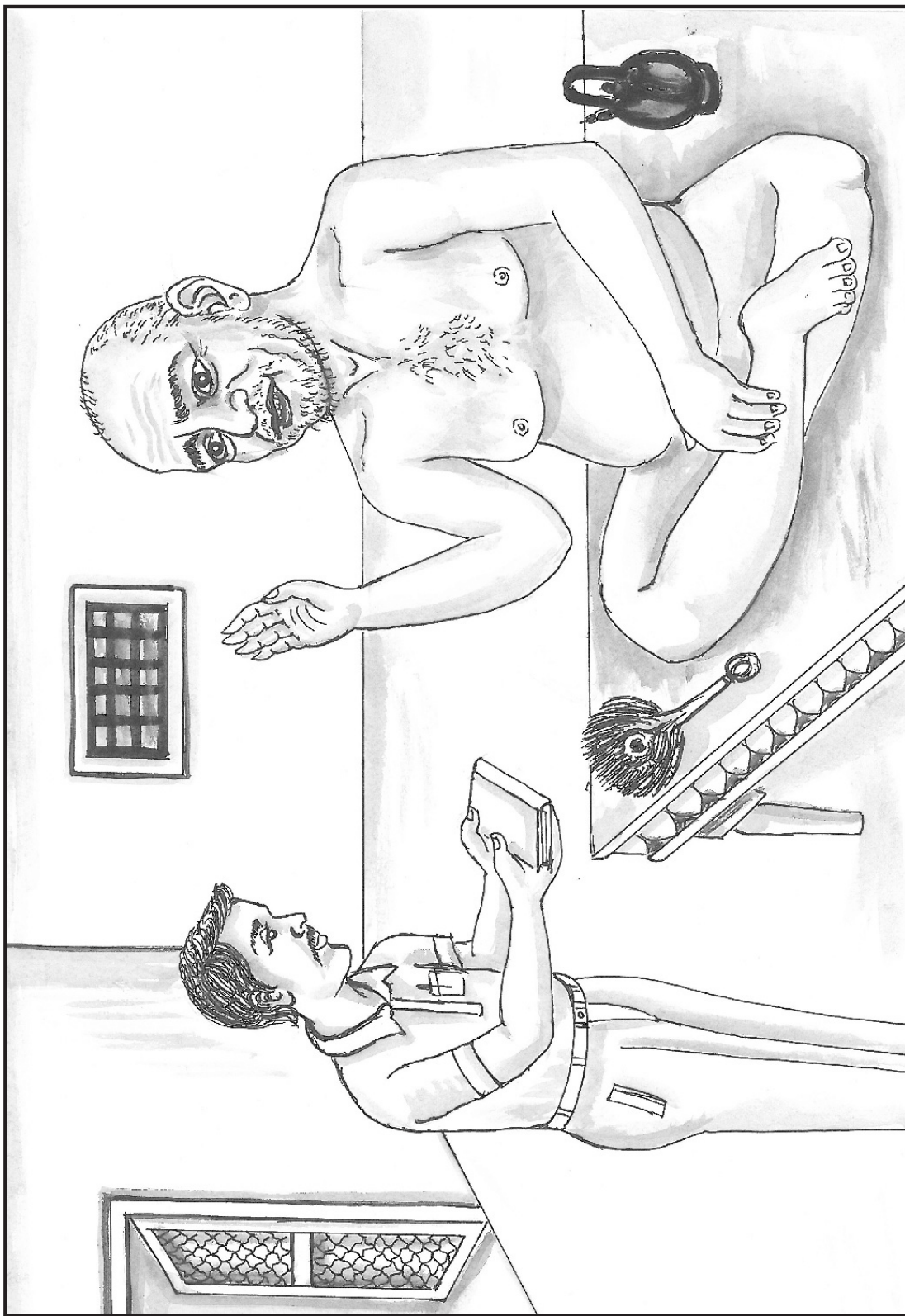
आचार्य श्री के पास एक व्यक्ति पुस्तक लेकर आया, उसमें घमण्ड झलक रहा था। आचार्य श्री ने मुस्कान के साथ कहा – पुस्तक से ज्यादा समय बहुत कीमती है।

वर्षों तक जंगल में रह जाते हैं। कभी-कभी आहार को आ जाते हैं, फिर जंगल चले जाते हैं। तुम्हारा भी वैराग्य यदि रहेगा तो **जात न जान्यो कालो** वाली बात होगी। समय चुटकी बजाते-बजाते निकल जाता है। जहाँ पर अभाव खटकता है वहाँ पर कठिनाई होती है, भाव-अभाव से ऊपर आत्मा के चिन्तन में समय का पता ही नहीं चलता। दुख का समय बहुत कठिनता से निकलता है, जो परिश्रम न समझ कर कर्मों को काटने के लिए तप करते हैं। वे कहीं पर भी चले जाएँ हर जगह मंगलमय वातावरण मिलता है। पुराण पुरुषों की कथा पढ़िये। **महापुरुषों का पुण्य इतना तेज रहता है कि जंगल में भी रक्षा हो जाती है। पाप उदय में महलों से भी बाहर जाना पड़ता है, यह पाप-पुण्य का खेल है।** श्री कृष्णजी का जेल में जब जन्म हुआ तब यमुना नदी पार करनी थी तो एक नाग उनकी रक्षा करता है, पुण्य से अनेकों जीव रक्षा के लिए आ जाते हैं। जहाँ जाते हैं, वहाँ उनका गोकुल जमता जाता है। संयोग-वियोग में समता रखकर कर्म का खेल समझते हैं। ''**लोयसिहरत्थो**'' लोक के शिखर पर खड़े हैं। लोकालोक के समस्त पदार्थ की सामान्य सत्ता को ग्रहण करने की क्षमता दर्शन में है तो आत्मा को ग्रहण करने वाला दर्शन तथा पर को ग्रहण करने वाला ज्ञान यह बात गलत सिद्ध हो जाती है। व्यवहार से भूतपूर्व नय से मोम के साँचे के समान सिद्धों का आकार मात्र रह जाता है। यही पुरुषाकार का मतलब है। निष्कल-कल अर्थात् शरीर उससे रहित, शरीरातीत सिद्धप्रभु का ध्यान करो। जिनकी शकल देखने में आती है, वे सकल परमात्मा हैं। कल रहित (गुणस्थानातीत) सिद्ध निकल परमात्मा माने जाते हैं। अंजनचोर आँखों में अंजन लगा लेता था तो किसी को देखने में नहीं आता था, ये अंजन सिद्ध हैं। बहुत दिन पहले की बात है, हमने पाण्डवपुराण पढ़ा था पाण्डु राजा था, उन्हें शादी से पूर्व एक मुद्रिका मिल जाती है। उसमें एक हीरे का नग था। उसके प्रयोग से वह किसी को दिखते नहीं थे। इसी के माध्यम से उन्होंने विवाह के पहले सम्बन्ध स्थापित किया था। ऐसी सिद्धियाँ करके चमत्कार दिखाते हैं। विद्याधर की नगरियों में यही कार्य चलता रहता है। विजयार्द्ध में यह एक व्यवसाय है। रावण के बारे में रविषेण महाराज ने लिखा है कि-रावण जितनी एकाग्रता से विद्या सिद्ध कर रहा है उसका शतांश भी एकाग्रता से धर्म्यध्यान करता तो केवलज्ञान प्राप्त हो सकता था, लेकिन वह रौद्रध्यान का कार्य था। रौद्र और धर्म्य दोनों ध्यान होते हुए भी QUALITY दोनों की भिन्न हैं।

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

दंसण-णाण-पहाणे वीरिय-चारित्त- वरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आइरिओ मुणी झेओ ॥५२॥

अर्थ—दर्शनाचार एवं ज्ञानाचार की प्रधानता सहित श्रेष्ठ वीर्याचार, चारित्राचार तथा तपाचार रूप पाँच आचारों में जो स्वयं को और... पर अर्थात् शिष्यजनों को भी लगाते हैं, वह आचार्य ध्यान करने योग्य है।

दर्शन-ज्ञानाचार प्रमुख कर चरित-वीर्य-तप खुद पाले।
पालन करवाते औरों से शिव-पथ पर चलने वाले॥
ये हैं मुनि 'आचार्य' हमारे पूज्यपाद पालक प्यारे।
ध्यान इन्हीं का करें रात-दिन विनीत हम बालक सारे ॥५२॥

व्याख्या—पञ्चाचार धारण किये बिना शुद्धात्मानुभूति नहीं होती है, इनमें ज्ञान दर्शन प्रधान हैं। जिस प्रकार सात तत्त्व, छह द्रव्य में आत्म तत्त्व और आत्म द्रव्य प्रधानभूत है। इसी प्रकार पञ्चाचार में ज्ञान, दर्शन प्रधानभूत हैं। उसमें स्वयं को और पर को जो नियुक्त करते हैं वे आचार्य परमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने कितना बड़ा काम किया है। श्वेताम्बर आदि जो मत थे, उसका डटकर मुकाबला किया था। यदि कुन्दकुन्दस्वामी नहीं होते तो सारा मैदान साफ हो जाता। **अध्यात्म नहीं होता तो वैराग्य चौपट हो जाता।** उद्दण्ड और विषय कषायी मन को अंकुश लगाने वाला अध्यात्म है, इसमें किसी की अरुचि नहीं होती। एकाध घंटा और दे दो तो और अच्छा, ऐसा लगता है, यह आचार्यों की करुणा है। **यदि हम होते तो कुन्दकुन्दस्वामी को नहीं छोड़ते, उनकी निकटता के लिए वैसी साधना भी करनी होगी।** आचार्य ज्ञानसागरजी, आचार्य समन्तभद्रस्वामी, आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी, आचार्य वीरसेनस्वामी आदि सभी मिल जायेंगे स्वर्ग में। यदि ऊपर नहीं हैं तो विदेहक्षेत्र में जाओगे वहाँ तीर्थंकर के समवसरण में देवों के कोठे में मिल जायेंगे। अकेले चलना और दूसरों को साथ लेकर चलने में बहुत अन्तर है। प्रत्येक क्षण पञ्चाचार में समता के द्वारा निकालते हैं क्योंकि प्रत्येक कार्य मन के अनुकूल नहीं होता, कर्म के अनुसार होता है। श्रुतज्ञान की आराधना से मन को शान्त करना पड़ता है। आत्म तत्त्व को सुरक्षित करते हुए मन की बाढ़ को कंट्रोल करना बहुत कठिन है। बहती हुई नदी की बाढ़ को नियंत्रण में लाना बहुत कठिन है। मन इससे भी ज्यादा खतरनाक है। एक समय के लिए भी मोक्षमार्ग में कर्तृत्व नहीं चलता, क्योंकि इसमें अहं भाव आ जाता है, जबकि मोक्षमार्ग में कर्त्तव्य चलता है। शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ कोई पर सम्बन्ध नहीं रहता सिर्फ आत्मसात् रह जाता है। आत्मा के साथ कुछ भी नहीं जोड़ो, यदि जोड़ो तो अपने ज्ञान-दर्शन आदि गुणों को ही जोड़ो। मोक्षमार्ग आचरणमय होता है। मोक्षमार्ग में श्रद्धान की मुख्यता होती है। यहाँ पर निश्चय चारित्र का अर्थ यथाख्यात चारित्र नहीं लिया किन्तु आत्म तत्त्व में रमणता को लिया है। तद्रूप परिणमन का आधार ही निश्चय ज्ञानाचार है, निश्चल, संतुष्ट, प्रसन्नचित्त स्वस्थ हो जाना निश्चय चारित्राचार है, जितने भी पर द्रव्य हैं उनकी इच्छा का त्याग निश्चयतप कहलाता है। णमोकारमन्त्र की यथातथानुपूर्वी से माला फेरने से मन्त्र की साधना बहुत जल्दी हो जाती है, मन बहुत जल्दी एकाग्र हो जाता है। जैसे–"**णमोलोए सव्वसाहूणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो अरहंताणं, णमो उवज्झायाणं।**" कण्ठस्थ होते हुए भी पुस्तक साथ में रखकर उच्चारण करने से एकाग्रता बनी रहती है। इससे मन इधर-उधर नहीं भागता है।

आर्यिकाएँ उपचार से महाव्रती होने से संयतासंयत लब्धिस्थान में ही स्थित रहती हैं। लब्धिस्थान व्रतों के संकल्प लेने से बढ़ते हैं, व्रत विशुद्धि की वृद्धि में कारण हैं। संकल्प लेने के उपरान्त उसमें और निखार लाने से संयम लब्धिस्थान बढ़ेंगे। भावों के अनुसार ही स्थान बनेंगे यद्यपि नम्बर कम होते हुए भी कक्षा बदल जाती है। महाव्रत सम्बन्धी संकल्प लेने से संयम लब्धिस्थान बढ़ेंगे। प्रथम गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में पहुँचने सम्बन्धी विशुद्धि विशेष रहती है इसी प्रकार बाह्य ६ तपों से इच्छा का निरोध होता है, लेकिन इच्छा हो गई तो उपवास कर लिया नहीं तो नहीं। किसी ने पूछा उपवास ठीक चल रहा है। हाँ, चल तो रहा है किन्तु पित्त भड़क रहा है तो इसमें भी निर्जरा कम हो जाती है। भिक्षु प्रतिमा में उपवास करना आदि यह बाह्य है जो कि अन्तरंग तप के कारण हैं। अपनी शक्ति छिपाओ नहीं सुनियोजित करो। चार आचारों की सुरक्षा के लिए वीर्याचार रखा गया है। कई लोग तप तो कम करते हैं, शक्ति ज्यादा समाप्त करते हैं, यह शक्ति खाने-पीने से नहीं आती यह वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। तपादि में रुचि पैदा करने से भी वीर्यान्तराय का क्षयोपशम बढ़ता है। आचार्य निश्चय पञ्चाचार में आपको रमण नहीं करा सकते। निश्चय पञ्चाचार में स्वयं को युक्त होना होता है लेकिन व्यवहार पञ्चाचार में आपको नियुक्त किया जा सकता है। ३६५ दिन तक पढ़ाया, यह व्यवहार पञ्चाचार है और परीक्षा में पेपर देते समय वे तुम्हारी ओर देखेंगे भी नहीं, बतायेंगे भी नहीं, स्वयं करना होता है। इसी प्रकार निश्चय पञ्चाचार में स्वयं को नियुक्त होना होता है।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

जो रयणत्तय-जुत्तो णिच्चं धम्मो-वदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदि-वर-वसहो णमो तस्स ॥५३॥

अर्थ—जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप) से सहित हैं, नित्य धर्म का उपदेश देने में निरत रहते हैं एवं यतिवर वृषभ-मुनिवरों में प्रधान हैं, वह आत्मा उपाध्याय है, उनके लिए नमस्कार हो।

भव्य - जनों को धर्म-देशना देने में नित निरत रहें।
तीन-रतन से मण्डित होते लौकिकता से विरत रहें॥
'उपाध्याय' ये पूज्य कहाते यतियों के भी दर्पण हैं।
मनसा-वचसा वपुषा इनको नमन कोटिशः अर्पण है ॥५३॥

व्याख्या—जिस प्रकार शिल्पी पत्थर में शिल्प कला के माध्यम से वीतरागता को भर देता है फिर उसे पत्थर नहीं समझते हैं, उसी प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी शब्दों से, भावों से, भेदाभेद रत्नत्रय का, आत्मा का विश्लेषण कर देते हैं। अनपढ़ से अनपढ़ व्यक्ति को भी बात समझ में आ जाती है। माँ जो होती है वह नासमझ बालक को तो गलत रास्ते पर जाने ही नहीं देती, किन्तु जो समझदार

बालक है उससे भी कहती है कि–जाना हो तो तुम जाओ लेकिन जो गये हैं, वे लौटकर आज तक नहीं आए। शब्दों के माध्यम से उपाध्याय भी दिशाबोध देकर उसमें अहं बुद्धि न करके धर्म का उपदेश देते जाते हैं। धर्मोपदेश में रत होते हुए भी उपाध्याय परमेष्ठी में तप की मुख्यता नहीं रत्नत्रय की मुख्यता है। धर्मोपदेश देने वाले ज्यादा तप नहीं कर पायेंगे लेकिन तप नहीं करते हैं ऐसा नहीं उनके जीवन में मुख्यता धर्मोपदेश की रहती है। जो धर्मोपदेश देता है और उसमें तत्परता रखता है, उसको तो हम ध्यान का विषय बना रहे हैं, लेकिन वो पहले रत्नत्रय का आराधक होना चाहिए। रत्नत्रय की आराधना करने वाला अनेक प्रकार की विकथाओं से दूर रहता है। जो बाह्याभ्यन्तर रत्नत्रय के अनुष्ठान में सदा परिणत रहते हैं और धर्मोपदेश देने में निरत रहते हैं। ''**अवाक् वपुषा मोक्ष स्वरूपं निरूपयंति आचार्य वर्यं**'' उनकी मुख मुद्रा को देखने से ही मोक्षमार्ग का साक्षात् प्ररूपण होता रहता है। उनके मुख से शब्द निकलें तो ठीक, नहीं भी निकलें तो उनकी चर्या से ही मोक्षमार्ग क्या है ज्ञात हो जाता है।

६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ इनमें स्व शुद्धात्मा ही उपादेय है। किसी ने व्यक्तियों की गिनती करने को कहा तो २० व्यक्ति थे, लेकिन १९ ही गिनती कर पाया, उसी प्रकार यह सारा का सारा संसार १९-२० में उलझा है। अब उसमें अपनी आत्मा को जान लो। उप + आ + अधि + आय् +अ, उप् शब्द निकट या उपचार रूप में, अधि शब्द अधिगम रूप में, आसमंतात्–चारों ओर से, निकट रूप से अपने आत्म तत्त्व का रत्नत्रय का अध्ययन करने वाले जो होते हैं, वे उपाध्याय हैं। निश्चय से सभी को उपाध्याय होना होता है अर्थात् स्व का अध्ययन करना होता है। शब्द निकटता का ज्ञान, वास्तव में अपने आपका ज्ञान करने का माध्यम है। जिस विषय का अध्याय होता है, तत् सम्बन्धी उसका ठोस ज्ञान, अनुभव होना चाहिए। अध्यक्ष–जिसका जो अध्यक्ष होता है, उसको उस विषय का ठोस ज्ञान होता है। अध्याय, उपाध्याय, स्वाध्याय–सुष्ठु रूपेण आसमंतात् अधिगम रूपेण 'अध्यक्ष' निकट रूपेण अधिगच्छति अथवा स्वस्य अध्याय इति स्वाध्यायः। अपना निकटता से अध्ययन स्वाध्याय है। अभ्यास हो जाता है तो अभ्यस्त होता है। एक दिन में अभ्यस्त नहीं हो सकता है। इन्द्रिय विजयी स्पर्श आदि की इच्छा नहीं करता है। इससे असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है। **प्रतिकूलता में भी प्रतिकूलता का अनुभव न हो प्रतिकार न हो तो विजय होती है।** जो आत्म तत्त्व के जितना निकट आयेगा वह उतना अभ्यस्त हो जायेगा। ''**जयति इन्द्रियाणि इति जितेन्द्रियः**'' स्वयं की इन्द्रियों को जीतना। विपरीत विषय आ जाए तो उसमें अरुचि नहीं होना यह भी इन्द्रिय विजय है। पाँचों इन्द्रियों का क्षयोपशम होने पर प्रतिकूल वातावरण होने पर भी प्रतिकार नहीं करने पर इन्द्रियविजय होता है। 'यतिवरवृषभ' उपाध्याय परमेष्ठी का वाचक है। भाव नमस्कार में प्रतिपल हाथ जोड़ना आदि नहीं होता है। मन के द्वारा गुणों का चिन्तन होता है। काय के द्वारा नमोऽस्तु करना, सिर झुकाना, प्रतिवंदना आदि द्रव्य नमस्कार और शब्दों से नमोऽस्तु

बोलना वचन रूप हो गया है शब्द के साथ भाव भी लगना चाहिए। स्तुति में वचनों से भी उच्चारण होना आवश्यक है। एक व्यक्ति है जो बोल नहीं रहा है इशारे से आहार देने की भावना कर रहा है वह गूंगा है तो आहार ले लेंगे क्या ? नहीं। वचनों से बोलना आवश्यक है। यह भी एक कमी मानी जाती है, क्योंकि द्रव्य शुद्धि के अन्तर्गत वचन शुद्धि भी मानी जायेगी। इस प्रकार यह उपाध्याय परमेष्ठी के व्याख्यान करने रूप गाथा समाप्त हुई।

साधु परमेष्ठी का स्वरूप

दंसण-णाण-समग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्च-सुद्धं साहू सो मुणी णमो तस्स ॥५४॥

अर्थ—दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्षमार्ग रूप और नित्य शुद्ध चारित्र को जो साधता है, वह मुनि साधु परमेष्ठी है उनको नमस्कार हो।

यथार्थ दर्शन तथा ज्ञान से नियम रूप से सहित रहे।
निरतिचार वह 'चारित ही है मोक्षमार्ग' यह विदित रहे॥
इसी चरित की 'साधु' साधना सदा सर्वदा करता है।
ध्यान-साधु का करो इसी से सभी आपदा हरता है ॥५४॥

व्याख्या—दर्शन, ज्ञान,चारित्र और तप इनका जो उद्योतन (प्रकाश) उद्योत, निर्वहण, साधन और निस्तरण है उसको सत् पुरुषों ने आराधना कहा है। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों आराधना के साधनभूत हैं। आराधना के माध्यम से शरणभूत शुद्धात्मा को साधते हैं। चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहा है लेकिन वह चारित्र कैसा है? तो दर्शन-ज्ञान से युक्त चारित्र है वही मोक्षमार्ग है। **'समग्गं'** यह शब्द परिपूर्णता के अर्थ में आया है।

सम्यग्दर्शन दीप-प्रकाशका - मेय- बोध -सम्भूताः।
भूरि चरित्र -पताकास्, ते साधु-गणास्तु मां पान्तु॥

चारित्ररूपी पताका को फहराने वाले साधु होते हैं, यही बात यहाँ कही जा रही है कि साधु चारित्र का अविनाभाव लिए दर्शन-ज्ञान सहित होते हैं। बारह भावनाओं का प्रभाव जल्दी पड़ता है, क्योंकि उसमें तन्मय हो जाता है। यहाँ कोई शरण नहीं है। साधुओं को प्रतिदिन बारह भावनाओं को भाते रहना चाहिए। भावनाओं का रस लेते रहना चाहिए। इससे मन एकदम फ्रेश हो जाता है। भावपूर्वक भक्ति करने से उसके संस्कार घंटों तक बने रहते हैं, क्योंकि वैराग्य उपावन माई कहा है। **योगि भक्ति** में कहा है—

जीवित मम्बु बिन्दु चपलं, तडिदभ्र - समा विभूतयः।
सकलमिदं विचिन्त्यमुनयः प्रशमाय वनान्त माश्रिताः॥

जिनकी बुद्धि पाँच पापरूपी नरक की खाई में गिरने से भयभीत है, वह प्रशम भाव के लिए,

एकाग्र होने के लिए वन में जाना चाहते हैं। वन के अन्त में चले गये क्यों? क्योंकि नरक की खाई में जाना नहीं चाहते। दुखों से बचना चाहते हैं, वही भवन तजकर वन का आश्रय लेते हैं। तभी साधना फलीभूत होगी। जब तक हम बाधक कारणों से डरेंगे नहीं तो हमारी साधना फलीभूत कैसे होगी? इसलिए बाधक कारणों को हटाओ, साधक कारणों को मजबूत बनाओ। जाप करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि दूसरों के कानों तक आवाज न जाए। व्यवहार सही होने पर ही निश्चय की ओर जा सकते हैं। आम्नाय या सामूहिक स्वाध्याय में एक आवाज से गाकर करने पर कानों से सुनना अच्छा लगता है। ये आम्नाय स्वाध्याय होना चाहिए। भावों के माध्यम से ही निर्जरा है। **निश्चय से आत्मा में ही ये पञ्च परमेष्ठी हैं इस कारण से आत्मा ही मुझे शरण है।** सिद्धचक्र विधान में पञ्च परमेष्ठियों के बारे में जो आनन्द आता है, वह कहीं नहीं आता। जो सुबह से शाम तक निराकुल भाव से पूजा करता है, उसे मात्र पूजन की दृष्टि से क्यों देखते हो? अष्ट द्रव्य चढ़ाना आदि बाह्य साधन हैं, इससे मन लगा रहता है। किसी का संगीत से, किसी का कर-ताल आदि से मन लग जाता है तो बिना निद्रा के रात भर निकाल देता है। ग्रामीण लोगों को आप देख लीजिए, नैनागिरजी में जो रात के १०-११ बजे से संगीत प्रारम्भ होता है और सुबह तो और जोश आता है। भले उसका अर्थ समझ में नहीं आता है। जैसे-जम्बूस्वामी ने रात-भर कथाओं के माध्यम से वार्तालाप किया। एक ओर राग की कथा दूसरी ओर वीतराग की कथा। **जिस व्यक्ति की दृष्टि प्रभात की ओर टिकी है, उसके लिए रात है ही कहाँ** ? और जिसकी दृष्टि राग की ओर टिकी है, उसके लिए वीतरागरूप प्रभात है ही कहाँ ? उसी प्रकार रागी व्यक्ति को ८-१० दिन के लिए सिद्धचक्र विधान में बाँध दिया जाता है, वह अपने सब ठाट-बाट भूल जाता है। इस विधान में संसारी से सिद्ध बनने की प्रक्रिया का विकास क्रम आता है। चक्रवर्ती आदि पूर्व कोटि वर्ष तक पुण्य का भोग करते हैं फिर छोड़ते हैं, लेकिन वह सम्पत्ति दूसरे के उपभोग में नहीं आती है। यह पुण्य का प्रतिफल छाया की तरह है वह पीछे लग जाता है चतुर्थ काल में सबको अपने में संतोष होता है लोभ प्रवृत्ति नहीं होती है। ताले लगाने की जरूरत नहीं होती है। घर में जो व्यक्ति निर्लोभी होता है, उससे कुछ छिपाया नहीं जाता है। स्वर्गों में भी १६ स्वर्ग में १२ इन्द्र हैं असंख्यात सम्यग्दृष्टि हैं वे सम्यग्दर्शन के माध्यम से परिणामों को सँभाल लेते हैं, हर पल उन्हें नश्वरता का ज्ञान होने से संतोष होता हैं। पञ्च परमेष्ठी का विधान करने वाला सिद्धचक्र विधान तक पहुँच जाता है। उसे स्वाध्याय रूप में मुनिराज भी कर लेते हैं। पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में एक जगह कहा है-**सम्यग्ज्ञान, पूजा, तप, विधानादि की प्रभावना का प्रभाव आस -पास, पड़ोस के लोगों पर भी पड़ता है।** अष्टाह्निका पर्वों में देवों की टोलियाँ जाती हैं, पूज्यपादस्वामी ने ऐसा जीवन्त वर्णन किया है जैसे-स्वयं देख के आये हों। "**दृष्ट-विकृतविशेषा:**" कहा है। अष्ट द्रव्य का रंग चढ़ गया। देव रंगे-रंगे से लग रहे हैं हल्दी कुम-कुम आदि से। दूसरा अर्थ यह है कि मुख पर उदासी छा रही है, उन्हें वहाँ से जाना अच्छा नहीं लग रहा,
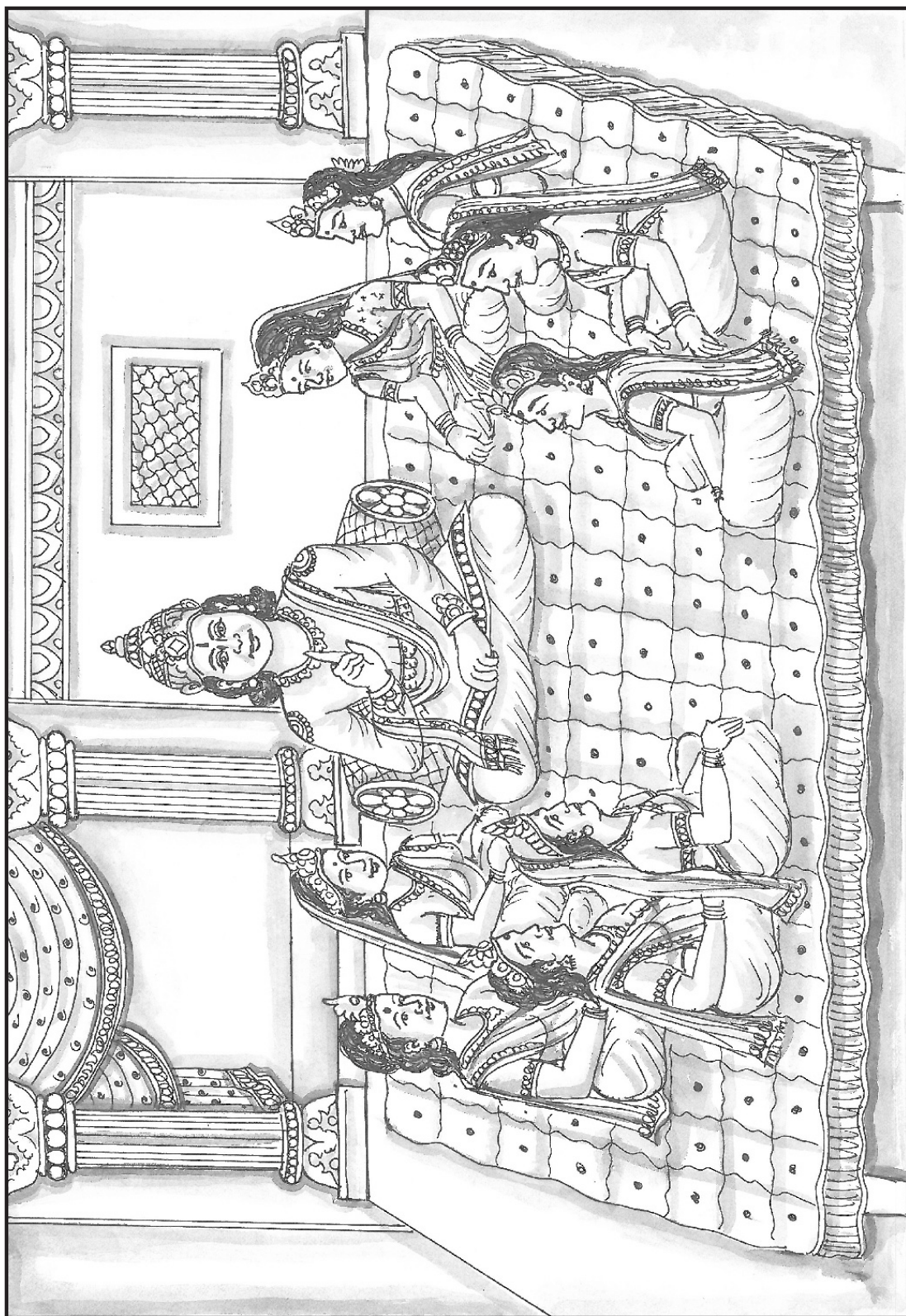
जम्बू स्वामी अपनी आठ पत्नियों को वैराग्य की बात सुनाते हैं।

दुख हो रहा है। मैं भी यहाँ से अर्चन, पूजन, वंदन करता हूँ। उद्देश्य क्या है ? दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ...। इसी प्रकार पञ्च परमेष्ठी की आराधना देव भी और भूदेव (मनुष्य) भी करते हैं। काष्ठ की वस्तु में घिसाई से चमक आती है। उसी प्रकार ध्यान के अभ्यास से प्रौढ़ता आती है।

ध्यान-ध्याता-ध्येय का लक्षण

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीह-वित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदा हु तं तस्स णिच्छयं झाणं ॥५५॥

अर्थ—ध्येय में एकत्व-एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ का ध्यान करते हुए साधु जब निरीहवृत्ति-इच्छा रहित होता है, तब उसका वह ध्यान निश्चय ध्यान होता है।

चिंता क्या है, चिन्तन कुछ भी साधु करें वह, पर इतना।
ध्यान रहे बस निरीहता का साधुपना पनपे उतना॥
एक ताजगी निरी-एकता पाता निश्चित साधु वही।
यही ध्यान है निश्चय समझो साधु बनो! पर स्वादु नहीं॥५५॥

व्याख्या—वीतरागता यदि है तो किसी को भी विषय बनाकर ध्यान कर सकते हैं लेकिन शर्त है निरीहवृत्ति-इच्छा से रहित हो। कोई व्यक्ति कहता है-कार्य तो करेंगे लेकिन ठेका लेकर काम करेंगे, काम १० दिन में ही होना चाहिए। ऐसा विकल्प क्यों? इच्छा के बिना चिन्तन करो। साधु जब निरीहवृत्ति से किसी विषय का चिन्तन करता है तो इसमें कुछ नहीं रखा है यह सोचकर एकत्व की ओर आ जाता है, जिनके पास निश्चय है, वे स्वयं पर द्रव्य से हट जायेंगे, इसे अभी हटाओ, ऐसा नहीं कहेंगे। निश्चय हो जाता है किन्तु पहले सविकल्प निश्चय हो जाता है फिर निर्विकल्प निश्चय होता है। पहले ऐसा लगता है, इसको हम हल कर लेंगे किन्तु जब हल करने बैठते हैं तब पसीना आ जाता है। इष्ट पुत्र का वियोग होने पर पड़ोस के लोग आकर समझाते हैं कि लड़का चला गया तो गया, अब दुख नहीं करना चाहिए तब वह व्यक्ति कहता है—जब स्वयं पर बीतती है, तब पता चलता है इसको बोलते हैं सविकल्प दशा और विषय कषायों से ऊपर उठ जाता है तो निर्विकल्प हो जाता है इस प्रकार एकत्व आने में देर नहीं लगती। लोभ लालच नहीं होना चाहिए क्योंकि भीतर से लोभ लालच नहीं छूटा तो कितने भी जंगल में जाओ, कितनी भी साधना करो एकत्व को प्राप्त नहीं हो सकता। सराग दशा में है और लोभ भी नहीं है तो भी निर्विकल्प ध्यान को प्राप्त नहीं हो सकता। अशुभोपयोग और विषयों की ओर ध्यान बिल्कुल भी नहीं जाना चाहिए। ज्ञेय ध्येय के प्रति एकाग्रता भले ही न हो किन्तु हेय रूप विषयों की ओर दृष्टि न जाए, यही उसकी एकाग्रता है। जैसे—कोई लक्ष्य की ओर बढ़ गया भले ही चींटी की चाल हो पर अब पीछे मुड़कर नहीं देखना यही ''**लद्धूणय एयत्तं**'' है। कितनी बार फेल हो गया, पर अध्ययन के प्रति रुचि अभी भी है। अध्ययन के प्रति तो एकाग्रता है परिश्रम करके पुनः पढ़ता है तो अच्छे नम्बर से पास हो जाता है और जिसकी पढ़ने में

एकाग्रता नहीं है, वह सबके सामने मुँह दिखाने में शर्माता है, किन्तु अध्ययन के प्रति एकाग्रता नहीं बढ़ाता है। मर्यादा से नीचे नहीं जाना है, यह निश्चय होना चाहिए। प्राथमिक दशा में सविकल्प दशा में विषय कषाय से दूर होने के लिए चित्त की स्थिरता के लिए पञ्च परमेष्ठी का ध्येय होना चाहिए। मूल उद्देश्य विषयों से बचने का होना चाहिए, विषयों के प्रति निरीहवृत्ति हो। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का यह परिणाम है कि किसी को कुण्डलपुर के बड़े बाबा अच्छे लगते हैं, किसी को चाँदखेड़ी, किसी को खड़े बाबा, तो किसी को बैठे बाबा अच्छे लगते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में यह विकल्प हुए बिना नहीं रहता है। भगवान् तो सभी वीतरागी हैं सभी एक जैसे हैं, सभी के चार घातिया कर्म नष्ट हुए फिर भी किसी को इस मंदिर में अच्छा लगता हैं, किसी को उस मंदिर में अच्छा लगता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन में इस तरह के अस्थिरता के परिणाम नहीं होते हैं। द्रव्य गुण पर्याय के बारे में चिन्तन करो लेकिन निरीहवृत्ति। निबन्ध लिखने को आता है तो किसी का भी लिखो ऐसा नहीं, चार पाइंट में से एक पर लिखो किन्तु ५०० अक्षर में होना चाहिए। अभ्यास दशा में स्थिरता आ जाती है। मेले-ठेले में जवानों का ही मन लगता है। जिससे हाथ-पैर हिलाते नहीं बनता है, लार टपक रही है। वह दादाजी कहते हैं-बेटा! तेरी उम्र में मैंने मेला देखा है अब नहीं जा सकता तुम चले जाओ, अच्छे ढंग से देखकर आ जाना। निरीहवृत्ति जिसकी बढ़ जाती है तो वह स्थिर चित्त होकर वस्तु स्वरूप को देखता है। पर वस्तु को देखते हैं तो विषय कषाय एवं चंचलता बढ़ने की संभावना है। जैसे-मंदिर में दर्शन करने गये और दर्शन करने की जगह नहीं है तो गुस्सा आ जाता है तो दूर से दर्शन कर लो। आत्म तत्त्व ही एक मात्र शरण है। "**अन्यथा शरणं नास्ति**" होने पर और कुछ नहीं दिखता, अपने आत्म तत्त्व का संवेदन प्रारम्भ हो जाता है और पर का संवेदन छूट जाता है। स्पर्शन इन्द्रिय के माध्यम से यह ज्ञान होगा कि मैं खड़ा हूँ, बैठा हूँ, लेकिन जब वह भी छूट जाए तब स्व संवेदन की लहर बहुत कम-कम समय में आती है। अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में उसका अभ्यास करने पर वहाँ तक पहुँच सकता है। निरीहवृत्ति अर्थात् १४ प्रकार के अन्तरंग परिग्रह का उदय होने पर भी क्रोधादि नहीं करना होता है, तब भीतरी परिग्रह का त्याग होता है। जब भीतरी परिग्रह का त्याग हो जाता है तो बाह्य परिग्रह छोड़ने की क्या बात करो वह तो ऐसे ही दूर है, जो व्यक्ति रात्रि पानी के त्याग की बात कर रहा है, वह रात्रि भोजन दूध आदि के ग्रहण की बात करेगा क्या? नहीं। उसी प्रकार भीतरी परिग्रह का त्याग होने पर बाह्य परिग्रह को छूता नहीं है, उलझता नहीं है, निकालता जाता है। जैसे-केशियर जो होता है वह करोड़ों नोटों को गिनता है लेकिन एक भी नोट जेब में नहीं रखता है, क्योंकि नौकरी छूट जायेगी, लोक निंदा होगी, इस बात को वह जानता है, इस प्रकार इहलोक परलोक भय सम्बन्धी जिस व्यक्ति को ज्ञान होता है वह पाप की ओर प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। इसी प्रकार भीतरी परिग्रह को उखाड़ने में लगो तो बाहरी छूट ही जायेगा। किसी को घाव हो गया उस पर काली चमड़ी जम जाती है अर्थात् घाव अभी सूखा नहीं है और हाथ से खुजाल कर चमड़ी निकाल देते हैं तो और डबल

चमड़ी जमती जाती है। भीतरी परिग्रह रूप मवाद निकाल दो, घाव सूखने दो फिर वह चमड़ी भी शरीर की चमड़ी जैसी ही आ जायेगी। वह पपड़ी निकालना नहीं पड़ती अपने आप निकल जाती है। ध्यान में शर्त है–प्रथम तो निरीहवृत्ति–"**वीतरागात् परो भवेत्**" स्थिरता की शर्त नहीं है। निरीहवृत्ति होने पर स्थिरता आ जाती है। नट जो रस्सी पर चल रहा है वह किसी की ओर भी नहीं देखता है न किसी की सुनता है, मात्र पैरों को कहाँ रखना है, उसी में उसका ध्यान है। जैसे अर्जुन से पूछा–तुम्हें क्या दिख रहा है तो उसने कहा–केवल कालीमिर्च। स्व को देखने से आश्चर्य नहीं होता, किन्तु पर को देखने से आश्चर्य और डर भी होता है। बाहर कितनी वाह–वाह हो रही है, यह ज्ञात करने बाहर देखता है तो गिर जाता है। एक बार **ज्ञानसागरजी महाराज** ने कहा था–व्यवहार क्या होता है तो जैसे यह पिच्छी को देखो इसमें कितने पंख हैं ये १२ चँदोवा आदि–आदि यह व्यवहार है और यह पिच्छी मेरी है यह भी व्यवहार है और निश्चय में यह पर वस्तु है तो फिर मेरी कैसे? तो कहते हैं कि व्यवहार की अपेक्षा समयसार में कहा है–यह मोहियों का व्यवहार है।

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२५॥

यह मेरा था, मेरा है और मेरा रहेगा। पर द्रव्य को लेकर एकत्व का भाव होता है यह मोह माया है। अतीत को अपना कहना उसमें हठ करना, जाति, कुल, लिंग आदि को लेकर होता है, वह बहुत दूर का व्यवहार हो गया। जब व्यवहार में कलंक कहा तो अतीत काल सम्बन्धी मोह में हठ करते जाना तो गर्त में गिरने के समान है। दिगम्बर होते हुए भी मैं दिगम्बर हूँ, यह कहना भी व्यवहार है। शरीर दिगम्बर है आत्मा नहीं, इसलिए "**भावेण होई नग्गो**" कहा है। "**तन उपजत अपनी उपज जान...।**" मेरा जन्म दिन, आदि कहना यह सब क्या है? अजीव तत्त्व की भूल है। जो भीतरी परिग्रह को छोड़ने की बात नहीं सोचता है वह बाह्य परिग्रह का त्यागी होने पर भी कुछ कार्यकारी नहीं। आत्म स्वभाव का ज्ञान होने पर जन्म दिन आदि नहीं दिखते हैं एकत्व को प्राप्त होता जाता है। भावों से रत्नत्रय को प्राप्त होता है तो तीन लोक की सम्पदा तृणवत् नजर आती है। मद, पर सापेक्ष ही होता है, स्व सापेक्ष नहीं। शुद्धोपयोग दशा में भी एकदेश शुद्धनिश्चय होता है, सर्वदेश नहीं। यह एकदेश निश्चयनय का अर्थ सविकल्प है। ध्यान–ध्येय, सविकल्प और निर्विकल्प ये दो बातें होती हैं। सिद्ध भगवान् ध्येय हैं।

ध्यान का लक्षण

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥५६॥

अर्थ–कुछ भी चेष्टा अर्थात् शारीरिक क्रिया मत करो, कुछ भी जल्प अर्थात् वचन व्यापार मत करो और कुछ भी चिन्तन, संकल्प–विकल्पात्मक मनो व्यापार मत करो। जिससे आत्मा निज

में स्थिर हो जावे आत्मा में लीन होना ही परम ध्यान है।

कुछ भी स्पन्दन तन में मत ला बंद-मुखी हो, जल्प न हो।
चिंता, चिन्तन मन में मत कर चेतन फलतः निश्चल हो॥
अपने ही आतम में अपना अविचल हो, जो रमता है।
ध्यान रहे यह परम ध्यान है और ध्यान तो भ्रमणा है ॥५६॥

व्याख्या—शरीर से किसी भी प्रकार की चेष्टा मत करो, ऐसा कुन्दकुन्दस्वामी ने नियमसार में कहा है—कुछ भी मत बोलो, अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प दोनों से रहित हो जाओ। अन्तरात्मा होकर भी बहिरात्मा को समझाने के लिए बहिर्मुखी होकर समझाना पड़ता है। इस बात को समझो और सुलझो। अन्तर्जल्प को भी उत्तम अन्तरात्मा में नहीं गिना है। अन्तरात्मा होने पर परमात्मा बनने में देरी नहीं। कम से कम बहिर्जल्प तो छूट जाए, यह प्रदूषण तो समाप्त हो जाए। **मौन से क्रियाएँ करना अपने आप में प्रभावक होती हैं। जब एक साथ सैकड़ों, हजारों, लाखों व्यक्ति मौन से कायोत्सर्ग करते हैं तो कितना आनन्द आता है।** अन्तरात्मा को चहल-पहल में अच्छा नहीं लगता है। ध्यान के लिए तीन सीढ़ी बताई है। ''ध्यान महल की प्रथम सीढ़ी'' काय चेष्टा छोड़ो फिर वचन चेष्टा फिर मन की चेष्टा छोड़ो। मन के द्वारा चिन्तन होता है, वह भी एक आयाम माना जाता है। वह आयाम भी ध्यान के लिए बाधक है। थोड़ा-सा भी स्पन्दन सहनीय नहीं। दीपक में थोड़ी-सी भी हवा लगती है तो स्पन्दन आ जाता है। उसी प्रकार उपयोग में स्पन्दन आते ही प्रदेशों में स्पन्दन हो जाता है। कई लोग चिन्तन की मुद्रा बनाते हैं तो चिन्ता की मुद्रा बन जाती है। ध्यान की मुद्रा सहज होती है। मन-वचन-काय में उपयोग आया तो इन्द्रियों की खिड़कियाँ और खुल जाती हैं। इनको खोलने में मददगार मन है, मन के माध्यम से उपयोग में, उपयोग से योग में, योग से इन्द्रिय में क्रमशः आता है। वे धन्य हैं जो अपनी इन्द्रिय और योगों को वश करके भीतर रहते हैं। तीर्थंकर भी ६ वें, ७ वें गुणस्थान में रहे तब बहिर्जल्प से रहित रहे। एक हजार वर्ष बहिर्जल्प से रहित रहे। बोलें तो किससे बोलें। क्या बोलें ? कई लोगों को बोलने का अवसर नहीं मिलता तो माथा दर्द करने लगता है। मौन बैठने के लिए बहुत हिम्मत/क्षमता चाहिए। मौन से बातों को सुनकर सहन करना कठिन है, बोल सकते नहीं और बोले बिना रह सकते नहीं तो प्रतिकूल वातावरण में अनुकूलता का अनुभव करते हुए अपने उपयोग का सामञ्जस्य बनाये रखना बहुत कठिन है। यही श्रामण्य है, **आत्मा का आत्मा में रत होना ही परम ध्यान है।** मन-वच-काय की स्पन्दन रहित अवस्था, इनकी अनुपस्थिति ही ध्यान है। जितने क्षण भीतर रहने में गये वे अपने हैं शेष निष्फल हैं। आप एकान्त में बैठे हैं, बोल नहीं रहे हैं, किस प्रकार बोलने की इच्छा प्रारम्भ होती है यह अपने को देखना है। कोई दो व्यक्ति दूर से आये हैं, आप ध्यान कर रहे हैं, वे आपस में बात कर रहे हैं—बोलो नहीं ध्यान कर रहे हैं और आपके मन में आया कि ये कौन हैं? तो यह अन्तर्जल्प प्रारम्भ हो गया, इस प्रकार सोचते-सोचते

वह बोलने तक आ जाता है। बोलना अपने आप नहीं होता, कोई बुलवाने वाला व्यक्ति चाहिए। आप बोली कब लगाते हैं, जब माहौल उस लायक हो, बोलने वाले हों, जब हम रुचि नहीं लेंगे तो सामने वाला व्यक्ति थोड़ी देर बैठकर चला जायेगा। पहले पञ्चपरमेष्ठी के ध्यान की बात की **''जं किंचिवि चिंतंतो...।''** इसके उपरान्त परम ध्यान की बात की है। चेष्टाएँ होना ही ध्यान में बाधक हैं। क्रियाओं को देखकर उनके अभाव होने पर ही ध्यान की बात की जाती है। चेष्टाओं के अभाव में केवलज्ञान होता है। इस अपेक्षा से तो १२ वें गुणस्थान तक चेष्टा है। क्रियाओं का अभाव हो गया इससे भी ध्यान का अनुमान लगा सकते हैं। एलोपेथी वाला कहता है—बुखार आया है दवाई दे दो और आयुर्वेद वाला कहता है—वातादि से बुखार है। वात के साथ और क्या-क्या है? यह सब देखकर रोग का निवारण करते हैं, उसी प्रकार क्रियाओं के सद्भाव-अभाव के द्वारा ध्यान का अनुमान लगा सकते हैं। आचार्य कहते हैं—जो अष्टम गुणस्थान में पहुँचे हैं, उन्हें भी यह ज्ञान नहीं होगा कि मैं किस गुणस्थान में हूँ क्योंकि अवधिज्ञान का प्रयोग ६ वें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक होता है, आगे गुणस्थान में कहाँ, क्या कर रहा है, इसका कोई ज्ञान नहीं रहता है।

भारतीय संस्कृति में परमहंस स्वरूप का बड़ा महत्त्व है। वीतरागचारित्र को जो प्राप्त होते हैं वे परमहंस माने जाते हैं। अपने आप में रहो, अपने स्वरूप का संवेदन करो और औदयिक भावों से प्रभावित न हो यही तो परमहंस का स्वरूप है। **हंस जैसे जल को ग्रहण नहीं करता, दूध का ही पान करता है, उसी प्रकार शुद्धोपयोगी मुनि औदारिक शरीर में स्थित होते हुए भी आत्म तत्त्व का ही संवेदन करते हैं।** उपशम, क्षायिक और क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के साथ भी यह ध्यान और वीतराग चारित्र होता हैं। ''**तदेव स्वसंवेदनज्ञान**'' यहाँ चतुर्थ गुणस्थान का नहीं लेना बल्कि निश्चयचारित्र का अविनाभावी जो है वह स्वसंवेदन लेना। दूज के दिन कभी भी अमृत नहीं झरता है, पूर्णिमा के दिन ही अमृत झरता है और सभी पूर्णिमाओं में भी नहीं झरता है अर्थात् पूर्णता में ही आनन्द होता है ९९ में नहीं। दूज के चाँद को पूर्ण नहीं कह सकते, यदि ऐसा मानते हैं तो फिर निगोदिया को भी वही ज्ञान है, उसमें भी पूर्णता माननी चाहिए लेकिन ऐसा नहीं है। ध्यान में बैठ जाओ तो वही परम स्वाध्याय है।

चूलिका और उपसंहार के रूप में आगे की गाथा कही जा रही हैं। चूलिका अर्थात् सारांश रूप में पुनः वर्णन किया जा रहा है। जैसे—२० मिनट समाचार सुनते हैं, अन्त में पुनः एक मिनट में विशेष समाचार दिए जाते हैं अथवा पत्र वगैरह लिखते हैं, उसमें नोट लिखकर विशेष लिखा जाता है या लाइन खींच दी जाती है, उसी प्रकार यहाँ चूलिका रूप में गाथा कहा जा रही है।

ध्यान सामग्री का वर्णन

तव-सुद-वदवं चेदा झाण-रह-धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तिय-णिरदा तल्लद्धीए सदा होइ ॥५७॥

अर्थ—तप श्रुत एवं व्रत का धारक चेतन आत्मा ध्यान रूपी रथ की धुरि को धारण करने वाला होता है अतः हे भव्यो! उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर उन तीनों में तत्पर रहो।

व्रत के धारक, तप के साधक श्रुत-आराधक बना हुआ।
वही ध्यान-रथ-धुरा सु-धारे नियम रहा यह बँधा हुआ॥
इसीलिए यदि सुनो तुम्हें भी ध्यानामृत को चखना है।
व्रत में, तप में, श्रुत में निज को निशिदिन तत्पर रखना है ॥५७॥

व्याख्या—धुरंधर जिस किसी भी क्षेत्र में कार्य करता है, वह उसको पूरा करता है। बाधक कारणों को जिसने समाप्त कर दिया है वह धुरन्धर माना जाता है। जैसे–मोक्षमार्ग में बाधक कारणों (राग–द्वेष–मोह) को जिन्होंने दग्ध कर दिया है, वह विदग्ध है। स्वाध्याय इसलिए बीच में रखा है कि हमने जो व्रत लिए हैं, उसमें कहाँ दोष लगा रहे हैं? इसका निरीक्षण करें, ध्यानरूपी धुरन्धर (आत्मा) को पकड़ लो, इससे ध्यान की सिद्धि हो जायेगी। सबसे प्रथम तप कहा है व्रत नहीं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में भी दर्शन (श्रद्धा) अचेतन है, ज्ञान चेतन है। चेतन अचेतन को चलायेगा अतः ज्ञान बीच में रखा है। मोक्षमार्ग में ज्ञान के माध्यम से कहाँ, क्या हो रहा है, क्या करना यह जानता रहता है। कमाण्डर जैसे–जैसे संकेत देता है, वैसे ही मिलेट्री काम करती जाती है। यदि वह गलत संकेत देता है तो सारा देश बर्बाद हो जायेगा। उसी प्रकार ज्ञान के माध्यम से आस्था को, चारित्र को और तप को देखता रहता है। जब सर्कस में रस्सी पर चलता है तो हाथ में लकड़ी लिए रहता है। थोड़ा–सा झुकाव एक तरफ होता है तो तुरन्त बेलेन्स बना लेता है। आप बड़े बाबा के दर्शन हेतु चढ़ते हैं तो झुककर चढ़ते हैं, लेकिन उतरते समय झुककर उतरेंगे तो लुढ़क जायेंगे अर्थात् चढ़ते समय आगे बेलेन्स और उतरते समय पीछे की ओर बेलेन्स लेकर उतरना होता है। प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति अनिवार्य प्रश्न को अच्छे ढंग से करता है। एकान्त से कर्म का ही उदय है ऐसा नहीं है। मन और कर्म का सम्बन्ध है तो मन और धर्म का भी सम्बन्ध है। जैसे–दो गाड़ी आपस में टकरा गई, एक्सीडेन्ट से एक गाड़ी चूर–चूर हो गई तो जिसके द्वारा चूर–चूर हुई, उसे दण्ड मिलना चाहिए। अब किसको दण्डित करेंगे। कर्म का उदय है फिर भी ड्राइवर को दण्डित किया जाता है तो एक्सीडेंट होते ही ड्राइवर भाग जाता है उसी प्रकार मन कार्य करके अन्यत्र चला जाता है। जैसे–ड्राइवर ड्रेस एड्रेस बदल देता है, फरार हो जाता है, वैसे ही मन है। दण्ड मन को मिलना चाहिए, तन को नहीं। इसी तरह ज्ञान सबकी व्यवस्था कर देता है लेकिन वह ज्ञान दूसरे से प्रभावित न हो तभी काम का है, वह शिक्षित ज्ञान माना जाता है जो आस्थावान ज्ञान हो, वह मोक्षमार्गी की रक्षा करता जाता है, फिर चारित्ररूपी पहिये को घुमाओ तो मंजिल तक पहुँच जाओगे। बारह तपों में ध्यान तप भीतरी तपों में मुख्य है। प्रायश्चित्त करने वाला विनयशील होना चाहिए। **विनय से वैय्यावृत्य करने वाला व्युत्सर्ग और ध्यान में लीन हो सकता है।** बाहरी तपों में श्रम होता है, भीतरी तपों में नहीं। मजदूर लोग काम करते

हैं तो थोड़ा सा पानी पी लेते हैं, फिर काम में लग जाते हैं, उन्हें लू नहीं लगती। तप करने से ही आत्मा में लीनता आती है। श्रुत का अर्थ–यहाँ मूलाचार है। तप, ज्ञान, व्रत सभी मूलाचार के अनुसार करो, इसी के अनुसार भावश्रुत का ज्ञान होता है। बारह अंगों में आचारांग की मुख्यता है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग ये चार अनुयोग हैं। प्रशम भाव की प्राप्ति प्रथमानुयोग पर आधारित है। रावण की कथा पढ़ने से मन शान्त हो जाता है। **करणानुयोग से संवेग भाव की अधिकता होती है। चरणानुयोग पढ़ने से अनुकम्पा/दया पालन के भाव बढ़ते हैं। द्रव्यानुयोग पढ़ने से आस्तिक्य भाव में दृढ़ता आती है कर्म सिद्धान्त, जीव सिद्धान्त पढ़ने से आस्तिक्य भाव बढ़ता है। चारों अनुयोग खम्भे के समान रक्षा करने वाले हैं।** कर्मों की बाढ़ जब आती है, तब इन्हीं के माध्यम से अपने परिणामों को सँभालते हैं। पाप का उदय आयेगा उस समय कर्म सिद्धान्त का ज्ञान है तो कर्म भाग जायेगा, कर्म निर्जरा होगी। सम्यग्दर्शन रूपी महान् प्रासाद (महल) के लिए ये दीवारें हैं। कर्म के धर्म को जान लो यही आत्मा का एक धर्म है। भाव हिंसा से बचने के लिए–"**रागादि भाव निवारते हिंसा न भावित अवतरी।**" इससे भाव अहिंसा, भाव संयम पल सकता है। एक भी पाप करने से अहिंसा धर्म को धक्का लगता है। **जानबूझ के जो व्यक्ति हिंसा करता है वह व्रती रहते हुए भी छली है।** पहले पाप का व्युत्सर्ग फिर काय का उत्सर्ग करना चाहिए। यहाँ कौन देख रहा है और झूठ बोले बिना दुनिया में काम नहीं चलता है, ऐसा कहने वाला कहाँ जायेगा? सामने वाला पाँच पाप कर रहा है तो हम भी करें, यह कोई नियम नहीं। विवेक के साथ काम होना चाहिए। ये व्रत पर के लिए नहीं स्वयं के लिए हैं। जैसे–सफेद वस्त्र है उस पर एक भी धब्बा नहीं लगाते हैं, उसी प्रकार व्रत रूपी सफेदी को सुरक्षित रखना चाहिए, वस्त्र गंदे हो जाते हैं तो थोड़ा-सा साबुन लगाकर वस्त्र को धो लेते हैं। इसी प्रकार पाँच व्रतों में दोष लगते हैं तो **प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, भगवान् की स्तुति रूपी साबुन लगा देते हैं, इससे आत्मारूपी वस्त्र बिल्कुल स्वच्छ हो जाता है।** हम देखते हैं कई लोग महीनों तक वस्त्र नहीं बदलते हैं। हम व्रत रूपी वस्त्र को तीन बार फ्रेश करते हैं अर्थात् अपने आपको फ्रेश रखते हैं, अपने व्रत रूपी वस्त्र पर प्रेस स्वयं को करना है। अन्य कोई धोबी नहीं कर सकता। "**जगत् काय स्वभावौ वा संवेग वैराग्यार्थम्**"- पाँच व्रतों को अंगीकार करने पर हल्कापन लगता है। पकौड़ी बनाते हैं तो उसे कढ़ाई में जैसे ही छोड़ते हैं, वह पहले नीचे जाती है, उसमें जो पानी का अंश है वह पूरा सूख जाता है फिर हल्की होकर ऊपर आ जाती है। अब कोई शक्ति नहीं कि उसे डुबो दे, हाँ, घी शुद्ध चाहिए, पानी से कभी पकौड़ी नहीं बनती है। **धर्म में डूबो परिग्रह पाप में नहीं डूबो।** इसमें अनन्तकाल से डूबते आ रहे हैं। शरीर के प्रति मोह है तो परीषहजय नहीं कर पायेंगे। हम किसी की निन्दा, आलोचना नहीं कर रहे, फिर भी वह कुछ कहता है तो उसका अज्ञान दूर हो ऐसी भावना भाते हैं तो जय कर सकते हैं। परीषहजय में आनन्द आना चाहिए। उसमें कर्म निर्जरा होती है। जब दुकान खोली है तो इसमें आनन्द लीजिए,

उमंग, उत्साह को बढ़ाइये। "**मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्या: परीषहा:**" मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हुए हैं तो इसमें परीषह आयेंगे ही। विवेक, शारीरिक क्षमता आदि आवश्यक हैं। जिसके सान्निध्य से उमंग, उत्साह आता है, वहाँ पर रहना चाहिए। व्रत पुण्य बन्ध के कारण हैं अत: त्यागने योग्य हैं ऐसा कुछ लोग प्रश्न करते हैं, वे व्रत छोड़ने की बात तो करते हैं पर पाप छोड़ने की बात भी तो कहना चाहिए। संसारी प्राणी विषयों को पाप की सामग्री मानता ही नहीं है। असंयम का त्याग संयम के द्वारा ही होता है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है–संयम कब छूटेगा जब परमात्म पद प्राप्त हो जायेगा। अव्रत जमीन, व्रत सीढ़ी और छत मोक्ष हो गया। छत पर जाने का संकल्प लेने वाला यह कहे कि मैं सीढ़ी पर पैर नहीं रखूँगा तो वह पहुँच नहीं सकता। दवाई तब छूटेगी, जब स्वस्थ हो जायेगा। निश्चय व्रत (तीन गुप्ति में लीन होने रूप) ध्यानरूप जो है, वह छोड़ा नहीं जाता, उसका फल केवलज्ञान होने पर ध्यान अपने आप छूट जाता है। व्यवहार व्रत को ग्रहण किया जाता है, छोड़ा नहीं जाता है। टिकट ग्रहण किया जाता है यात्रा के लिए और जब अपने गंतव्य पर पहुँच जाता है तो टिकट फेंक देते हैं, बिना व्रत रूपी टिकट के मोक्षमार्ग में कैसे आ सकते हैं? व्रतों को मजबूत रखने पर ही निश्चय मोक्षमार्ग मिलने वाला है, अकेले ज्ञान और आस्था से कुछ नहीं होने वाला है। बिना संकल्प के मोक्षमार्ग भी रहने वाला नहीं है। साध्य तक पहुँचने के लिए साधन अनिवार्य होता है। साध्य प्राप्त होने पर साधन (ध्यान, तप, व्रत) आदि दूर हो जाते हैं। जिसको जिस रूप में कहा है–उसे उस रूप में करते जाओ। सीढ़ियाँ और जीना ये अलग-अलग हैं। जीने में पकड़ना नहीं होता है सीढ़ी (नसैनी में) में रस्सी पकड़कर आगे की सीढ़ी का सहारा लेकर चढ़ते जाते हैं। स्टेशन जब तक नहीं आता है तब तक टिकट सँभाल कर रखना होता है, नहीं तो चेकिंग होने पर दण्ड दिया जाता है, नीचे उतार दिया जाता है। एकदेश महाव्रत कैसे ? तो एक, दो, तीन, घंटे के लिए प्रवृत्ति रूप समिति का, विशेष तप के लिए त्याग कर देते हैं। कभी-कभी गाड़ी ढलान में होती है तो गाड़ी बंद तो नहीं करते पर पेट्रोल बचा लेते हैं उसी प्रकार गुप्ति के माध्यम से प्रवृत्ति से रक्षा कर लेते हैं। जीव घात का त्याग करते हुए भी जीवरक्षण में प्रवृत्ति हो रही है इसलिए एकदेश महाव्रत कहा है। यहाँ पर पाँचवें गुणस्थानवर्ती को एकदेश व्रती नहीं कहा। महाव्रती के लिए प्रवृत्ति के समय एकदेश महाव्रती कहा है। गुप्ति के समय महाव्रती होता है। बिना दिया ग्रहण नहीं करना पर प्रकारान्तर से दान देने के लिए कहा यह भी "**अदत्तादानं स्तेयम्**" में ही आयेगा क्योंकि उसकी इच्छा नहीं होने पर भी बाध्य करने पर वह दे रहा है। आवश्यकता होने पर भी हम माँगेंगे नहीं, इसमें गौरव, स्वाभिमान बना रहता है, यह है याचना परीषहजय। समाधि के समय भी निश्चय व्रत का प्रादुर्भाव होता है। राजा श्रेणिक ने ६० हजार प्रश्न किए, यहाँ तो प्रश्नों की भी दरिद्रता है। **आज भी रत्नत्रय के द्वारा ध्यान करके इन्द्र और लौकान्तिक देव बन सकते हैं।** पर के उद्देश्य से वैय्यावृत्ति की अपेक्षा कुछ कहना तो तप में आयेगा, लेकिन स्वयं के उद्देश्य से कहने पर महान् दोष लगता है। त्रिगुप्ति दशा में प्रवृत्ति का त्याग

होने से एकदेश व्रत का त्याग कहलायेगा। जिस प्रकार पाप का त्याग किया जाता था, उसी प्रकार एकदेश प्रवृत्ति का भी त्याग करते हैं। मुनिराज कुछ भी प्रवृत्ति न करें, यह सबसे अच्छा है। मुनिराज रात में निवृत्ति में रहते हैं किन्तु दिन में भी बोलना, उठना, चलना आदि नहीं करना श्रेष्ठ है। किसी से आपने कहा–थोड़ा खिसको और वह खिसक गया, वहाँ पर चींटियाँ थी, वह उस पर जाकर बैठ गया तो कितना बड़ा प्रमाद हुआ। इसलिए मुनिराज पर के द्वारा प्रवृत्ति करवाते नहीं और स्वयं भी कम से कम प्रवृत्ति करने की कोशिश करते हैं। समीचीन प्रवृत्ति का भी त्याग करते हैं। बनती कोशिश कम खर्च आय ज्यादा हो ऐसा कार्य करना चाहिए। सत्य को चार–पाँच बार बोलने से हिंसा का कारण हो जाता है। जैसे–एक गोली से रोग ठीक होने वाला है और चार–पाँच गोली खा ली तो दूसरे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। भरत चक्रवर्ती ने कैसा पुरुषार्थ किया कि अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त हो गया और बाहुबली एक वर्ष तक खड़े रहे, किसी को १२ महीने में, किसी को १२ घंटे में, किसी को १२ सेकेण्ड में केवलज्ञान हो जाता है। पाँच पापों का त्याग आदि बहुत कम समय में करके सभी कार्य कुछ सेकेण्ड में ही पूर्ण कर देते हैं, यह है निश्चय व्रत। आर्यिकाओं के लिए आवास का स्थान गाँव से ज्यादा दूर नहीं होना चाहिए। दिगम्बर मुनियों के लिए वनों में निवास बताया है। गुफा, कंदरा आदि में मुनिराज निवास करते हैं। महा पुण्यशाली **महापुरुष भरतजी ने जैसे ही पञ्चमुष्ठी केशलोंच किया, उधर कर्म स्थिति बन्ध का छेद हो गया। एक हाथ से गारा, एक हाथ से ईंट गिराई तो दीवार गिर गई।** महापुरुष के दाढ़ी–मूँछ नहीं होते हैं, केशलोंच के अनन्तर ही केवलज्ञान को प्राप्त हो गये। **आचार्यों ने कहा है कि–इधर–उधर की बात करने के लिए बैठने में तो संहनन है और अपनी आत्मा की बात करने में संहनन नहीं है।** अन्तिम हीन संहनन के द्वारा भी आज बड़े–बड़े कार्य हो जाते हैं। धर्म्यध्यान किसी भी संहनन के साथ हो सकता है। रत्नत्रय को धारण कर, राग–द्वेष से रहित होने रूप कार्य तो कर सकते हैं। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में तीन उत्तम संहनन से कोई एक आवश्यक है। श्रेणी के सम्मुख होने पर जब तक सातिशय अप्रमत्त को पार नहीं करेगा, तब तक शुक्लध्यान नहीं होगा। द्वितीयोपशम या अपूर्वकरण की भूमिका वाला होने से सातिशय अप्रमत्त है, यह आज नहीं होता है। शुक्लध्यान की प्राप्ति के लिए द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन या क्षायिक सम्यग्दर्शन के उपरान्त सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान पार करना पड़ेगा। "**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः**" '**च**' का पेट बहुत बड़ा है। 'च' का अर्थ धर्म्यध्यान से सहित भी पूर्वविद् होते हैं और पूर्वविद् रहित हैं वे भी शुक्लध्यान वाले होते हैं यह लेना। यह सूत्र I.M.P. है अर्थात् I AM PASS "**अपवाद व्याख्यानेन पुनः पञ्च समिति त्रिगुप्ति प्रतिपादक सारभूत श्रुतेनापि ध्यानं भवति केवलज्ञानाञ्च।**" यह और मजबूत पंक्ति है। अष्टप्रवचनमातृका में ५ समिति, ३ गुप्ति लेते हैं। कुन्दकुन्द–स्वामी ने पञ्चाचार और त्रिगुप्ति को लिया है। यह अप्रवाहमान कथन है, यह अष्टप्रवचनमातृका श्रुत का सार है। व्यवहार में पाँच समितियाँ या पञ्चाचार का पालन और भीतर चले जायेंगे तो तीन

गुप्ति को धारण करना यह श्रामण्य की रीढ़ है। २८ मूलगुणों में पञ्चाचार नहीं लिए हैं इसलिए यह अपने आपमें प्रौढ़ है। अतः अष्ट प्रवचनमातृका में पञ्चाचार का कथन और सशक्त लगता है। कुन्दकुन्दस्वामी ने तो दीक्षा के समय भी पञ्चाचार को ग्रहण करने को कहा है। बाहर आने पर ५ समिति मुख्य मानी जाती हैं और भीतर जाने पर तीन गुप्ति मुख्य मानी जाती हैं। ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के लिए देशसंयम, सकलसंयम का तो नियम है किन्तु सम्यग्दर्शन के लिए कोई नियम नहीं है उसके पहले भी हो सकता है। यह भाव प्रधान है ऐसा वीरसेन स्वामी का कथन है, इसको स्मरण में रखना आवश्यक है। मानलो किसी व्यक्ति की शब्द प्रस्तुति अच्छी है तो उनसे आहार लोगे क्या? नहीं। भावना होना चाहिए। जो हम कहते हैं वह मानता है, देव, शास्त्र, गुरु को मानता है उसी से आहार लेंगे। एक बड़ा व्यक्ति है और एक बालक है दोनों ने चित्रपट को देखा। देखने रूप भाव-भासना या भावश्रुत तो एक सा है लेकिन द्रव्यश्रुत अर्थात् प्रस्तुत करने की शैली अलग-अलग है। वह बालक वर्णन नहीं कर पा रहा है, इसका मतलब उसके पास ज्ञान नहीं है ऐसा तो नहीं कह सकते। भले ही द्रव्यश्रुत कम है पर भावश्रुत की अपेक्षा वह उनसे पहले केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है, स्व-संवेदन रूप भावश्रुत होना चाहिए। जिसने आत्म तत्त्व को जान लिया, उसने सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत को ही जान लिया और द्रव्यश्रुत एक अक्षर का भी नहीं, तो भी केवलज्ञान हो सकता है। यह कल्पित कथन नहीं है। **भावश्रुत के बिना मुक्ति नहीं मिलती, द्रव्यश्रुत के बिना तो मिल सकती है।** एक ज्ञान में केवलज्ञान को लिया या भावश्रुत की अपेक्षा मतिज्ञान भी रहेगा ऐसा अकलंकस्वामी ने कहा है। चारित्रसार में भी कहा है—१२ वें गुणस्थानवर्ती मुनिराज जिन्हें अन्तर्मुहूर्त उपरान्त केवलज्ञान होना है, उन्हें उत्कृष्ट से ११ अंग, १४ पूर्व का ज्ञान तथा जघन्य से अष्टप्रवचनमातृका प्रमाण ज्ञान होता है। ज्ञान का ज्ञान में टिक जाना, गुण रूप हो जाना स्वरूपाचरण चारित्र कहा है। भावश्रुत सूक्ष्म, द्रव्यश्रुत स्थूल होता है। बाह्य आधार लेकर जब तक श्रुतज्ञान चलेगा तब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। **ध्यान में यह ध्यान रखना चाहिए कि दुर्ध्यान तो नहीं हो रहा है।** संकल्प-विकल्प करने से तुम्हारा भला होने वाला नहीं है, इसमें बुरा ही होगा और राग-द्वेष आदि कल्मष ही होगा। अपना इतिहास तो घटनाओं से ही भरा हुआ है। हाथ, पैर हिलाना पुरुषार्थ नहीं है यह आत्मा अर्थात् पुरुष का स्वरूप नहीं है। पुरुषार्थ करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए स्वस्थ रहो। जैसे—कोई जंजीर से बँधा हुआ हो, फिर छूटे तब वह मुक्त कहलाता है इसी प्रकार जीव पहले कर्मों से बँधा हुआ होता है उसी का मोक्ष होता है। शुद्धोपयोग लक्षण जो भावमोक्ष का स्वरूप है वह भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा जीव का स्वरूप नहीं है। पारिणामिक भाव न बन्धकारक है, न निर्जराकारक है और न पर सापेक्ष है शुद्ध द्रव्य की शक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक परम भाव रूप लक्षण का धारक परम निश्चय मोक्ष है। परम पारिणामिक भाव ध्येय रूप है, वह त्रैकालिक है। ध्यान रूप कारण पर्याय का नाश होता है, कार्यरूप द्रव्य ध्येय प्राप्त होता है। आधार तात्कालिक होता है, आधेय त्रैकालिक होता है

इसलिए युक्तिपूर्वक मन से कार्य करना चाहिए। यदि मन लग रहा है तो लगाते रहना चाहिए और यदि नहीं लग रहा है तो आवश्यक को बदल कर लगा लेना चाहिए। मिथ्यात्व रागादि विकल्प समूहों को त्याग करके जो निज शुद्धात्मा में अनुष्ठान (प्रवृत्ति करना) है उसको अध्यात्म कहते हैं। इस प्रकार अन्त में उपसंहार रूप में आचार्य भगवंत कहते हैं–

अभिमान का परिहार

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुद पुण्णा।
सोधयंतु तणु सुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं ॥५८॥

अर्थ–अल्पश्रुत के धारक मुझ नेमिचन्द्र मुनि के द्वारा जो यह द्रव्यसंग्रह कहा गया है, उसे दोषों से रहित और ज्ञान से पूर्ण मुनिनाथ आचार्य शोधन करें।

बिन्दु मात्र श्रुत का धारक हूँ, पार सिन्धु का कब पाता।
नेमिचन्द्र नामक मुनि मुझसे लिखा 'द्रव्यसंग्रह' साता॥
दूर हुए दोषों से कोसों - श्रुत - कोषों से पूर हुये।
शोधें वे 'आचार्य' इसे यदि भाव यहाँ प्रतिकूल हुये ॥५८॥

व्याख्या–जो दोषों के सञ्चय से कोसों दूर हैं, ऐसे आचार्य इस समय जो विद्यमान द्रव्यश्रुत है उनसे तथा परमागम के आधार से उत्पन्न जो निर्विकल्प–निर्विकार निजात्मा के जानने रूप भावश्रुत है उससे परिपूर्ण हैं, वे आचार्य इसको शुद्ध करें, यह बहुत बड़ा ग्रन्थ है किन्तु भावना है कि सभी मन्द बुद्धियों को सुख से बोध हो, अतः छोटे–छोटे वाक्य दिए गए है, इसलिए यह भावना रूप ग्रन्थ है। शुद्ध बुद्ध तत्त्व ज्ञानात्मक ऐसे स्वभाव रूप परमात्मादि द्रव्य हैं, उसका संग्रह इस द्रव्यसंग्रह में किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अथवा जो निश्चय और व्यवहार रूप पञ्चाचार से युक्त हैं, उनके द्वारा कहा गया है। कैसे हैं वे ? ''**तणु सुत्तधरेण**'' देखो ये बहुत अच्छा शब्द है। सारी–सारी उपाधि स्वयं ही लगा दे तो वो ठीक नहीं। दूसरों के द्वारा शाबाश–शाबाश कह देते हैं तो बहुत अच्छा है और किसी को दिया ही नहीं ऐसा शाबाश–शाबाश तो वह अपने ही हाथ से अपनी पीठ पर ठोकने लगा उसका कोई भी मूल्य नहीं होता, किन्तु यहाँ कह रहे हैं थोड़ा–सा ज्ञान रखते हैं, इसके माध्यम से यह लिखा गया, इस प्रकार यह क्रिया–कारक सम्बन्ध है। यह द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्र मुनि के द्वारा कहा गया है। कैसे हैं? नेमिचन्द्र मुनिराज! वे स्वयं कहते हैं–थोड़ा–सा ज्ञान है ज्यादा नहीं। ऐसा थोड़ा–सा ज्ञान रखने वाला मुझ नेमिचन्द्र के द्वारा यह कहा गया। जो मुनियों में नाथ हैं, दोष के कोष से जो दूर हैं, द्रव्यश्रुत से पूर्ण हैं, वे इसका संशोधन करें।

इस प्रकार तीन अधिकारों में ५८ गाथाओं के द्वारा नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित द्रव्यसंग्रह की टीका श्री ब्रह्मदेव कृत पूर्ण हुई।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

श्री धवला	२, ४१, ७०, ८१, ११८, १३०, १४२, १८८, २६७
मूकमाटी	२५, ७०
तत्त्वार्थसूत्र	२७, ५५, ५६, ६९
भगवती आराधना	३१, १६८, २६२
प्रवचनसार	३२, ७०, १२९, १७५
नाममाला	४०
छहढाला	४०, १३२, १७१, १८, २४४
जयधवल	२५२
इष्टोपदेश	४२, ४५, ६७, ८२, १९९, २२६, २४९
समयसार कलश	४४
ज्ञानार्णव	४५, २३३
मूलाचार	५२, १२६, १६८, २००, २३७, २४४, २४९
सर्वार्थसिद्धि	८३, ९२, १३०, २५२
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	५७, २४१
समयसार	५८, ६८, ७०, ८३, ८७, १७१, २०२, २०६, २२१, २५०, २६३, २८४
नियमसार	७५, १३२, १४०
राजवार्तिक	६४, ८०, २३३
कषायपाहुड	९०
गोम्मटसार कर्मकाण्ड	१९३
सम्यक्त्वसारशतक	१२०
रत्नकरण्डकश्रावकाचार	१२४, २१०, २३३, २४२
पञ्चास्तिकाय	३७, ४२, १३३, १५७, १६४, १६५
आप्तमीमांसा	१६०
जीवकाण्ड	१६५, २०७
स्वरूपसंबोधन	१६७
पद्मपुराण	१६८
कातंत्रव्याकरण	१८४

सूर्योदयशतक २०२, २०५
सर्वोदयशतक २५२
लघुतत्त्वस्फोट २०६
तिलोयपण्णत्ति २३८
अष्टपाहुड २१८, २१९
अनगार धर्मामृत २३७
स्वयंभूस्तोत्र १५२, १६२, २२४
आत्मानुशासन ७४, १३९
रिष्टसमुच्चय १२४